भाग १

आचार्य वसुबन्धु कृत

# अभिधर्म कोश

आचार्य नरेन्द्र देव

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश
इलाहाबाद

# अभिधर्मकोश

## भाग ३

(षष्ठ कोशस्थान)

आचार्य वसुबन्धु कृत

# अभिधर्मकोश

## भाग ३

[षष्ठ कोशस्थान]

अनुवादक

आचार्य नरेन्द्र देव
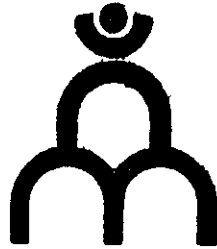
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

# प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा अनूदित और संपादित आचार्य वसुबन्धु के प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शन-व्याख्या-ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' का पहला खण्ड १९५८ में तथा दूसरा खण्ड १९७३ में प्रकाशित हुए थे। आर्थिक कठिनाइयों के कारण तीसरा और चौथा खण्ड प्रकाशित नहीं हो पाए। इसके असाधारण महत्त्व को देखते हुए खण्ड तीन और चार का प्रकाशन अतीव आवश्यक समझा जाता रहा।

'अभिधर्मकोश' के उक्त दोनों खण्डों के प्रकाशन में प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रवक्ता, संस्कृत, पालि एवं दर्शन के विद्वान् स्व० श्री महावीरप्रसाद लखेड़ा जी का विशेष योगदान रहा है। प्रस्तुत खण्ड का अधिकांश भी उन्हीं की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत खण्ड को प्रकाशित करते हुए हिन्दुस्तानी एकेडेमी स्वयं को गौरवान्वित कर रही है।

विश्वास है, विद्वत् समाज और सुधी जन प्रथम दो खण्डों के समान ही इस खण्ड का भी स्वागत करेंगे।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

जगदीश गुप्त
सचिव

# विषय-सूची

## अनुशयकोशस्थान

[४३] उन्नति मूल का प्रतिपक्ष है, क्योंकि मूल स्थिर होते हैं और उनकी अधोवृत्ति होती है।

२१ बी-डी. अपरांतक कहते हैं कि चार अव्याकृत मूल हैं—तृष्णा, दृष्टि, मान, मोह। अविद्यावशध्यायी तीन हैं[1]—तृष्णोत्तरध्यायी, दृष्ट्युत्तरध्यायी और मानोत्तरध्यायी। यह मोह या अविद्यावशध्यायी हैं[2]।

सूत्र में[3] जो चार अव्याकृत वस्तु उक्त हैं, क्या वह अव्याकृतत्ववश अव्याकृत कहलाते हैं? नहीं, सूत्र स्थापनीय प्रश्न को अव्याकृत कहता है अर्थात् वह प्रश्न अव्याकृत कहलाता है जो व्याकृत नहीं है, कथित नहीं है, क्योंकि वह स्थापनीय है। ऐसे प्रश्न के अधिष्ठान को अव्याकृत वस्तु कहते हैं।

[४४] चतुर्विध प्रश्न : १ प्रश्न जिसका एकांश व्याकरण होता है (एकांशेन व्याकरणम्)। २. प्रश्न जिसका व्याकरण विभक्त करके (विभज्य) होता है। ३. प्रश्न जिसका व्याकरण परिपृच्छा से होता है। ४. स्थापनीय प्रश्न जिसका व्याकरण नहीं होता।

---

१. [चत्वारीत्यपरान्तकाः. तृष्णादृग् मानमोहास्तेऽविद्यातो ध्यायिनस्त्रयः] शुआन्-चाङ् अपरान्तक का अनुवाद 'बहिर्देशक' करते हैं। ध्यायिन शब्द का ग्रहण हीन अर्थ में है, आर्यदेव चतुःशतिका, १७६ मेमायर्स ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, ३ सं० ८, १९१४, पृ० ४७३ कश्चिद् ध्यायी चित्तविभ्रमं अनुप्राप्तः कपालं मम शिरसि लग्नमिति ध्यान, मज्झिम, (३.१४)।

२. तृष्णोत्तरध्यायिन् वह है जो आस्वादना संप्रयुक्त ध्यान का ध्यायी है (८.६), दृष्ट्युत्तरध्यायी शाश्वतादि दृष्टि का उत्पाद करता है; मानोत्तरध्यायी मानता है कि मैं इस ध्यान का लाभी हूँ, दूसरे नहीं हैं। जो तृष्णोत्तर (तृष्णोपरिकम्) ध्यान का अभ्यास करता है, या जिस ध्यायी में तृष्णा का आधिक्य होता है (तृष्णाधिकः) वह तृष्णोत्तरध्यायिन् कहलाता है; अन्य दो नामों का भी व्याख्यान इसी प्रकार है। समापत्ति में समापन्नों की यह क्लेश-समुदाचार की अवस्था है। यह अव्याकृत धर्मों के मूल हैं अर्थात् कारण हैं। शुआन-चाङ् के अनुसार—अपरांतक इन चार को अव्याकृत मूल क्यों कहते हैं? क्योंकि मोहपुरुष ग्र्भसमापत्तियों की भावना तृष्णा, दृष्टि और मान का उल्लंघन किये बिना करते हैं।

३. संयुक्त, ३२,१,३४,१२ एकोत्तर, ४३,१३—मेरा 'निर्वाण' देखिये। (१९२४)

२२. एकांश व्याकरण यथा मरण के लिये, विभज्य व्याकरण यथा उत्पत्ति के लिये, परिपृच्छा व्याकरण यथा विशिष्ट के लिये, स्थापनीय व्याकरण यथा आत्मान्यता के लिये।

१. यदि कोई प्रश्न करे कि क्या सब सत्त्वों का मरण होता है, तो इसका एकांश व्याकरण करना चाहिये कि सब सत्त्वों का मरण होगा।

२. यदि कोई प्रश्न करे कि क्या सब सत्त्वों की उत्पत्ति होगी, तो इसका विभज्य व्याकरण करना चाहिये कि सक्लेश उत्पन्न होंगे, निःक्लेश नहीं।

३. यदि कोई प्रश्न करे कि 'क्या पुद्गल[२] विशिष्ट है या हीन' तो इसका परिपृच्छा व्याकरण करना चाहिये कि 'किसको अधिकृत कर आपका यह प्रश्न है ?' यदि वह उत्तर दे कि 'देवों को अधिकृत कर मेरा यह प्रश्न है,' तो कहना चाहिये कि 'वह हीन है', यदि उसका उत्तर है कि अपाय सत्त्वों को अधिकृत कर मेरा यह प्रश्न है, तो कहना चाहिये कि 'वह विशिष्ट है।'

४. यदि कोई प्रश्न करे कि क्या स्कन्धों से सत्त्व अन्य है या अनन्य, तो इसका स्थापनीय व्याकरण करना चाहिये, क्योंकि सत्त्व नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार यह प्रश्न भी स्थापनीय है कि 'वन्ध्या-पुत्र श्याम है या गौर ?' आप (कारिका २२ में) यह कैसे कहते हैं कि इस चौथे प्रश्न का व्याकरण होता है, क्योंकि उत्तर हाँ या न में नहीं है कि स्कन्ध सत्त्व से अन्य है या अनन्य है ?—इस प्रश्न का विसर्जन इस प्रकार करते हैं कि यह प्रश्न स्थापनीय है, अतः प्रश्न व्याकरण होता है।[३]

[४५] भदन्त राम कहते हैं कि द्वितीय प्रश्न का प्रथम के समान एकांश व्याकरण होना चाहिए; सब सत्त्व उत्पन्न नहीं होंगे,—किंतु आचार्य कहते हैं कि वैभाषिक द्वितीय विधि का वैभाषिक उदाहरण युक्त है, क्योंकि जो पूछता है कि क्या सब सत्त्व जो मरेंगे पुनरुत्पन्न होंगे[४], उसके लिये विभज्य व्याकरण है, (सब उत्पन्न नहीं होंगे। सक्लेश उत्पन्न होंगे, निःक्लेश नहीं)।

भदन्त राम पुनः कहते हैं कि तृतीय प्रश्न का भी एकांश व्याकरण होना चाहिये। मनुष्यों में दोनों होते हैं—हीनत्व और विशिष्टत्व। यह दोनों आपेक्षिक हैं, अतः दोनों का एकांश

१. [एकांशेन विभागेन पृच्छातः स्थापनीयतः व्याकृतम्] मरणोत्पत्तिविशिष्टात्मान्यता-विवत्—नन्जियो के अनुसार महाव्युत्पत्ति ८६ देखिये; दीघ, ३,२२९, अंगुत्तर १.१९७, २.४६ मिलिन्द, १४४; चाइल्डर्स पन्हो शब्द के नीचे पांच प्रकार के प्रश्न जो बहुत भिन्न हैं, अत्थ-शालिनी पृ० ५५, सुमंगलविलासिनी, एकंसिका धम्मा, अनेकंसिका, दीघ १,१९१।

२. तिब्बती भाषांतर में है, 'यह पुद्गल' नीचे ५०४५ पृष्ठ देखिये।

३. शुआन चाङ् अभिधार्मिकों के व्याख्यान के पूर्व इस परिच्छेद का पुनः ग्रहण करते हैं।

४. शुआन चाङ् के अनुसार इसका विभज्य व्याकरण होना चाहिये, एक सामान्य व्याकरण युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि प्रश्न करने वाला सामान्यतः जानता है कि सबकी उत्पत्ति नहीं होगी, तथापि इसका व्याख्यान नहीं हुआ है (न व्याख्यातम्)।

व्याकरण होना चाहिये; यथा 'विज्ञान कार्य है या कारण' इस प्रश्न का एकांश व्याकरण होता है, (उत्तर यह होना चाहिये कि यह स्वकार्य की अपेक्षा कारण है और स्वकारण की अपेक्षा कार्य है)—किंतु आचार्य कहते हैं कि जो एकांशेन प्रश्न करता है कि क्या मनुष्य विशिष्ट है या हीन, उसके लिये विभज्य व्याकरण ही युक्त है; प्रश्नकर्ता का अभिप्राय पहले निश्चित करना चाहिये।

आभिधार्मिक[1] कहते हैं कि—एकांश व्याकरण, यदि कोई प्रश्न करे कि 'क्या भगवान् तथागत सम्यक् संबुद्ध हैं? क्या जो कुछ भगवत् ने कहा है वह सुभाषित है? क्या श्रावक-संघ सुश्रुत है? क्या रूप अनित्य है?···क्या विज्ञान अनित्य है? क्या दुःख-प्रज्ञप्ति···यावत् मार्ग—प्रज्ञप्ति यथासूत्र है', तो इन प्रश्नों का उनके अर्थोपसंहित होने के कारण एकांश व्याकरण होना चाहिये[2] (अर्थोपसंहितत्वात्)।

[४६] २. विभज्य व्याकरण, यदि कोई शठ प्रश्न करे कि मैं चाहता हूँ कि भदन्त मुझे धर्मों की देशना करें, तो इस प्रश्न का इस प्रकार विभज्य व्याकरण होना चाहिये : 'वह धर्म हैं—अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, जिनकी देशना तुम मुझसे सुनना चाहते हो' यदि वह उत्तर दे कि आप मुझे अतीत धर्म की देशना दें, तो इस प्रकार इसका विभज्य व्याकरण होना चाहिये; 'अतीत धर्म अनेक हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान', यदि वह कहे कि आप मुझे रूप की देशना दें, तो उसका इस प्रकार व्याकरण होना चाहिये—'रूप तीन हैं—कुशल, अकुशल, अव्याकृत;' यदि वह कहे कि कुशल रूप बताइये, तो विभाग करके उत्तर देना चाहिये कि कुशल रूप के सात प्रकार हैं—प्राणातिपात विरति, संभिन्नप्रलाप-विरति; यदि कोई कहे कि प्राणातिपात-विरति बताइये, तो विभाग करके कहना चाहिये कि 'यह द्विविध है—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति। तुम मुझसे किसका व्याख्यान सुनना चाहते हो?'

३. परिपृच्छा-व्याकरण—यदि इसी प्रश्न को कोई शठ पूछे, तो इसका परिपृच्छा व्याकरण होना चाहिये। यदि कोई शठ पूछे कि मैं चाहता हूँ कि भदन्त, धर्म का व्याख्यान करें, तो उसका परिपृच्छा-व्याकरण होना चाहिये, 'धर्म अनेक हैं, किन धर्मों को तुम मुझसे सुनना चाहते हो?' किन्तु भेद (अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न धर्म) व्यवस्थापित नहीं करना चाहिये, परिपृच्छा करते रहना चाहिये, जब तक कि प्रश्नकर्ता चुप न हो जाय, या स्वयं व्याकरण न करे, (विभाषा. १५·१४)।

---

१. विभाषा, १५, १३—व्याख्या का निर्देश निरूपण—षट्पदाभिधर्मपाठिन्।

२. इन प्रश्नों का एकांश-व्याकरण क्यों होना चाहिये? यह प्रश्न अर्थोपसंहित है, यह कुशल धर्म संवर्तनीय हैं, ब्रह्मचर्य के अनुकूल हैं, बोधिका उत्पाद करते हैं, निर्वाण-प्रापक हैं, अतएव इन प्रश्नों का एकांश-व्याकरण होना चाहिये (विभाषा) दीघ, १'१६१ से तुलना करिये।

भदंत राम कहते हैं : 'किन्तु यदि शठ और अशठ प्रश्न न करें केवल यह अन्वेषण करें कि धर्म कहिये और दूसरी ओर उनको उत्तर न दिया जाय, यदि उनके प्रश्न का व्याकरण न हो (व्याक्रियते) और केवल परिपृच्छा हो कि कौन से धर्म मैं कहूँ तो इसे प्रश्न और व्याकरण कैसे कहेंगे ?'

[४७] आचार्य उत्तर देते हैं : जो कहता है कि 'मुझे मार्ग बताइये' क्या यह इस प्रकार पन्थ के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करता, क्या उसका यह कहना इस प्रश्न के तुल्य नहीं है कि मार्ग कौन है ? दूसरी ओर परिपृच्छा से प्रश्नकर्ता के प्रश्न का व्याकरण होता है : क्या मार्ग व्याकृत नहीं है ?

यदि ऐसा है तो क्या द्वितीय और तृतीय प्रकार का व्याकरण परिपृच्छा से है ? नहीं, व्याकरण भिन्न है, क्योंकि कदाचित् विभाग है और कदाचित् विभाग नहीं है।[1]

४. स्थापनीय प्रश्न—यदि कोई प्रश्न करे कि 'क्या लोक अंतवान् है, अनन्त है', इत्यादि तो यह प्रश्न स्थापनीय है।

आचार्य कहते हैं : सूत्रान्त में ही चारों प्रश्न व्याकरण का लक्षण ढूँढ़ना चाहिये; आयुष्मान् महासांघिकों में एक सूत्र (दीघ, ८,१६, मध्यम, २९.६) प्राप्त है : 'हे भिक्षुओ, प्रश्नों के चार व्याकरण हैं, यह चार क्या हैं—ऐसे प्रश्न हैं जिनका आंशिक व्याकरण करना चाहिये... ऐसे प्रश्न हैं जो स्थापनीय है। वह कौन हैं जिनका व्याकरण आंशिक होना चाहिये—जब कोई प्रश्न करता है कि क्या सब स्कन्ध अनित्य हैं; वह कौन प्रश्न है जिसका विभज्य व्याकरण होना चाहिये—जब कोई प्रश्न करता है कि क्या संचेतनीय कर्म करके क्या प्रतिसंवेदन होता है; वह कौन प्रश्न है जिसका परिपृच्छा-व्याकर होना चाहिये—जब कोई प्रश्न करता है कि क्या पुरुष की[2] संज्ञा आत्मन् है ? तब परिपृच्छा होनी चाहिये कि 'मित्र, आत्मन् क्या है' और यदि उसका उत्तर हो कि 'मित्र, आत्मन् औदारिक है', तो उसका यह उत्तर होना चाहिये कि संज्ञा आत्मन् से अन्य है (दीघ, १'१९५)। स्थापनीय प्रश्न क्या है ?—जब कोई प्रश्न करता है कि क्या लोक शाश्वत है, अशाश्वत है, शाश्वत-अशाश्वत है, न शाश्वत, न अशाश्वत है, क्या लोक अन्तवान् है, अनन्त है, न अन्तवान् अनन्त है, न अन्तवान्, न अनन्त है, क्या तथागत मरण के पश्चात् नहीं होते;...क्या जीव शरीर से अन्य है। हे भिक्षुओ ! यह प्रश्न स्थापनीय है।

[४८] एक पुद्गल में एक अनुशय किसी आलम्बन में अनुशयन करता है (अनुशेते); वह पुद्गल उस अनुशय से उस आलम्बन में बद्ध (संयुत) है।

१. तिब्बती भाषांतर में नहीं है।

२. शुआन-चाङ् के अनुसार : जब कोई प्रश्न करता है कि क्या पुरुष संज्ञा आत्मा से अनन्य या अन्य है तो प्रश्न करना चाहिये कि 'तुम्हारा किस आत्मा से अभिप्राय है', और यदि वह कहे कि 'मेरा औदारिक आत्मा से अभिप्राय है......।'

हमको इसकी परीक्षा करनी है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, अनुशय से किस आलम्बन में पुद्गल संयुक्त है? इस दृष्टि से अनुशय या क्लेश दो प्रकार के हैं—स्वलक्षण-क्लेश[1] अर्थात् राग, प्रतिघ, मान और सामान्य क्लेश अर्थात् दृष्टि, विचिकित्सा और अविद्या।

रागप्रतिघमानैः स्यादतीतप्रत्युपस्थितैः।
यत्रोत्पन्ना प्रहीणास्ते तस्मिन् वस्तुनि संयुतः ॥२३॥

अतीत और प्रत्युत्पन्न राग, प्रतिघ और मान से पुद्गल उस वस्तु से आबद्ध होता है जिस वस्तु में यह उत्पन्न होते हैं और प्रहीण नहीं होते[2]। जब किसी वस्तु—अतीत, वर्तमान या अनागत वस्तु में, दर्शनादि हेय वस्तु में—स्वलक्षण-क्लेश उत्पन्न होते हैं और इसलिये अतीत या वर्तमान होते हैं जब वह प्रहीण नहीं होते तो जिस पुद्गल में वह उत्पन्न होते हैं, वह स्वलक्षण-क्लेशों से इस वस्तु से संयुक्त होता है। क्योंकि स्वलक्षण क्लेश होने से वह सब पुद्गलों में अवश्य सर्वत्र उत्पन्न नहीं होते, किन्तु किसी में किसी वस्तु के प्रति उत्पन्न होते हैं।

२४. ए-बी. सर्वत्रानागतैरेभिर्मानसैः साध्विके परैः।

इन्हीं अनागत क्लेशों से पुद्गल सर्वत्र संयुक्त होता है; यदि वह मानस होते हैं।[3]

[४६] इन्हीं अनागत स्वलक्षण-क्लेशों से पुद्गल सर्वत्र त्रैयध्विक वस्तु से (और पंच-नैकायिक से यथायोग दर्शनादि प्रहातव्य से) संयुक्त होता है; यदि वह मनोविज्ञान में संगृहीत हैं; क्योंकि मनस् का गोचर त्रैयध्विक है।

२४ बी. इन्हीं अनागत-क्लेशों से पुद्गल स्व अध्व के वस्तु से संयुक्त होता है; यदि वह चैतसिक नहीं है।[4]

अनागत राग और प्रतिघ से, जो पूर्व से भिन्न हैं (पर)—अर्थात् जो अचैत हैं, अर्थात् पंचविज्ञान काय से संप्रयुक्त हैं—पुद्गल अनागत वस्तु से ही संयुक्त होता है। वास्तव में पंचविज्ञानकाय का विषय वर्तमान ही होता है।

---

१. स्वलक्षण-क्लेशः वह क्लेश जो एक नियत वस्तु को आलम्बन बनाता है। राग और मान सुख-वेदनीय वस्तु को आलंबन बनाते हैं। प्रतिघ का आलम्बन दुःख-वेदनीय वस्तु है।

२. रागप्रतिघमानैस्तैरतीत प्रत्युपस्थितैः।
यत्रोत्पन्नाप्रहीणास्ते (तत्र वस्तुनि संयुतः।) व्या०, ४६७, १७. ४६७, २४।

३. सर्वत्रानागतैरेभिर्मानसैः। व्याख्या. ४६७, २८।

४. साध्विके परैः। व्याख्या ४६७, ३०।

यह नियम केवल उत्पत्तिधर्मिन्, अनागत, राग और प्रतिध को ही लागू होता है। अनुत्पत्ति-धर्मी के लिये अन्यथा है।

२४ सी. इन्हीं अनुत्पत्ति-धर्मियों से पुद्गल सर्वत्र संयुक्त होता है।[१]

सर्वत्र अर्थात् सर्व त्रैयध्विक वस्तु।

२४ सी-डी. शेष सबसे वह सर्वत्र संयुक्त होता है।[२]

शेष क्लेशों से, अर्थात् सामान्य क्लेशों से (दृष्टि, विचिकित्सा और अविद्या से), जिनका आलम्बन पंचउपादान स्कन्ध हैं और जो सबमें सर्वत्र उत्पन्न होते हैं—पुद्गल सब त्रैयध्विक और पंचनैकायिक वस्तुओं से यथायोग संयुक्त होता है, चाहे जिस अध्व के उक्त क्लेश हों।

सौत्रांतिक इस वाद की आलोचना करता है[३]—क्या क्लेश और अतीत, अनागत वस्तु द्रव्य-सत् हैं? यदि वह द्रव्य-सत् हैं तो संस्कृत का सदा अवस्थान होगा और वह नित्य होंगे। यदि वह द्रव्यसत् नहीं हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि पुद्गल इन क्लेशों से इन वस्तुओं में संयुक्त है या इनसे विसंयुक्त है?

[५०] वैभाषिकों का मत है कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्य-सत् हैं। संस्कृत शाश्वत

---

१. (अजैः सर्वत्र)

२. शेषैस्तु सर्वैः सर्वत्र संयुतः। व्याख्या ४६८, १६

३. २५-२७ कारिका में सर्वास्तिवादी-वैभाषिक के अनुसार सर्वास्तिवाद का व्याख्यान और उसकी आलोचना है। भूमिका में हम इसका विचार करेंगे। इसका अनुवाद डा०शेरबास्की ने सेन्ट्रल कानसेप्सन आफ बुद्धिज्म १६२३, एपेंडिस पृ० ७६-६१ में किया है।

लेकल फांतेस देक्सत्रीम-ओरिएं के वार्षिक अंक में मैंने देवशर्मा के विज्ञानकाय के उस अध्याय का अनुवाद दिया है जिसमें अतीत और अनागत के अस्तित्व का विचार किया है। कोश. १·७ सी-डी, ४·३५ ए-बी, ५·६२ देखिये; अनुवाद १. पृ० २५ कथावत्थु १-७-८।

अनुवाद के पृ० ३७५, ३६२ पर श्वेजन आंङ् (Shwe Zan Aung) की टिप्पणी; ६; ६; ७; मिलिन्द, ५०-५४ : विसुद्धिमग्ग, ६८६ (क्या प्रत्युत्पन्न अर्थात् अनागत क्लेशों का प्रहाण होता है, तुलना कीजिए कथावत्थु, १६·१)।

आर्यदेव, चतुःशतिका, २५६-८ (मेमायर्स एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, ३, ११, ८, १६१४, पृ० ४६१); बोधिचर्यावतार पंजिका, ५७६-५८० (त्रैलोक्यवादिन्) मध्यमक, १७, १४।

२२, ११, २५·५; वासिलीव (प्रासंगिकों पर), ३६३ (=३३१).

ए० बी० कीथ का कथन, बुधिस्ट फिलासफी, १६३-५.

और भी देखिए नीचे पृ० ५२, ५३ की पुस्तक सूची.

नहीं है, क्योंकि उनका संस्कृत लक्षणों से योग है। (२'४५ सी-डी)[1] वैभाषिक मत को स्पष्ट करने के लिये उनके नय का संक्षिप्त २५ए-बी. निर्देश आवश्यक है।

सर्वबालास्ति उक्तत्वाद् द्वयात् सद्विषयात् फलात्।
तदस्तिवादा सर्वास्तिवादा इष्टाश्चतुर्विधाः ॥२५॥

धर्म त्रैयध्विक हैं, क्योंकि भगवत् ने ऐसा कहा है, क्योंकि मनोविज्ञान दो से प्रवृत्त होता है, क्योंकि विषय है, क्योंकि अतीत का फल है।[2]

१. भगवत् की कण्ठोक्ति (कंठतः) है कि अतीत और अनागत हैं।

"हे भिक्षुओ! यदि अतीत रूप न होता तो श्रुतवान् आर्यश्रावक अतीत रूप में अनपेक्ष न होता, क्योंकि अतीत रूप है। इसलिये श्रुतवान् आर्यश्रावक अतीत रूप में अनपेक्ष होता है। यदि अनागत रूप न होता तो श्रुतवान् आर्यश्रावक अनागत रूप का अभिनंदन न करता। क्योंकि अनागत रूप है, इसलिये श्रुतवान् आर्यश्रावक अनागत रूप का। अभिनंदन नहीं करता।"[3]

(५१) २. भगवत् इसी वाद की देशना अर्थतः देते हैं। भगवद्वचन है "मनोविज्ञान दो प्रत्ययवश होता है।—यह दो क्या हैं—चक्षुरिन्द्रिय और रूप......मन और धर्म[4]। यदि अतीत और अनागत धर्म न होते तो मनोविज्ञान, जिसका आलंबन अतीत और अनागत है, दो प्रत्ययवश उत्पन्न न होता।

३. यह आगम के प्रमाण हैं, अब युक्ति देते हैं।[5] आलंबन के होने पर विज्ञान

---

१. संस्कृतलक्षणयोगान्न शाश्वतत्वप्रसङ्गः···

२. ···(उक्तः) द्वयात् (सद्विषयात्) फलात्

प्रथम शब्दों का संस्कृत में अनुवाद करना और भी कठिन है।

कदाचित् सर्वेष्वध्वसु सन्ति।—चीनी भाषांतर तीन अध्व (अक्षरार्थ लोक) का अस्तित्व है। किन्तु तिब्बती के अनुसार वैभाषिकों का यह मत नहीं है कि जिनका संस्कृत लक्षण हैं, शाश्वत हैं। किन्तु इन वादियों का यह मत है कि यह सब अध्वों में होते हैं।

३. संयुक्तागम ३.१४ रूपमनित्यमतीतमनागतम्। कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य, एवंदर्शी श्रुतवानार्यश्रावकोऽतीते रूपेऽनपेक्षो भवति, अनागतं रूपं नाभिनन्दति। प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति। अतीतं चेद् भिक्षवो रूपं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावको......

इसी सूत्र के उद्धरण से तुलना कीजिये, मध्यमक वृत्ति, २२.११ मज्झिम, ३.१८८।

४. संयुत्त २.७२, कोश, ३.३२,

५ = (तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः)

की उत्पत्ति होती है, यदि आलंबन नहीं है तो विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यदि अतीत और अनागत वस्तु न होते तो आलंबन के बिना विज्ञान होता। अतः आलंबन के अभाव में विज्ञान न होगा।

४. यदि अतीत नहीं हैं, तो शुभ और अशुभ कर्म अनागत में फल कैसे देता है? वास्तव में विपत्ति काल में विपाक-हेतु (२. ५४. सी. डी.) अतीत होता है।

अतएव आगम और युक्ति से वैभाषिक अतीत और अनागत के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

जो अपने को सर्वास्तिवादी घोषित करते हैं उनका मत है कि अतीत और अनागत द्रव्य-सत् है।

२५ सी-डी जो त्रैयध्विक धर्मों के अस्तित्व को मानता है, वह सर्वास्तिवादी माना जाता है।

[५२] जिसका यह वाद है कि अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, सब का अस्तित्व है, वह सर्वास्तिवादी माना जाता है। जो प्रत्युत्पन्न और अतीत के एक प्रदेश के अर्थात् उस कर्म के, जिसने विपाक दान नहीं किया है, अस्तित्व की प्रतिज्ञा करता है और अनागत तथा अतीत के उस प्रदेश के अस्तित्व को नहीं मानता, जो दत्तविपाक कर्मात्मक है, वह विभज्यवादिन् माना जाता है। वह सर्वास्तिवाद निकाय के अंतर्गत नहीं है[1]।

इस निकाय में कितने नय हैं? सर्वास्तिवाद के व्याख्यान के कितने प्रकार हैं और कौन शोभन हैं?

---

१, परमार्थतः यदि कोई कहता है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध (=निर्वाण) और अप्रतिसंख्यानिरोध सब का अस्तित्व है तो उसे सर्वास्तिवादी कहते हैं। दूसरों का कहना है कि "प्रत्युत्पन्न धर्मों का और अतीत कर्मों का है, यदि उन्होंने अभी फल प्रदान नहीं किया है; जब वह विपाक दान कर चुके होते हैं तब उनका और अनागत धर्मों का, जो (अतीत या वर्तमान के) फल नहीं है, अस्तित्व नहीं होता।" जो वादी अध्वत्रय के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु यह विभाग करते हैं उन्हें सर्वास्तिवादी नहीं कहते, किन्तु विभज्यवादी कहते हैं।

वसुमित्र काश्यपी यों कहते हैं (वास्सीलीव, २८३, आगे १७६ बी) 'जो कर्म विपच्यमान हो चुका है उसका अस्तित्व नहीं है। जो कर्म विपाक नहीं दे चुका है उसका अस्तित्व है, संस्कार अतीत हेतुओं से उत्पन्न होते हैं, न कि अनागत हेतुओं से'—यह कस्सपिकों का वाद है, कथावत्थु १.८।

विभज्यवादियों पर ऊपर पृ० २३-२४ देखिये।

ते भावलक्षणावस्थान्यथान्यथिकसंज्ञिताः ।
तृतीयः शोभनोऽध्वानः कारित्रेण व्यवस्थिताः ॥

२५ डी-२६ सर्वास्तिवादी चतुर्विध हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक, अन्यथान्यथिक । तृतीय शोभन है, तीन अध्व कारित्र से व्यवस्थित होते हैं ।[1]

[५३] १. भदन्त धर्मत्रात का पक्ष भावान्यथात्व है, अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा है कि तीन अध्व, अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत का अन्यथात्व भाव के अन्यथावश होता है ।

जब एक धर्म एक अध्व से दूसरे अध्व में गमन करता है, तब उसके द्रव्य का अन्यथात्व नहीं होता, किंतु भाव का अन्यथात्व होता है । यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं जो आकृति के अन्यथात्व को प्रदर्शित करता है : सुवर्ण के भाण्ड को तोड़कर उसका रूपांतर करते हैं : संस्थान (१.१० ए.) का अन्यथात्व होता है, वर्ण का नहीं; गुण के अन्यथात्व का दृष्टांत : क्षीर से दधि होता है; रस ओज और पाकक्रिया प्रहीण होते हैं, किन्तु वर्ण नहीं प्रहीण होता । इसी प्रकार जब अनागत धर्म अनागत से वर्तमान अध्व में प्रतिपद्यमान होता है, तो वह अनागत भाव का परित्याग करता है और वर्तमान भाव का प्रतिलाभ करता है, किन्तु द्रव्य का अनन्यत्व रहता है; जब यह वर्तमान से अतीत में प्रतिपद्यमान होता है, तो वर्तमान भाव का और अतीत भाव का प्रतिलाभ होता है किन्तु द्रव्य अनन्य रहता है ।

२. भदंत घोषक का पक्ष लक्षणान्यथात्व है ।

धर्म अध्वों में प्रवर्तन करता है; जब यह अतीत होता है तब यह अतीत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु यह अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से अवियुक्त होता है, यदि अनागत होता है, तो यह अनागत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु अतीत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से अवियुक्त होता है[2], यदि यह प्रत्युत्पन्न होता है, तो यह प्रत्युत्पन्न लक्षण से युक्त होता है, किन्तु यह अतीत और अनागत लक्षणों से अभियुक्त होता है,[2] दृष्टांत—एक स्त्री में रक्त पुरुष शेष में अविरक्त ।

---

१. व्याख्या में यह आख्याएँ हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक, अन्यथान्यथिक, ( चतुर्विधाः एते भावलक्षणावस्थान्यथिकाह्वयाः ) तृतीयः शोभनोऽध्वानः कारित्रेण व्यवस्थिताः । भावान्यथिक = जिसका मत कि भाववश अध्वों का अन्यथात्व होता है, किन्तु अन्यथान्यथिक की विवृति इस प्रकार है : पूर्वापरं अपेक्ष्यान्योन्य उच्यते, 'पूर्व और अपर की अपेक्षावश अध्व अन्योन्य कहलाते हैं । चीनी चतुर्थवादी के नाम का यह अनुवाद देते हैं: "जिनकी प्रतिज्ञा है कि अध्व का अन्यथात्व अपेक्षावश है ।"

राकहिल, लाइफ आफ दी बुद्धा पृ० १९६ (निकायों पर भव्य के ग्रन्थ का अनुवाद) देखिये वाटर्स, युआन च्वांग, १.२७४ योगसूत्र के ग्रन्थकार ३.१३, ४.१२ आदि सर्वास्तिवादी साहित्य का आश्रय लेते हैं ।

२. जब एक लक्षण की लब्धवृत्ति होती है तब धर्म इस लक्षण से युक्त होता है,

३. भदन्त वसुमित्र का पक्ष अवस्थान्यथात्व है। अवस्था के अन्यथात्व से अध्वों का अन्यथात्व होता है, धर्म अध्वों में प्रवर्तमान होकर, अवस्था को प्राप्त होकर (प्राप्य), अवस्थांतर से नहीं, द्रव्यान्तर से नहीं, अन्य निर्दिष्ट होता है, यथा—एक गुलिका (वर्तिका) एकांक में निक्षिप्त एक कहलाती है, दशांक में निक्षिप्त दश, शतांक में निक्षिप्त शत, सहस्रांक में सहस्र कहलाती हैं।

[५४] ४. भदंत बुद्धदेव का पक्ष अन्योन्यथात्व है। अध्व अपेक्षावश व्यवस्थित होते हैं। धर्म अध्व में प्रवर्तमान हो अपेक्षावश संज्ञान्तर ग्रहण करता है, अर्थात् यह पूर्व और ऊपर की अपेक्षावश अतीत, अनागत, वर्तमान कहलाता है। यथा—एक ही स्त्री दुहिता भी है, माता भी है।[1]

इस प्रकार चारों वादी सर्वास्तिवाद का निरूपण करते हैं।[2]

---

किन्तु यह अन्य लक्षणों से अवियुक्त नहीं होता, क्योंकि उस विकल्प में एक अनागत धर्म पश्चात् वर्तमान और अतीत अध्व का वही धर्म नहीं होगा।

१. शुआन चाङ् के दो टीकाकारों का मतभेद है। फा-पाओ (Fa-paw) के अनुसार अनागत की व्यवस्था अतीत और वर्तमान की अपेक्षा कर (अपेक्ष्य) होती है। अतीत वर्तमान और अनागत की अपेक्षा कर, वर्तमान अतीत और अनागत की अपेक्षा कर व्यवस्थित होता है। यह संघभद्र का मत है। दूसरे टीकाकार के अनुसार पूर्व की अपेक्षा कर अनागत, अपर की अपेक्षा कर अतीत और दोनों की अपेक्षा कर वर्तमान व्यवस्थित होता है? यह विभाषा, ७७,२ का नय है।

२. विभाषा, ७७,१—"सर्वास्तिवादियों के चार आचार्य हैं जो अध्वत्रय के अन्यथात्व को व्यवस्थित करते हैं···१

वसुमित्र कहते हैं कि उनका अन्यथात्व अवस्था भेद से होता है···२.

बुद्धदेव कहते हैं कि उनका अन्यथात्व अपेक्षावश है···३.

भावान्यथिक कहते है कि जब धर्म अध्व बदलते हैं तब उनका अन्यथात्व भावत: होता है, द्रव्यत: नहीं······; अनागत से वर्तमान में प्रतिपद्यमान होकर धर्म यद्यपि अनागत भाव का प्रतिलाभ करता है तथापि वह स्वद्रव्य का न त्याग करता है न प्रतिलाभ······; ४. लक्षणान्यथिक,"

एक व्यावहारिक निकाय का कहना है कि तीन अध्व शब्दमात्र हैं, उनका द्रव्य नहीं है।

लोकोत्तरवादी धर्मवश अध्व की व्यवस्था करते हैं: अत: जो लौकिक है उसका आपेक्षिक अस्तित्व है, जो लोकोत्तर है वह द्रव्यसत् है, सौत्रान्तिक निकाय, यहाँ सांघिक निकाय के मत से अतीत और अनागत नहीं है, वर्तमान है।

प्रथम जो परिणाम का वाद है उसे सांख्य पक्ष में निक्षिप्त करना चाहिये, जो सांख्य पक्ष में प्रतिषेध है वही इसका प्रतिषेध है।[१]

[५५] द्वितीय पक्ष में अध्वसंकर होता है क्योंकि तीन लक्षणों का योग होता है, पुनः वहाँ साम्य क्या है क्योंकि इस पुरुष में एक स्त्री के प्रति राग-समुदाचार (राग-पर्यवसान) होता है और शेष स्त्रियों के लिये केवल राग-प्राप्ति (३-३६) होती है।

चतुर्थ पक्ष में तीन अध्व एक ही अध्व में प्राप्त होते हैं। एक ही अतीत अध्व में यथा-पूर्व क्षण अतीत हैं, पश्चिम अनागत, मध्यम प्रतिपन्न है।

अतः इन सब में तृतीय मत वसुमित्र का शोभन है जिसके अनुसार कारित्रवश अध्व और अवस्था व्यवस्थापित होते हैं। जब धर्म अपने कारित्र को नहीं करता तब वह अनागत है, जब वह अपना कारित्र करता है वह प्रत्युत्पन्न है, जब कारित्र उपरत हो जाता है तब वह अतीत है।[२]

सौत्रान्तिक की आलोचना—यदि अतीत, यदि अनागत द्रव्यसत् हैं तो वह प्रत्युत्पन्न है। उनको अतीत और अनागत क्यों विशेषित करते हैं?

उत्तर—हमने कारण बताया है, वह अप्राप्त कारित्र, प्राप्तानुपरत कारित्र तथा उपरत कारित्र है जो धर्म का अध्व विनिश्चित करता है।[३]

बहुत अच्छा, किन्तु तत्सभाग चक्षु का क्या कारित्र है? चक्षु का कारित्र दर्शन है और तत्सभाग चक्षु नहीं देखता (१-४२), क्या आप कहेंगे कि उनका कारित्र फलदान

---

१. विभाषा, ७७'१ में भावान्यथात्ववाद का प्रतिषेध है : "एक धर्म के लक्षण में अन्य उसका भाव क्या हो सकता है?" किंतु एक टीका में है कि 'धर्म के द्रव्य का परिणाम तीन अध्व में नहीं होता, केवल कारित्र अकारित्र आदि में भेद होता है : यही धर्म का भाव है, और यह परिणाम सांख्यों के परिणाम के सदृश नहीं है, जिनका कहना है कि धर्म शाश्वत द्रव्य हैं और इसका विपरिणाम २३ तत्व हैं किंतु संस्कृत धर्म शाश्वत द्रव्य नहीं है, इस परिणाम कारित्र अकारित्रादिवश विपरिणाम होता है, घोषक और बुद्धदेव के अवस्थापितवाद भी निर्दोष हैं, उनके और वसुमित्र के वाद में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। केवल वसुमित्र का निरूपण सुदृढ़ और सरल है, शास्त्रकार (आचार्य वसुबन्धु) भी विभाषा से सहमत हैं और इस वाद को सुष्ठु मानते हैं...।

२. उपरतकारित्रम्, अतीतम्, अप्राप्तकारित्रम्, अनागतम्, प्राप्तानुपरतकारित्रम्, वर्तमानम्।

३. विभाषा, ७६,११ : अननुभूतवेदना अनागत है; जिसका अनुभव हो रहा है वह प्रत्युत्पन्न है; अनुभूत अतीत है...।

परिग्रह (२.५९) है ? किन्तु उस अवस्था में यदि फलदान कारित्र है तो उस अवस्था में सभागहेतु आदि (२.५९ सी) का भी फलदान से कारित्र प्रसंग होता है। इसलिये अतीत का वर्तमान प्रसंग होता है, अथवा यदि कारित्र की पूर्ति के लिये फल-परिग्रह और फलदान उभय चाहिये तो यह अतीत हेतु कम से कम अर्द्ध-कारित्र (अर्द्ध-वर्तमान) होंगे। अतः अध्व-संकर होता है। हम इस परीक्षा को जारी रखते हैं।

[५६] २७ ए. किं विघ्नकृत् कथं नान्यद् अध्वयोगस्तथा मतः।

धर्म के कारित्र में क्या विघ्न है ?[१]

धर्म नित्य होते हुए अपना कारित्र सदा क्यों नहीं करता ? क्या विघ्न होता है जो कभी यह अपना कारित्र करता है और कभी नहीं करता ?

आपको यह कल्पना भी युक्त नहीं है कि उसके कारित्र का अभाव प्रत्ययों के असामग्र्य से होता है क्योंकि आपके लिये इन प्रत्ययों का भी नित्य अस्तित्व है।

२७ ए. कारित्र अतीतादि कैसे है ?[२]

कारित्र स्वयं अतीतादि कैसे कहलाता है ? कारित्र का भी दूसरा कारित्र होता है ? इससे अनवस्था दोष होगा। किंतु यदि कारित्र का स्वरूप सत्तापेक्षया अतीतादित्व है तो भावों का भी अतीतादित्व होगा। फिर इस कल्पना से क्या लाभ कि अध्व अतीतादि कारित्र पर आश्रित है ?

क्या आप कहेंगे कि कारित्र न अतीत है न अनागत, न प्रत्युत्पन्न; किन्तु यह है। उस अवस्था में असंस्कृत होने से यह नित्य है, अतः यह न कहिये कि जब धर्म कारित्र नहीं करता तब यह अनागत है और जब इसका कारित्र उपरत हो जाता है तब यह अतीत है। सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि यदि कारित्र धर्म से अन्य होता तो यह दोष होता।[३]

[५७] २७ बी. किन्तु यदि यह धर्म से अन्य नहीं है तो अध्व युक्त नहीं है।[४]

यदि कारित्र धर्म का स्वभाव ही है तो धर्म के नित्य होने से कारित्र भी नित्य होगा। क्यों और कैसे कभी कहते हैं कि यह अतीत है, कभी कहते हैं कि यह अनागत है ? अध्वभेद युक्त नहीं है।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है; किसमें इसकी अयुक्तता है ? वास्तव में अनुत्पन्न संस्कृत-

---

१. किं विघ्नम्—अर्थः किं विघ्नं(कारित्रम्) अथवा 'किं विघ्नं' पाठ है = को निबंधः।

२. =(तदपि कथम्)

३. विभाषा, ७६,१४; क्या कारित्र धर्म से अनन्य है ? क्या यह अन्य है ?
यह कहना संभव नहीं है कि यह अनन्य है या अन्य.........।

४. =नान्यद् (अध्वा न युज्यते)।

धर्म अनागत कहलाता है; जो उत्पद्यमान हो निरुद्ध नहीं हुआ है वह प्रत्युत्पन्न कहलाता है; जो निरुद्ध होता है वह अतीत कहलाता है।

सौत्रान्तिक का उत्तर : प्रत्युत्पन्न का जो स्वभाव है यदि उसी स्वभाव के साथ (तेनैवात्मना) अतीत और अनागत धर्म का सद्भाव होता है,

२७ बी-सी········अध्वायोगस्तथा मतः। अजातनष्टता केन······।

तो वैसे ही होते हुए कैसे यह अनुत्पन्न या नष्ट होता है?[1]

जब इस धर्म का स्वभाव वैसा ही रहता है तो यह धर्म अनुत्पन्न या नष्ट कैसे होगा? पूर्व इसके क्या न था जिसके अभाव में इसे अनुत्पन्न कहेंगे?

पश्चात् उसके क्या नहीं है जिसके अभाव में इसे निरुद्ध कहेंगे? अतः यदि 'अभूत्वा भावः' इष्ट नहीं है, यदि 'भूत्वा अभावः' भी इष्ट नहीं है तो अध्वत्रय इष्ट नहीं होता।[2]

सर्वास्तिवादी की युक्तियों की परीक्षा होनी चाहिये।

१. यह युक्ति कि (जात्यादि २.४५ सी) संस्कृत-लक्षण के योग से संस्कृतों का शाश्वतत्व प्रसंग नहीं होता यद्यपि उनका अतीत और अनागत दोनों में सद्भाव है वाङ्मात्र है क्योंकि धर्म का सर्वकालत्व होने से धर्म के उत्पाद और विनाश का योग नहीं है: 'धर्म नित्य है और धर्म नित्य नहीं है' यह वचन पूर्वापर विरुध्य है (अपूर्वैषा वाचोयुक्तिः) व्या० ४७२,२२।

[५८] यही निर्देश इस श्लोक में है: 'स्वभाव सर्वदा होता है। भाव का नित्यत्व इष्ट नहीं है और भाव स्वभाव से अन्य भी नहीं है। यह स्पष्ट ही ईश्वरचेष्टित है।'[3]

२. इस युक्ति के सम्बन्ध में कि भगवत् ने अतीत और अनागत के अस्तित्व का उपदेश दिया है क्योंकि भगवद्वचन है कि 'अतीत कर्म है, अनागत विपाक है'[4], हमारा कहना है

१. =(तथा सन् किमजो नष्टः)।

२. 'अभूत्वा भाव.' इस लक्षण पर मध्यमक वृत्ति पृ० २६३, मज्झिम, ३.२५ शिक्षा-समुच्चय २४८, मिलिन्द ५२. आदि में उद्धृत वाक्य देखिये।

३. व्या० ४७२,२५, स्वभावः सर्वदा चास्ति भावो नित्यश्च नेष्यते,
न च स्वभावाद् भावोऽन्यो व्यक्तमीश्वरचेष्टितम्

बोधिचर्यावतार, पृ० ५८१ में प्रज्ञाकरमति इसको उद्धृत करते हैं, यह कोश का उल्लेख किये बिना उसका (पृ० ५७६-५८२) उपयोग करते हैं।

व्या० ४७२,२६. अर्थात् रूपादिका स्वभाव (स्वलक्षण) सब काल में विद्यमान हैं किन्तु रूपादि भाव की नित्यता इष्ट नहीं है, अत: क्या यह स्वभाव से अन्य है? नहीं? यह स्वभाव से अन्य नहीं है। इसमें कोई युक्ति नहीं है—(नात्र युक्तिरस्ति) यह व्यक्त मात्र है; यह ईश्वर-चेष्टित है।

४, संयुक्त १३,२१।

कि हम भी मानते हैं कि अतीत है, अनागत है (अस्तीति), जो भूतपूर्व है (यद्भूतपूर्वम्) वह अतीत है; जो हेतु होने पर होगा (यद् भविष्यति), वह अनागत है, इस अर्थ में हम कहते हैं कि अतीत है, अनागत है, किन्तु प्रत्युत्पन्न के समान वह द्रव्यतः नहीं है।

सर्वास्तिवादी विरोध करता है—कौन कहता है कि प्रत्युत्पन्न सदृश उनका सद्भाव है?

यदि उनका सद्भाव प्रत्युत्पन्न के सदृश नहीं है तो उनका सद्भाव कैसे है?

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है—वह अतीत और अनागत के स्वभाव के साथ होते हैं।

किन्तु यदि उनका अस्तित्व है तो उनका स्वभाव अतीत और अनागत का कैसे बताते हैं?—वास्तव में सर्वास्तिवादिन् द्वारा उद्धृत वचन में भगवत् का अभिप्राय हेतुफलापवाद दृष्टि का प्रतिषेध करता है (४.७९,५.७), 'अतीत था' के अर्थ में वह 'अतीत है' कहते हैं; 'अनागत होगा' के अर्थ में वह 'अनागत है' कहते हैं। अस्ति शब्द निपात है[1] यथा लोक में कहते हैं कि 'दीप का प्राग् अभाव है' यह प्रदीपविरुद्ध है।

[५९] किन्तु यह प्रदीप मुझसे निरोधित नहीं है, इस[2] अर्थ में, सूत्र में उक्त है 'अतीत है', 'अनागत है'। अन्यथा यदि उसी लक्षण के साथ विद्यमान हो तो अतीत अनागत की सिद्धि न हो।

सर्वास्तिवादी का उत्तर—हम देखते हैं कि भगवत् लगुडाशिखीयक[3] परिव्राजकों को उद्दिष्ट कर ऐसा कहते हैं, "अतीत कर्म निरुद्ध, विनष्ट, अस्तंगत कर्म है"; प्रस्तावित निर्देश के अनुसार इसका अर्थ होगा कि 'यह कर्म था' किन्तु क्या परिव्राजकों को उस अतीत-कर्म का भूतपूर्वत्व इष्ट नहीं है?

सौत्रांतिक का उत्तर—यदि भगवत् कहते हैं कि अतीत कर्म है तो उसकी अभिसंधि फलदान सामर्थ्य से है जिसे भूतपूर्व कर्म ने कारक की संतति में (व्या० ४७३,२८) आहित किया है। अन्यथा यदि अतीत कर्म स्वभाव से विद्यमान है (स्वेन भावेन विद्यमानम्) तो विद्यमान

१. शुआनचाङ् के अनुसार अस्ति-शब्द का निपात 'जो है' और 'जो नहीं है' दोनों के लिये है। बोधिचर्यावतार, ५८१,१७ अस्तिशब्दस्य निपातत्वात् कालत्रयवृत्तित्वम् २.५५ डी, पृ० २३२ देखिये।

२. अस्ति निरुद्धः स एव दीपो न तु मया निरोधितः।

३. अथवा एक दूसरे पाठ के अनुसार—"परिव्राजकों को अधिकृत कर"; यहाँ उन परिव्राजकों से अभिप्राय है जिन्होंने मौद्गल्यायन को मरवाया और जिनका वाद था कि अतीत कर्म का अस्तित्व नहीं है? यत्कर्माभ्यतीतं तन्नास्ति। जापानी संपादक की विवृति के अनुसार यह सूत्र मध्यम, ४, १० में है; व्याख्या के अनुसार यह संयुक्तकागम में है।

न जातक, ५२२ में, न धम्मपद (१०.७) की अर्थकथा में जिसमें मृत्यु का वृत्तांत दिया है परिव्राजकों का नामोल्लेख है।

अतीत की सिद्धि कैसे होगी ? पुनः आगम की उक्ति स्पष्ट है। भगवत् ने परमार्थशून्यता सूत्र में कहा है कि "हे भिक्षुओ ! चक्षु उत्पद्यमान होकर कहीं से आता नहीं है, निरुध्यमान होकर कहीं सन्निहित नहीं होता, इस प्रकार, हे भिक्षुओ ! चक्षु का अभूत्वा भाव होता है और भूत्वा अभाव होता है।"[१] यदि अनागत चक्षु होता तो भगवत् नहीं कहते कि चक्षु का अभूत्वा भाव है।

[६०] (व्या० ४७४,२) सर्वास्तिवादी कदाचित् कहेगा—'अभूत्वा भावः' का अर्थ है 'वर्तमान अध्व में न होकर होता है' (वर्तमानेऽध्वनि अभूत्वा) अर्थात् 'वर्तमान भाव में न होकर होता है' (वर्तमानभावेन अभूत्वा), यह अयुक्त है क्योंकि अध्व चक्षुसंज्ञक भाव से अर्थान्तर नहीं है। क्या इसका यह अर्थ आप करेंगे—"स्वलक्षणतः न होकर ?"[२] इससे यह सिद्ध होता है कि अनागत चक्षु नहीं है।

३—"अतीत और अनागत हैं क्योंकि विज्ञान की उत्पत्ति दो वस्तुओं के कारण होती है"—मनोविज्ञान की उत्पत्ति मन इन्द्रिय तथा अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न धर्मों के कारण होती है। इस युक्ति के सम्बन्ध में क्या यह समझना चाहिये कि यह धर्म मन इन्द्रिय की तरह मनोविज्ञान के जनक प्रत्यय हैं ? अथवा यह आलम्बन मात्र हैं ? (२'६२ सी) यह व्यक्त है कि अनागत धर्म जो सहस्रों में होंगे या जो कभी न होंगे—प्रत्युत्पन्न मनोविज्ञान के जनक प्रत्यय नहीं हैं, यह व्यक्त है कि निर्वाण जो सर्वोत्पत्ति के विरुद्ध हैं, जनक-प्रत्यय नहीं हो सकता। अब यह शेष रह जाता है कि धर्म विज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय हों : हमको यह इष्ट है कि अतीत और अनागत धर्म आलम्बन प्रत्यय हैं।

सर्वास्तिवादिन् का प्रश्न है कि "यदि अतीत और अनागत धर्म का अस्तित्व नहीं है तो वह विज्ञान के आलम्बन कैसे हैं ?"

उनका अस्तित्व उसी प्रकार है जिस प्रकार आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं।[३] और किस प्रकार वह आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं ? वह अतीत और अनागत के चिह्न के साथ

---

१. बोधिचर्यावतार ६'१४२ (पृ० ५८१) में यह सूत्र (संयुक्त १३, २२) उद्धृत है—भिक्षव उत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं च न क्वचिद् संनिचयं गच्छति इति चक्षुरभूत्वा भवति भूत्वा च प्रतिविगच्छति ६,७३ पृ० ४७४ की टीका में परमार्थ-शून्यता सूत्र का एक दूसरा अंश उद्धृत है—इति हि भिक्षवोऽस्ति कर्म, अस्ति फलम्, कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्यांश्च स्कन्धानुपादत्ते—यह उद्धरण मध्यमकावतार (पृ० २६२, तिब्बती अनुवाद) और सूत्रालंकार १८.१०१ (मूल पृ० १५८, अनुवाद पृ० २६४) में है और कोश के परिशिष्ट में वसुबन्धु ने इसका उपयोग किया है (शुआनचाङ् का भाषांतर २९.१६ ए, ३०.२ ए)।

२. स्वात्मनि चक्षुषि चक्षुरभूत्वा भवन्ति, ४७४, ६।

३. यथालम्ब्यन्ते तथा गृह्यन्ते।

भूतपूर्व भविष्यत् की तरह आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं।[1] वास्तव में कोई अतीत रूप या वेदना का स्मरण कर यह नहीं देखता कि 'यह है' किन्तु वह स्मरण करता है कि 'यह था', जो पुरुष अनागत का दर्शन करता है वह सत् अनागत को नहीं देखता, किन्तु—

[६१] एक दूसरी वस्तु अनागत को देखता है। स्मृति (जो मनोविज्ञान विशेष है) यथा इष्ट रूप का ग्रहण करती है, यथानुभूत वेदना का ग्रहण करती है, अर्थात् वर्तमान रूप और वेदना के समान ग्रहण करती है। यदि धर्म जिसका पुद्गल को स्मरण है ऐसा है कि उसका ग्रहण पुद्गल स्मृति से करता है तो यह प्रत्यक्ष ही वर्तमान है। यदि वह ऐसा नहीं है, यदि इसका ग्रहण स्मृति से नहीं है तो असत् भी स्मृति-विज्ञान का अवश्य आलम्बन होता है; क्या आप यह कहेंगे कि अतीत और अनागत रूप का अस्तित्व बिना वर्तमान हुए है क्योंकि अतीत और अनागत रूप विप्रकीर्ण परमाणु से अन्य वस्तु नहीं हैं? किन्तु हम कहेंगे कि (१) जब विज्ञान-स्मृति या प्राग्दर्शन से अतीत और अनागत रूप को आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है तब यह विप्रकीर्णावस्था में उसको आलम्बनवत् ग्रहण नहीं करता किन्तु इसके विपर्यय संचितावस्था में करता है; (२) यदि अतीत और अनागत रूप वर्तमान रूप ही है किन्तु परमाणुशः विभक्त है तो परमाणु नित्य होंगे। न कोई है उत्पाद और न कोई विरोध; परमाणु-संचय और विभागमात्र है। ऐसे वाद के ग्रहण से आजीविकवाद का परिग्रह होता है और सुगत का यह सूत्र अपास्त होता है—"हे भिक्षुओ! चक्षु उत्पद्यमान होकर कहीं से आता नहीं······।"

(३) अमूर्त धर्मों में यह युक्ति नहीं लगती; परमाणु संचित न होने से इनका अतीत और अनागत अवस्था में विप्रकीर्णत्व कैसे है? पुनः वस्तुतः यथोत्पन्न अनुभूत वेदना का स्मरण होता है; पूर्वदर्शन उसका होता है जिसका अनुभव तब होगा जब वह वर्तमान होगा। यदि अतीत और अनागत ऐसे हैं कि उनका ग्रहण स्मृति या प्राग्दर्शन से होता है तो यह नित्यता को प्राप्त होते हैं, अतः स्मृति नामक मनोविज्ञान का असत् आलम्बन है अर्थात् वह वेदना जो तद्-रूप नहीं है।

वैभाषिक कहता है—यदि विज्ञान का असद् आलम्बन इष्ट है तो एक त्रयोदश आयतन (१.१४) विज्ञान का आलम्बन हो सकता है।

आचार्य उत्तर देते हैं, अतः—

[६२] तेरहवाँ आयतन नहीं हैं, इस विज्ञान का आपके अनुसार आलम्बन क्या है? क्या आपका यह कहना है कि त्रयोदश आयतन यह आलम्बन हैं तब आपकी यह प्रतिपत्ति है कि इस नाम के अस्तित्व का प्रतिवेध करना चाहिये। यह आलम्बन नाम मात्र है; प्रज्ञप्त वस्तु आलम्बन

---

१. अभूद् भविष्यति च; व्या० ४७८,१५, आलम्बन वह है जो वर्तमान अवस्था में रूप था और होगा।

का अस्तित्व नहीं है। पुनः जो विज्ञान शब्द के प्रागभाव को आलम्बन बनाता है उसका सद् आलम्बन क्या है?

वैभाषिक उत्तर देता है—इस विज्ञान का आलम्बन शब्द ही है, उसका असद्भाव नहीं है। तब जो शब्द के अभाव की प्रार्थना करता है (प्रार्थयते) उसको शब्द ही करना चाहिये।

वैभाषिक उत्तर देता है—नहीं, क्योंकि शब्द जिसका प्रागभाव है अनागतावस्था में रहता है और यह अनागतावस्था का शब्द है जो प्रागभाव के विज्ञान का आलम्बन है। किन्तु यदि अनागत शब्द जिसका प्रागभाव वास्तव में है तो यह बुद्धि कैसे होती है कि यह नहीं है (नास्ति)?

वैभाषिक उत्तर देता है—वर्तमान नहीं है (वर्तमानो नास्ति); अतः नास्तिबुद्धि होती है। आपको ऐसा कहने का अधिकार नहीं है क्योंकि एक ही धर्म अतीत, वर्तमान और अनागत है, अथवा यदि अनागत शब्द और वर्तमान शब्द में विशेष है और यदि नास्तिबुद्धि इस विशेष को आलम्बन बनाती है तो वर्तमान के विशेष का अभूत्वा-भाव सिद्ध होता है—अतः हमारा मत है कि भाव और अभाव उभय विज्ञान के आलम्बन होते हैं।

वैभाषिक कहता है—यदि अभाव विज्ञान का आलम्बन हो सकता है तो चरम बोधिसत्व ने यह कैसे कहा है कि 'यह असम्भव है कि जो लोक में नहीं है उसे मैं जानूँगा, देखूँगा?'[1]

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि "मैं अन्य आभिमानिकों के सदृश (५.१०ए.) नहीं हूँ जो न होते हुए भी अपने में अवभास[2] देखते हैं, किन्तु मैं जो है उसी को देखता हूँ।" पुनः आपके वाद को मानने से—

[६३] सर्वबुद्धिका सद्विषयत्व होगा। यदि सर्वबुद्धिका विषय सत् व्यवस्थापित होता है तो यह रूप है, यह रूप नहीं है, इसके विमर्श-विचार के लिए और अवकाश कहाँ है अथवा बोधिसत्व और दूसरों में कौन-सा विशेष है?

हम इतना और कहते हैं कि बुद्धि का सत् असत् आलम्बन अवश्य होता है क्योंकि भगवत् की अन्यत्र कण्ठोक्ति है कि "जिस क्षण में मैंने 'एहि भिक्षो' (६.२६ सी) कहकर उसको आमन्त्रित किया है उस क्षण से मेरा श्रावक मुझसे प्रातः शिक्षा पाकर सायं बढ़ता है, सायं शिक्षा पाकर प्रातः बढ़ता है, वह सत् को सत्वतः जानेगा (सच्चसत्तो शास्यति), असत् को असत्वतः जानेगा जो स-उत्तर नहीं है उसको जानेगा कि यह स-उत्तर नहीं और जो अनुत्तर (=निर्वाण) है उसको अनुत्तर करके जानेगा" (४.१२७ डी)[3], अतएव अतीत और अनागत

१. व्या० ४७६.१ यल्लोके नास्ति तज्ज्ञा।

२. व्या० ४७६,५ दिव्यचक्षुरवभास, ७.४२········एष सम्भवो नास्ति।

३. संयुक्त, २६,२५—संघभद्र (२३.५, ४४ ए ३) एक अधिक विकसित संस्करण से उद्धृत करते हैं।

के सद्भाव के समर्थन में सर्वास्तिवादिन् का यह—"क्योंकि विज्ञान का सत् आलम्बन है" कुछ सिद्ध नहीं करता।

४. सर्वास्तिवादिन् कर्म-फल से भी तर्क आहृत करते हैं, किन्तु सौत्रांतिक यह नहीं स्वीकार करते कि अतीत कर्म से फल की प्रत्यक्ष उत्पत्ति होती है। कर्म-पूर्वक (तत्पूर्वकात्) चित्त-सन्तान विशेष से फल की उत्पत्ति होती है जैसा कि हम इस शास्त्र के अवसान में उस स्थान में देखेंगे जहाँ हमने वात्सीपुत्रियों के आत्मवाद का प्रतिषेध (आत्मवाद प्रतिषेध ४'८५ ए देखिये) किया है।

किन्तु जो वादी अतीत और अनागत को द्रव्यतः मानते हैं उनको फल की नित्यता इष्ट होनी चाहिये : उत्पाद और वर्तमानीकरण के प्रति कर्म का वह क्या सामर्थ्य बताते हैं ?

[६४] ए. इससे उत्पाद का अभूत्वा भाव सिद्ध होता है। यदि आप कहें कि उत्पाद का भी पूर्वभाव है तो किस (हेतु) की कहाँ सामर्थ्य है ? आपको केवल कार्यगण्यों के निकाय में अन्तर्भुक्त होना है—जो है वही है; जो है वही नहीं है, जो नहीं है वह उत्पन्न नहीं होता; "जो है वह उत्पन्न नहीं होता।"[१]

बी. 'वर्तमानीकरण' का क्या अभिप्राय है ?

क्या यह देशांतराकर्षण है ? इसमें हम तीन कठिनाइयाँ देखते हैं—

(१) आकृष्ट फल के नित्यत्व का प्रसंग होगा; (२) जब यह अरूपी है तब फल का देशान्तराकर्षण कैसे होगा ? (३) आकर्षण का अभूत्वा भाव सिद्ध होगा।

क्या यह पूर्ववर्त्ती फल का स्वभाव विशेषण है ? किन्तु क्या इस विकल्प में विशेषण का अभूत्वा-भवन (प्रादुर्भाव) सिद्ध नहीं होता ? अतएव उन सर्वास्तिवादियों का सर्वास्तिवाद जो अतीत और अनागत की द्रव्यसत्ता को मानते हैं शासन में साधु नहीं है (न शासने साधुः), इस अर्थ में सर्वास्तिवाद को नहीं लेना चाहिये। साधु सर्वास्तिवाद वह है जिसकी सर्वास्तित्व की प्रतिज्ञा में 'सर्व' का वही अर्थ है जो आगम में उक्त है। सूत्र की यह प्रतिज्ञा कैसे है कि सर्व का अस्तित्व है ?

"हे ब्राह्मण, जब कोई कहता है कि 'सर्व अस्ति' तब उसका अभिप्राय १२ आयतनों से होता है ? यह समानवाची हैं।"[२] अथवा सर्व जिसका अस्तित्व है, अध्वत्रय है। और इनका

---

१. तिब्बती = वर्मा के गण—गार्बे ने सांख्य फिलासफी पृ० ३६ में योगभाष्य ३.५२ और सांख्यतत्वकौमुदी, कारिका ४७ का हवाला दिया है—। इनमें इसे भी (संघभद्र ५३ ए १५) जोड़ना चाहिये।

२. महानिद्देस, पृ० १३३, सब्बं वुच्चति दादसायतनानि; संयुक्त, ४.१३ किं च भिक्खवे सब्बं ? चक्खुं चेव रूपा च—मज्झिम। १.३—संयुक्त १३,१६, मेरा 'निर्वाण' अध्याय ३ देखिये।

अस्तित्व कैसे होता है यह भी बताया है जो भूतपूर्व है वह अतीत है······।" (ऊपर पृ० ५८) किन्तु यदि अतीत और अनागत का अस्तित्व नहीं है तो अतीत अनागत क्लेश से अतीत अनागत वस्तु में कोई संयुक्त कैसे होता है ? संतान में अतीत-क्लेश-जात अनुशय के सद्भाववश अतीत क्लेश से पुग्दल संयुक्त होता है । अनागतक्लेश-हेतु अनुशय के सद्भाव से अनागतक्लेशहेतु से पुद्गल संयुक्त होता है । अतीत और अनागत वस्तु से संयोग तदालम्बन क्लेश के अनुशय से सद्भाव-वश होता है । वैभाषिक कहता है कि अतीत और अनागत का वर्तमान के सदृश अस्तित्व है ही ।[1] जिसका निर्देश नहीं हो सकता उसके विषय में यह जानना आवश्यक है कि २७ डी.··· गम्भीरा जातु धर्मता ।

[६५] धर्मों का स्वभाव (धर्मता) निश्चय ही गंभीर है ।[2] इसका युक्ति से व्यवस्थान नहीं होता ।[3]

(अतएव अतीत और अनागत का प्रतिषेध नहीं करना चाहिये [4]) यह पर्याय है (अस्ति पर्यायः) कि जो उत्पन्न होता है वह निरुद्ध होता है, यथा रूप उत्पन्न होता है, रूप निरुद्ध होता है; (द्रव्य अनन्य रहता है [5]) यह पर्याय है कि अन्य उत्पन्न होता है, अन्य निरुद्ध होता है; वास्तव में अनागत उत्पन्न होता है, वर्तमान निरुद्ध होता है, अध्व भी उत्पन्न होता है क्योंकि जो उत्पद्यमान है वह अध्व में संगृहीत है, वह अध्व-स्वभाव है[6] और अध्व से भी धर्म उत्पन्न होता हैं क्योंकि अनागत अध्व का अनेक क्षणिकत्व है ।[7]

---

१. सन्त्येवातीतानागताः (धर्माः)

२. (गम्भीरा जातु धर्मता)

३. शुआनचाङ् वर्तमान के समान अतीत और अनागत हैं ही । वह सब लोग जो व्याख्यान में (सौत्रान्तिक के दोष के परिहार में) असमर्थ हैं और जो अपना शुभ चाहते हैं (महाव्युत्पत्ति २४५, १२०१) उनको जानना चाहिये कि "धर्मों का स्वभाव अति गम्भीर है" यह तर्कगोचर नहीं है । क्या इसका अर्थ है कि जो व्याख्यान में असमर्थ हैं उनको प्रतिषेध का अधिकार है । संघभद्र (२३·५, ५४ ए २) बलपूर्वक विरोध करते हैं जो मत वैभाषिकों के नहीं उनको उनका न कहिये ।······वह कौन से जिनका परिहार मैंने नहीं किया है ?" मैं नहीं मानता कि वे जो कहते हैं वह ठीक है ।

४. परमार्थ में इतना अधिक है ।

५. द्रव्यानन्यत्वात्, व्या ४७७, १५

६. अध्वसङ्गृहीतत्वात् अध्वस्वभावत्वात्, १.७ सी ।

७. अध्वनोऽप्युपादानरूपादुत्पद्यते धर्मः, कस्मादित्याह, क्षणिकत्वात् अनेकक्षणत्वादनागतस्याध्वन इति, तस्मादनेकेषां क्षणानां अनागतानां राशिरूपाणां कश्चिदेव क्षण उत्पद्यते । विभाषा ६६,१३ "जब अनागत संस्कृत की उत्पत्ति होती है तब क्या यह कहना चाहिये कि उनका 'भूत्वा भाव' है या यह कहना चाहिये कि उनका 'अभूत्वा भाव है' ? इस या उस विकल्प

[६६] अनुशयवाद के प्रसंग में यह विचार आ गया था। यह समाप्त होता है, जब प्राप्ति के विगम से (प्राप्तिविगमात्) पुरुष एक वस्तु को प्रहीण करता है (यद्वस्तु प्रहीणम्) तो तदालम्बक क्लेश की प्राप्ति के समुच्छेद से (तदालम्बकक्लेशप्रहाणात्) उसका वस्तु से विसंयोग (तद्विसंयोग) होता है और इसके विपरीत जब विसंयोग होता है तो क्या प्रहाण होता है?

जब एक वस्तु[1] से विसंयोग होता है तब इस वस्तु का सदा प्रहाण होता है। विसंयोग के विना भी प्रहाण होता है।

२८. दुःखदर्शनहेय के प्रहीण होने पर भी योगी शेष सर्वगों से संयुक्त रहता है, प्रथम आकार के प्रहीण होने पर भी वह तद्विषयक शेष से संयुक्त रहता है।[2] मानिये कि सप्त दर्शनमार्ग में एक पुद्गल समापन्न है, उसमें दुःखदर्शन की उत्पत्ति होती है किन्तु समुदयदर्शन का उत्पाद अभी नहीं हुआ है।[3] अतएव उसके दुःखदर्शनहेय वस्तु प्रहीण हैं किन्तु ऐसा होने से वह विसंयुक्त नहीं है क्योंकि वह उन सर्वत्रग क्लेशों के कारण इन प्रथम वस्तुओं[4] से संयुक्त है जिनका ग्रहण समुदय दर्शन से होता है और जो इन प्रथम वस्तुओं को आलम्बन बनाते हैं।

[६७] भावना-मार्ग में जहाँ (अधिमात्र-अधिमात्रादि) क्लेश के ९ प्रकारों का उत्तरोत्तर प्रहाण होता है वहाँ यदि प्रथम क्लेश प्रकार प्रहीण होता है और अन्य नहीं होते तो इन शेष क्लेश प्रकारों से जो प्रकार को आलम्बन बनाते हैं वह संयुक्त रहता हैं (६.३३); प्रत्येक वस्तु

---

के मानने में क्या दोष है? दोनों अयुक्त हैं······उत्तर वह कहना चाहिये कि उत्पन्न धर्म की हेतुप्रत्ययवश उत्पत्ति होती है अर्थात् सब धर्म पहले से ही अपने स्वभाव से संयुक्त होते हैं, इनमें से प्रत्येक अपने स्वभाव में अवस्थान करता है और क्योंकि वह इस स्वभाव में समन्वागत होता है इसलिये कहते हैं कि वह उत्पन्न है, किन्तु हेतुप्रत्ययवश उत्पन्न नहीं है, यद्यपि उसका स्वभाव उत्पन्न हो तथापि उसको उत्पन्न कहते हैं क्योंकि हेतुप्रत्यय सामग्री से इसका उत्पाद हुआ है। दूसरी ओर अनुत्पन्न धर्म हेतुप्रत्ययवश उत्पन्न होता है अर्थात् अनागतधर्म अनुत्पन्न कहलाता है क्योंकि यह वर्तमान में हेतुप्रत्ययवश उत्पन्न होता है······।"

१. नीचे टिप्पणी ३ और पृ० ६७ जापानी संपादक की 'वस्तु' पर विवृति; 'अनुशयादिस्वभावयुक्त"।

२. प्रहीणे दुःखदृग्हेये (संयुक्तः) शेष सर्वगैः।
[प्रहीणे प्रथमाकारे] शेषैस्तद्विषयैर्मलैः॥ व्या० ४७७,२९
व्या० ४७८,१ = तद्विषयैः प्रहीणप्रकारविषयैः (व्याख्या)

३. 'वस्तु का ऐसा ही ऊपर व्याख्यान है : क्लेश, ५.४

४. जापानीसम्पादक की विवृत्ति के अनुसार यह दुःखदर्शन से (अर्थात् दुःखभूत पंच उपादान स्कंध से) संयुक्त रहता है।

में कितने अनुशय अनुशयन करते हैं (अनुशेरते), इस प्रश्न के सविस्तर विचार का अन्त नहीं है, वैभाषिक (८६,५) इसकी संक्षेप व्याख्या करते हैं।[1]

सामान्यतः हम कह सकते हैं कि १६ प्रकार के धर्म वस्तु हैं जिनमें अनुशय अनुशयन करते हैं—प्रत्येक धातु के ५ प्रकार (दुःखादिदर्शन प्रहातव्य प्रकार) तथा अनास्रव धर्म, चित्त (विज्ञान) भी इन्हीं १६ प्रकार का है।

जब हम जानेंगे कि विविध धर्म किन चित्तों के आलम्बन हैं तब हम कह सकेंगे कि अमुक धर्म में इतने अनुशय अनुशयन करते हैं।

२६. दुःखसमुदय दर्शन-प्रहातव्य और भावना-प्रहातव्य कामधातु के धर्म इस धातु के तीन चित्तों के गोचर हैं।[2]

यह सब धर्म पाँच चित्तों के आलम्बन हैं—कामधातु के तीन चित्त जो दुःख-समुदय-दर्शनहेय और भावनाहेय (अभ्यास=भावना) हैं, एक रूपावचर चित्त जो भावनाहेय और अनास्रव चित्त,

स्वकाधरत्रयोर्ध्वैकामलानां रूपधातुजाः।
आरूप्यजास्त्रिधात्वाप्तत्रयानास्रवगोचराः ॥३०

[६८] ३० ए-बी इन्हीं तीन प्रकार के रूपावचर धर्म, तीन रूपावचर चित्त, तीन कामावचर चित्त, एक आरूप्यावचर चित्त और अनास्रव चित्त के आलम्बन हैं।[3]

तीन कामावचर और रूपावचर चित्त पूर्वोक्त हैं—यह दुःख समुदय दर्शनहेय और भावनाहेय हैं। आरूप्यावचर चित्त भावनाहेय है। यह सब धर्म आठ चित्त के आलम्बन हैं।

३० सी-डी. इन्हीं प्रकार के आरूप्यावचर धर्म धातुत्रय के तीन चित्त और अनास्रव चित्त हैं।[4]

३१ ए-बी. यही तीन चित्त, यह सब धर्म १० चित्त के आलम्बन हैं।[5]

निरोधमार्गदृग्हेयाः सर्वे स्वाधिकगोचराः।
अनास्रवास्त्रिधात्वन्त्यत्रयानास्रवगोचराः ॥३१

---

१. पिण्डविभाषां कुर्वन्ति व्या० ४७८,५.

२. दुःखहेतुदृगभ्यासप्रहेयाः कामधातुजाः।
स्वकत्रयैकरूपाप्तामलविज्ञानगोचराः ॥ ८७,५ (व्या० ४७६, २४) विभाषा, ८७,५.

३. [स्वकाधरत्रयोर्ध्वैकामलानां रूपधातुजाः।] (व्या० ४७६, २४) विभाषा,८६,११।

४. [आरूप्यजास्] त्रिधात्वाप्तत्रयानास्रवगोचराः ॥ (व्या० ४८०,१)

५. निरोधमार्गदृग्हेयाः सर्वे स्वाधिकगोचराः। (व्या० ४८०, ६)

(ए) निरोधदर्शनहेय कामावचर धर्म—पूर्वोक्त पाँच चित्त के आलम्बन और निरोधदर्शन-हेय चित्त—कुल ६।

(बी) मार्गदर्शनहेय कामावचर धर्म—पूर्वोक्त पाँच चित्त के आलम्बन और मार्गदर्शनहेय चित्त—कुल ६।

(सी) निरोधमार्गदर्शनहेय रूपावचर और आरूप्यावचर धर्म—९ और ११ चित्त के यथाक्रम आलम्बन,

३१ सी-डी अनास्रव धर्म धातुत्रय के अन्त्य तीन चित्त और

[६९] अनास्रवचित्त के गोचर या आलम्बन हैं।[1]

यह १० चित्त के धातुत्रय के निरोध-मार्गदर्शन भावनाप्रहातव्य चित्त और अनास्रव चित्त के आलम्बन हैं।

यहाँ दो संग्रह श्लोक उदाहृत हैं: दुःख समुदय दर्शनहेय और भावनाहेय त्रैधातुक धर्म, धातुक्रम से ५.८.१० चित्तों के गोचर हैं।

निरोधमार्गदर्शन-प्रहातव्य स्वप्रकार चित्त के भी गोचर हैं। अनास्रव धर्म १० चित्त के आलम्बन हैं।

यह १६ प्रकार के धर्म हैं जो १६ प्रकार के चित्त के आलम्बन हैं। अब यह देखना है कि कौन अनुशय किस वस्तु में अनुशयन करता है। समग्र विवेचन बहुत दूर ले जायगा। हम एक सामान्य अवस्था के विचार से ही संतोष करेंगे, यह द्योतनार्थ है।

१. संयोग-वस्तुओं में से हम सुखेन्द्रिय को लेते है और देखते हैं कि कितने अनुशय वहाँ शयन करते हैं (अनुशेरते)।

सुखेन्द्रिय सात प्रकार का है—(१) भावना-प्रहातव्य कामावचर; (२.६) रूपावचर पाँच प्रकार का; (७) अनास्रव यदि यह अपना है तो अनुशय वहाँ अनुशयन नहीं करते, हमने यह व्यवस्थित किया है, यदि वह कामावचर है तो भावनाहेय अनुशय और सब सर्वत्रग अनुशय वहाँ अनुशयन करते हैं, यदि यह रूपावचर हैं तो सब सर्वत्रग अनुशय वहाँ अनुशयन करते हैं।

२. उस चित्त में कितने अनुशय अनुशयन करते है जिसका आलम्बन सुखेन्द्रिय है? जिस चित्त का आलम्बन सुखेन्द्रिय है वह १२ प्रकार का है—(१-४) कामावचर चतुः प्रकार का है (निरोधदर्शनप्रहातव्य चित्त से अन्यत्र); (५-९) पाँच प्रकार का रूपावचर; मार्गदर्शन-भावनाहेय आरूप्यावचर अनास्रव चित्त।

[७०] यथासंभव वहाँ—१. कामावचर अनुशय के चार निकाय; २. रूपावचर जिनका आलम्बन संस्कृत है; ३. आरूप्यावचर अनुशय के दो निकाय; ४. सर्वत्रग अनुशय (विभाषा, ८८, २) अनुशयन करते हैं।

---

१. अनास्रवास्त्रिधात्वन्त्यत्रयानास्रवगोचराः। व्या० ४९०, ३४।

३. उस चित्त में कितने अनुशय अनुशयन करते हैं जिसका आलम्बन सुखेन्द्रियालम्बन चित्त है ?

जिस चित्त का आलम्बन सुखेन्द्रिय है और जो द्वादशविध है वह स्वयं उस चित्त का आलम्बन है जो १४ प्रकार का हो सकता है अर्थात् १२ पूर्वोक्त प्रकार का और (१३-१४) दुःख-दर्शनहेय और समुदयदर्शनहेय आरूप्यावचर के दो प्रकार का।

प्रथम दो धातुओं के पूर्वोक्त अनुशय तथा आरूप्य धातु के चार प्रकार (निरोधदर्शन-हेय अनुशय से अन्यत्र) यथासम्भव वहाँ अनुशयन करते हैं।

इसी प्रकार[1] अन्य धर्मों को (२२ इन्द्रिय, १.४८ सी-डी इत्यादि) भी जानना चाहिये। अनुशय-योग से चित्त सानुशय कहलाता है, क्या हमको यह मानना चाहिये कि अनुशय सानुशय-चित्त में अवश्य दृष्टि-लाभ करते हैं, प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं (अनुशेरते) ?[2]

जो अनुशय अप्रहीण हैं, जिनका आलम्बन प्रहीण नहीं है (५.६१ सी-डी), जो उसके चित्त से सम्प्रयुक्त हैं वह अनुशयान अनुशय हैं (सन्ति अनुशयानाः)। प्रहीण अनुशय जो उस चित्त से संप्रयुक्त हैं, अनुशयान नहीं हैं।

**दुःखहेयदृगभ्यासहेया आनुत्रयेऽमलाः।**
**पञ्चाष्टदशविज्ञानदशविज्ञानगोचराः ॥ ३२**

[७१] ३२ ए-बी, क्लिष्ट चित्त द्विधा सानुशय है, अक्लिष्ट चित्त केवल सानुशय केवल अनुशायक अनुशयों के योग से सानुशय है।[3]

(१) अनुशायक अनुशयों के योग से वे संप्रयुक्त हैं जिनका आलम्बन अप्रहीण है, जो आलम्बन का ग्रहण करते हैं—क्लिष्ट चित्त सानुशय है।

(२) अननुशयान अनुशयों के योग से—प्रहीण अनुशय जिससे यह संप्रयुक्त है; क्योंकि यह चित्त सदा उसके सहित होता है (तत्सहितत्वात्), क्लिष्ट चित्त आनुशय है।

१० अनुशयों की उत्पत्ति किस क्रम से होती है ?,(विभाषा ४) सबकी,सबके अनन्तर उत्पत्ति संभव है अतः कोई सार्वजन्य क्रम-नियम नहीं है। तथापि उसकी उत्पत्ति का यह नियम है—

३२ सी—३३, मोह से विचिकित्सा, उससे मिथ्या दृष्टि, उससे सत्काय दृष्टि, उससे अन्तग्राह दृष्टि, उससे शीलव्रत परामर्श, उससे दृष्टि परामर्श, उससे स्वदृष्टि के प्रति राग और

१. अनया दिशा=अनया वर्तन्या (व्या० ४८३, १६)
२. ५.३, १७-१८, ३९
३. द्विधा सानुशयं क्लिष्टम्, अक्लिष्टमनुशायकैः।

मान और दूसरे के प्रति प्रतिघ—यह क्रम है।[1] प्रथम अविद्या(=मोह) से संयुक्त पुरुष सत्यों के विषय में मोह को प्राप्त होता है (संमुह्यते); वह दुःख सत्य की इच्छा नहीं करता (इच्छति) उसको वह इष्ट नहीं है······। मोह की इस अवस्था से विचिकित्सा की उत्पत्ति होती है, वह दो वाद सुनता है, उसको सन्देह होता है कि दुःख सत्य हैं। विचिकित्सा से मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है। मिथ्या श्रुत और चिंतावश उसका यह विनिश्चय होता है—"यह दुःख नहीं है"; मिथ्या दृष्टि से सत्काय दृष्टि उत्पन्न होती है क्योंकि स्कंधों को दुःखतः न मान कर उसका स्कन्धों में आत्मतः अभिनिवेश होता है। इससे शीलव्रतपरामर्श होता है। वह शीलव्रत मात्र को विशुद्धि का उपाय अवधारित करता है, इससे दृष्टि-परामर्श होता है, वह हीन को विशिष्ट मानता है; वह अपने शुद्धि के उपाय के प्रति बहुमान करता है। इससे स्वदृष्टि में (स्वद्रष्टा) राग और दृष्टि में मद और मान होता है, इससे प्रतिघ होता है क्योंकि स्वदृष्टि से भरे रहने के कारण वह स्वदृष्टि विरुद्ध दूसरे की दृष्टि से द्वेष करता है। अन्य वादियों के अनुसार इसको इस प्रकार समझना चाहिये। स्वमत के लिये प्रतिघ यदि वह उसे बदलता है क्योंकि राग और अन्य अनुशय जो सत्यदर्शनहेय हैं वह हैं जिनका आलम्बन स्वसन्तान और स्वदृष्टि हैं (स्वसंतानिक दृष्टि)। कितने हेतुओं से क्लेशों की उत्पत्ति होती है?

[७२] ३४. क्लेश जिनका सकल कारण विद्यमान है, अनुशय के प्रहाण से, पर्यवस्थित गोचर से और अयोनिशो मनस्कार से उत्पन्न होते हैं।[2] यथाकाम राग उत्पन्न होता है।

(१) यदि रागानुशय अप्रहीण है उसकी प्राप्ति के अनुच्छेद से, उसके प्रतिपक्ष की अनुत्पत्ति से (५.६४) अपरिज्ञात है; (२) यदि काम राग पर्यवस्थानीय धर्म अर्थात् रूपादि विषय आभास गत होते हैं (=विषय रूपता-आपन्न)? (३) यदि अयोनिशो मनस्कार होता है। अनुशय हेतु हैं; धर्म विषय है; अयोनिशो मनस्कार प्रयोग हैं; यह तीन भिन्न बल हैं।

इसी प्रकार अन्य क्लेश उत्पन्न होते हैं। यह उन क्लेशों के लिए जो सब हेतुओं से प्रवृत्त होते हैं क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार क्लेश केवल विषय के बल से उत्पन्न हो सकता है यथा ५.५८ बी [१३ वां] सूत्र के अनुसार ६८ अनुशय दस पर्यवस्थानों के साथ मिलकर तीन आस्रव —कामास्रव, भवास्रव, अविद्यास्रव; चार ओघ—कामौघ, भवौघ, दृष्टिओघ, अविद्यौघ; चार योग—कामयोग, भवयोग, दृष्टियोग, अविद्यायोग; चार उपादान—कामोपादान, दृष्ट्युपादान, शीलव्रतोपादान, आत्मवादोपादान होते हैं।

आस्रवों का लक्षण क्या है?

---

१. व्याख्या (पेट्रोग्राड) पृ० १४, १.१६ में उद्धृत विभाषा, २२,८।

२. अप्रहीणानुशयतः पर्यवस्थितगोचरात्।
अयोनिशो मनस्करात् क्लेशः सकल कारणः॥

विभाषा, ६१, १. - ऊपर पृ० ६ टिप्पणी और ६-५८ बी देखिये।

[७३] ३५. काम में अविद्या से अन्यत्र क्लेश पर्यवस्थानों के सहित आस्रव होते हैं। रूप और आरूप्य में केवल अनुशय भवास्रव हैं।[1] [१४ ए.]

अविद्याओं को वर्जितकर कामावचर क्लेश और दस पर्यवस्थान (५.४७)—४१ द्रव्य; यह कामास्रव हैं।

अविद्याओं को वर्जितकर रूपारूप्यावचर अनुशय+प्रत्येक धातु के २६ अनुशय, कुल ५२ द्रव्य—यह भवास्रव हैं।

किन्तु नो ऊर्ध्व धातुओं में दो पर्यवस्थान अर्थात् अस्त्यान और औद्धत्य (२.२६ ए-सी, ५.४७) होते हैं। प्रकरण[2] में उक्त है।

[७४] भवास्रव क्या है? अविद्याओं को वर्जित कर अन्य रूपारूप्यावचर, संयोजन, बन्धन, अनुशय, उपक्लेश और पर्यवस्थान। काश्मीर वैभाषिक कहते हैं कि यहाँ पर्यवस्थानों का अग्रहण है क्योंकि[3] दो ऊर्ध्व धातुओं में उनका स्वातंत्र्य है। दो ऊर्ध्व धातुओं के अनुशयों का भवास्रव क्यों है?

३६ ए—बी—वह अव्याकृत हैं, अन्तर्मुख अप्रवृत्त हैं, समापत्ति भूमि में संगृहीत हैं। अतएव इनको एकत्र करते हैं।

दोनों का यह त्रिविध सामान्य लक्षण है, दोनों अव्याकृत हैं, दोनों अन्तर्मुख प्रवृत्त हैं। (अर्थात् विषयप्रधान नहीं हैं—न विषयप्रधानाः)। दोनों समापत्तिभूमिसंगृहीत हैं। अतः उनको एकत्र कर एक आस्रव मानते हैं और जिस कारण से भवराग (५.२) कहलाता है उसी कारण से भवास्रव कहते हैं। पूर्व विचार [१४ बी] से यह सिद्ध होता है कि त्रैधातु की अविद्या कुल १५ द्रव्य (५.४) अविद्यास्रव हैं—अविद्या एक पृथक् आस्रव क्यों है? सब अनुशयों का

३६ सी—डी अविद्या मूल है। अतः यह कहा है कि अविद्या एक पृथक् आस्रव है।[4] यथा आस्रवों का विधान है।

---

१. परमार्थ के अनुसार जो अपने मूल ग्रन्थ का यथार्थ अनुसरण करते हैं—[कामे सपर्यवस्थानाः क्लेशाः कामास्रवाह्वयाः। बिना मोहेनानुशया (एव) रूपारूप्ये भवास्रवाः ॥]

द्रव्यों के उपसंख्यान के लिए ५.४.५ ए, ५ बी-सी—विभाषा ४७,६, ४८,२।

२. विभाषा, ४८,६।

३. व्याख्या ४८५, २६, (१) वह स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह रागादि से संयुक्त है। (व्याख्या)—शुआनचाङ्।

वह उक्त नही है क्योंकि उसकी संख्या स्वल्प है (दो है) और वह स्वतन्त्र नहीं है (अर्थात् स्वबल से उसकी उत्पत्ति नहीं होती)।

४. (मूलभावेन······अविद्यापृथगास्रवः) अत्थसालिनी, ३६६ पृ० ४७५। अविद्या अन्य आस्रवों का और संसार का मूल है। यह उक्त है। अविद्याहेतुसंरागाय······और याः काश्चन दुर्गतय······(इतिवुत्तक, ६४०); ६.३।

[७५] ३७ ए. वही ओघ और योग का है ।[१]

३७ ए-बी किन्तु उनकी पटुता के कारण दृष्टियों का एक पृथक् ओघ और योग है । दृष्टियों से अन्यत्र कामास्रव कामौघ और कामयोग हैं । सिद्धान्त के अनुसार[२] उनके पटु स्वभाव के कारण दृष्टियों का पृथक् ओघ और योग अवस्थापित है ।

आस्रवों में दृष्टियों को पृथक् अवस्थापित किस लिए नहीं करते ?

३७ सी-डी. पृथक् आस्रव नहीं । क्योंकि असहाय होने से वह अवस्थान के अनुकूल नहीं हैं ।[३]

आस्रव का निर्वचन पीछे (५'४०) कहेंगे—आस्रव-आस्रव इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह अवस्थान कराते हैं ।

(व्या० ४८६, २५) (आस्रयन्तीत्यास्रवाणां निर्वचनम्) पटु होने से असहाय दृष्टि आस्रव के अनुकूल नहीं है । अतः उसको आस्रवों में उक्त है किन्तु अन्य अनुशयों से मिश्रित है ।

ए. अतएव कामोघ=५ राग, ५ प्रतिघ, ५ मान, ५ विचिकत्सा, १० पर्यवस्थान, कुल २९ द्रव्य ।

बी. भवौघ=१० राग, १० मान, ८ विकित्सा = २८ द्रव्य ।

सी. दृष्टि ओघ=तीन धातुओं को बारह-बारह दृष्टि=३६ द्रव्य ।

डी. अविद्या ओघ=तीन धातुओं की ५-५ अविद्या = १५ द्रव्य । इसी प्रकार योग है । [१५ ए]

[७६] ३८ ए-सी. [प्रथम दो के साथ] अविद्या और दृष्टियों को द्विधा विभक्त कर—यह उपादान है ।[४]

चार उपादान हैं :—

ए. कामोपादान—कामयोग और कामधातु की अविद्यायें=५ राग, ५ प्रतिघ, ५ मान, ५ अविद्या, ४ विचिकित्सा, १० पर्यवस्थान=३४ द्रव्य ।

बी. आत्मवादोपादान[५] = छै योग और दो ऊर्ध्वधातुओं की अविद्या=१० राग, १० मान, १० अविद्या, ८ विचिकित्सा=३८ द्रव्य ।

---

१. ओघा योगास्तथा ।

२. व्या० ४८६, १०, आचार्य के अनुसार विनेयजनवशाद् दृष्टियोग: पृथगुक्तः ।

३. व्या० ४८७, नास्रवेषु असहायानामासनाननुकूलता ।

४. यथोक्ता एव साविद्या द्विधा दृष्टिविवेचनात् (उपादानानि) ।

५. विभाषा, ४८,५ – इस उपादान के आकार या आलम्बन की दृष्टि से यह नाम उक्त नहीं है ·····कामधातु के क्लेशकायसुख वश, बाह्य विशेषवश, भोगवश दूसरे अ कारण प्रवृत्ति होते हैं (प्रवर्तते) और इसलिए कामोपादन कहलाते हैं । किन्तु दो ऊर्ध्व धातुओं के क्लेश का समभाव विपक्ष होता है और वह अन्तर्मुख प्रवृत्त होते हैं । अतएव उन्हें आत्मोपादान कहते हैं ।

सी—दृष्ट्युपादान=दृष्टियोग से शीलव्रत-परामर्श को निकृष्ट कर=३० द्रव्य।

डी—शीलव्रतोपादान=शेष ६ द्रव्य।

शीलव्रत को शेष ६ दृष्टियों से विशिष्ट क्यों करते हैं और उसका पृथक् उपादान क्यों है? क्योंकि यह मार्ग का प्रतिद्वन्द्व है और उसका उभयपक्ष का विप्रलम्भन करता है। अमार्ग को मार्ग समझकर गृही अनशनादि[1] से स्वर्ग प्राप्ति की आशा करते हैं। प्रव्रजित दृष्टि विषय के परिवर्जन[2] से शुद्धि, प्रत्यागमन की आशा करते हैं (विभाषा ४८,४)।[3]

किन्तु अविद्या प्रथम उपादान क्यों नहीं है?

[७७] ३८ सी-डी. क्योंकि अविद्या ग्राहादिका नहीं है, उपादान होने से यह अन्य अनुशयों से मिश्रित है।[4]

अविद्या का लक्षण असंप्रख्यान है। यह अपटु है। अतः यह अग्राहिका है, अत: सिद्धान्त में उक्त है कि अन्य क्लेशों से मिश्रित होने से ही यह उपादान है।

किन्तु हम कहते हैं[5] कि भगवत् के सूत्र में कहा है। कामयोग क्या है?—उक्त पुरुष का जो काय गुणों का समुदय नहीं जानता, काम के प्रति कामराग, कामच्छन्द, कामस्नेह, कामरुचि, काममूर्च्छा, कामावसान, कामपर्यवसान, कामनन्दी, कामग्रेध, कामाध्यवसान जो चित्त को ध्वस्त करता है—यह काम योग है।[6] भगवत् इसी प्रकार अन्य योगों का लक्षण

---

१. व्या० ४८७,१८ अनशनादिभिः—अनशय, जलाग्निप्रपतन, मौन, चरितदान।

२. व्या० ४८७,२०, इष्टविषयपरिवर्जनेन—सब प्रकार के व्रतरस-परित्याग, भूमिशय्या, मलपंकधारण, नग्नचर्या, केशोलुञ्चनादि यतियों के अभ्यास पर ४'६४,८६ और ५'७८।

३. विभाषा में घोषक का एक रोचक वचन है।

४. व्या० ४८७,२२. अविद्या तु ग्राहिका नेति मिश्रिता।

व्या० ४८७,२३. उपादान का विवेचन 'भवमुपाददाति' (ऊपर पृ० १ टिप्पणी ३)।

अविद्या ग्राहिका नहीं है (ऊपर पृ० ३४ टिप्पणी देखिये)।

विभाषा ४८३ में कई व्याख्यान हैं।

५. व्याख्या के अनुसार आचार्य हुएइ—हुएइ (Houei-houei) के अनुसार सौत्रान्तिक कहता है—उपादान रागस्वभाव हैं, पञ्चकायगुण के प्रति राग कामोपादान है, ६२ दृष्टियों के प्रति दृष्ट्युपादान है, शीलव्रत के प्रति शीलव्रतोपादान है, तीन धातुओं के प्रति आत्मवादोपादान है।

६. हमारे सूत्र में १० समानार्थक शब्द हैं—व्याख्या से पहले ३ सिद्ध होते हैं—कामरुचि; कामशक्ति; कामनिवेश; कामपरिग्रंगुत्तर २'१० की सूची में ८ आख्यायें—कामराग, नन्दी, स्नेह, मूर्च्छा, पिपासा, परिलाह, ओसान, तण्हा (संयुत्त, ४'१८८, विभाषा, ३७४) शुआन् चाङ् के भाषान्तर में १२ आख्याएँ हैं।

बताते हैं। सूत्रान्तर में यह कहते हैं कि छन्दराग उपादान है।[1] अतः कामों के प्रति दृष्टि आदि के प्रति जो छन्दराग हैं वह कामोपादानादि कहलाता हैं।[2] अनुशय, आस्रव, ओघ, योग, उपादान इन आख्यानों का क्या अर्थ है।

[७८] ३९. ये अणु हैं, ये अनुसक्त होते हैं; ये उभयतः अनुशयन करते हैं; इनका अनुबन्ध होता है; इसीलिए इन्हे अनुशय कहते हैं।

---

१. उपादानं कतमत्। योऽत्रछन्दराग इति—संयुत्त ३.१०१ से तुलना कीजिए—अपि च यो तत्थ (पञ्चुपादानखन्धेसु) छन्दरागो तं तत्थ उपादानं ति (३.१६७, ४.८९) भी देखिये।

२. अन्य शब्दों में ही योग या उपादान है।

३. विभाषा, ५०,१ अणवस् [तेऽनुसज्जन्त] उभयतोऽनुशेरते।
अनुबध्नन्ति [त्र यत उक्ता अनुशयास् ततः]॥

वसुबन्धु में इतना अधिक है कि यह अनुसक्त होते हैं। फुकुआङ् (P'ou-kouang) का मत है कि अणु से शय का आख्यान होता है और अन्य शब्दों से अनु का (और वसुबन्धु का) यही मत प्रतीत होता है। होएइ (Houei) के अनुसार चारों आस्रवों से अनुशय का व्याख्यान होता है। (और यही संघभद्र का मत है)।

संघभद्र, २३.८, २९ ए.

क्लेशों के समुदाचार के पूर्व उनका प्रचार (प्रवृति) दुर्विज्ञेय है। अतएव वह अणु है। इसलिए आनन्द कहते है "मैं नहीं जानता कि अपने सब्रह्मचारियों के प्रति मैं मानचित्त का उत्पादन करता हूँ या नहीं।" वह नहीं कहते कि मैं मानचित्त का उत्पाद नहीं करता क्योंकि मानानुशय की प्रवृति दुर्विज्ञेय है। यदि आनन्द मानचित्र के सद्भाव या अभाव को नहीं जानते तो और भी नहीं जानते, अन्य अनुशयों के सम्बन्ध में भी यही है।

एक दूसरे मत के अनुसार अनुशय सूक्ष्म हैं क्योंकि वह अणु क्षण में अपना अनुशयन सिद्ध करते हैं।

व्या० ४८८: आलम्बनतः, संप्रयुक्ततः (संप्रयोगतः), यह कैसे?—यथा हमने निर्देश किया है (ए) छिद्रान्वेषी शत्रुवत् अथवा दृष्टि विषमवत्। (बी) अयोगुणोदक सन्तापवत् या स्पर्शविषयवत्; यह दो आलम्बन और संप्रयुक्त धात्री के सदृश हैं जो कुमार का अनुशयन करती है। इनके कारण कुमार की वृद्धि होती है और उसकी शक्तियां क्रमशः उपचित होती हैं। इसी प्रकार आलम्बन और संप्रयुक्तों से क्लेश-सन्तति की वृद्धि होती है और वह उपचय का लाभ करती है।

यह अनुसक्त होते हैं, अनादि सन्तान प्रवाह में वह प्राणियों के अनुसंग का उत्पाद करते हैं।

[७९] ये अणु हैं क्योंकि दुर्विज्ञेय होने से इनका प्रचार सूक्ष्म है। ये अपनी प्राप्तियों [१९ ए] के अनुसंग से अनुसक्त होते हैं। ये दो प्रकार से आलम्बनतः या संयोगतः अनुशयन करते हैं (अनुशेरते)। इनका निरन्तर अनुबन्ध होता है क्योंकि विना प्रयोग के और प्रतिनिवारित सम्मुखीभाव होता है।[१]

४०. ये आसीन करते हैं और क्षरित होते हैं, ये हरण करते हैं, ये अश्लिष्ट होते हैं, ये अवग्रहण करते हैं। आस्रवादि आख्याओं का यह निर्वचन है।[२]

अनुशय सत्त्वों को संसार में आसीन करते हैं, (आसयन्ति) ये भवाग्र से (=नैवसंज्ञानासंज्ञायतन, ३ ३, ८१) यावत् अवीचि (३.५८) गमन करते हैं (आस्रवन्ति, गच्छन्ति) ये ६ आयतन व्रण से क्षरित होते हैं। अतः इन्हें आस्रव कहते हैं।

अनुशय हरण करते हैं (हरन्ति), अतः इन्हें घोय कहते हैं। अनुशय अश्लिष्ट करते हैं

---

१. यह अनुबन्ध करते हैं क्योंकि चातुर्थक ज्वर (हूबर Huber) सूत्रालंकार, (पृ० १७७) पर मूषिका विष के तुल्य इसको उत्क्रान्तर करना अत्यन्त कठिन है। एक दूसरे मत के अनुसार यह अनुबन्ध करते हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति सदा अनुगत होती है। यथा जल समुदाय का अनुसरण करता है।

इन कारणों से क्लेश के ये १० प्रकार अनुशय की संज्ञा प्राप्त करते हैं। २. तिब्बती अनुवाद (ए) "अणुपरिमाणं वृद्धि, क्योंकि शरच्चन्द्र दास कहते हैं = कि अनुशय पूर्व अणु रूप में आता है और पश्चात् उसके परिमाण की वृद्धि होती है।" (बी) (तिब्बती भाषा में)= शयन करना; (तिब्बती भाषा में) का कदाचित 'प्रति' अर्थ है के पाठान्तर का अर्थ भय के अभाव में है किंतु यह पाठ कदाचित् ठीक नहीं है। चीनी शब्द=अनुशयनं=अज्ञातशयनम्।

२. अनुसेति, अनुसायितुं अपारिभाषिक अर्थ मॉरिस, जे पी टी एस.१८८६, पृ०१२३ के हवाले : अनुसक्त होने पर भी उनका पुनः पुनः निरन्तर होना क्षमरण, संयुत्त २.६५, अनुसेति =चेतेति, पकथेति, चेतना करना, परिकल्प करना, सम्प्रधारण करना।

व्या० ४८७.३३.१. व्याख्या की सहायता से भाष्य का उद्धार हो सकता है : (तत्र) अणव इति सूक्ष्मप्रचारत्वात्दुर्विज्ञानतया। [अनुसज्जन्तीति प्राप्त्यनुसंगात्।]। उभयतोऽनुशेरत इति आलम्बनतः सम्प्रयोगतश्च। अनुबध्नन्तीत्यप्रयोगेण प्रतिनिवारयतोऽपि पुनः पुनः सम्मुखीभावात्।

अनुसंग महाव्युत्पत्ति, २८१, १२२।

व्या० ४८८,४ व्याख्या—आलम्बनात् संप्रयुक्तेभ्यो वा स्वां सन्ततिं वर्धयन्तः प्राप्तिभिरुपाचिन्वति। अपनी सन्तिति की वृद्धि करते हुये।

आलम्बनतः या संप्रयुक्त धर्मों के कारण वह प्राप्तियों से उसे उपचित करते हैं। अनुबध्नन्तीत्यनुक्रान्तेश्चातुर्थकज्वरवत् मूषिकाविषवच्च वह अनुबन्ध करते हैं क्योंकि वह चातुर्थकज्वर या मूषिकाविष के समान कालान्तर में अनुगमन करते हैं। (बोधिचर्यावतार९.२४)

(श्लेषयन्ति)[1] अतः इन्हें योग कहते हैं। अनुशय उपग्रहण करते हैं (उपददाति, उपगृह्णन्ति)[2] अतः इन्हें उपादान कहते हैं।

[८०] सुष्ठु व्याख्यान इस प्रकार हैं।[३]

व्या० ४८८,२०. १. अनुशयों से चित्त सन्तति विषयों में क्षरित होती है (आस्रवति) अतः अनुशय आस्रव हैं। इस सूत्र की उपमा के अनुसार यथा महान् अभिसंस्कार से (महताभिसंस्कारेण) नौका को प्रतिश्रोत ले जाते हैं और इन्हीं संस्कारों की प्रतिप्रश्रब्धि से (तेषां संस्काराणां प्रतिश्रब्ध्या) अर्थात् इन्हीं प्रयत्नों के ऊपर से नौका जल-सन्तान से अपहृत होती है। (ह्रियते) [उसी प्रकार बड़े प्रयत्न से चित्त संतति का कुशल धर्मों द्वारा विषयों से निवारण होता है।][४]

व्या० ४८८.२१. २. जब अधिमात्र वेग होता है तब अनुशय ओघ कहलाते हैं। यह उनका हरण करते हैं (हरन्ति), जो उनसे युक्त होते हैं (तदुक्त) और उनका अनुविधान करते हैं (तदनुविधानात्)।

---

१. आसयन्त्यास्रवन्त्य (एते) हरन्ति श्लेषयन्ति (च)।
उपगृह्णन्तीति ततो निरुक्ता आस्रवादयः।

२. शुल्कविदर्शना — क्लेश कुणपम् अकुशलमूलम्।
आस्रवन्तीत्यविद्याभवदृष्टिकामास्रवाश्चत्वारः।

आस्रव—आस्राव—आसव—आसव पर सेनार्ट (Senart) मेलाञ्जीज्, हार्लेज Melanges, Harlex) पृ० २६२-६३; कीथ, बुद्धिस्ट फिलास्फी, पृ० १२८ टि०; अत्थसालिनी, पृ० ४८; जैनो में सर्वदर्शन अनुवाद पृ० ५३-५४।

व्या० ४८८.१३ १. शुआन चाङ् के अनुसार अनुशय कुशल का अपहरण करते हैं।

व्या० ४८८.१५, २. शुआन चाङ् के अनुसार अनुशय सत्वों को अश्लिष्ट करते हैं। व्याख्या में एक कमी है। तिब्बती भाषान्तर की तरह इसमें क्लेशयन्ति है जो श्लेषयन्ति के स्थान में है (और जो लेखक के प्रमादवश है)।

३. व्याख्या के इन लक्षणों का निरूपण है, 'ओघ' वह धातु से है।

अतः हरन्ति-वहन्ति अनुशय ओघ हैं, किन्तु वे चित्त सन्तति को गत्यन्तर या विषयान्तर से ले जाते है वे योग हैं क्योंकि वे इस सन्तति की योजना गत्यान्तर या विषयान्तर से करते हैं। वह उपादान है क्योकि वे इस सन्तति को ग्रहण करते है और उसको पुनर्भव या कामादि में प्रतिष्ठित करते हैं।

व्या० ४८८.१७, ४. एवं तु साधीयः स्यात्। सौत्रान्तिक का आख्यान (व्याख्या)

४. संयुक्त १८,६.—अंगुत्तर १.५ के अनुसोतगामिन और पटिसोतगामिन से तुलना कीजिये।

व्या० ४८८.२४. ३. जब उनका अधिमात्र समुदाचार नहीं होता (अनधिमात्रसमुदाचारिन्) तब अनुशय योग कहलाते हैं क्योंकि वह जात्यादि विविध दुःखों से युक्त होते हैं अथवा उनका अभीक्ष्ण अनुसंग (अभीक्ष्णानुसंग) होता है।

[८१] व्या० ४८८.२७ ४. अनुशय उपादान कहलाते हैं क्योंकि उनके कारण कामादि का उपग्रहण होता है। (कामाद्युपादान)[1] [२१]।

यही अनुशय जो चतुर्धा उक्त हैं—आस्रव, ओघ, योग, उपादान—पुनः पञ्चधा उक्त हैं। संयोजक (५.४१-४५), बन्धन (५.४५ डी), अनुशय, उपक्लेश (५.४६), पर्यवस्थान (५.४७, ४७ बी)।[2]

४१. ए-बी संयोजनादि भेद से यह पुनः पञ्चधा उक्त हैं।[3]

६ संयोजन[4] अर्थात् अनुनय,

---

१. कम्पेंडियम, पृ० १७०, पृ० २२७ में पालि निर्वचनों का संक्षिप्त विवरण है।

२. इन विविध प्रकारों का महाव्युत्पत्ति, १०६,५२—संयोजन, बन्धन, अनुशय, पर्युत्थान, उपक्लेश, पर्यवस्थान, पर्यवनद्ध, आस्रव, ओघ, योग, उपादान, ग्रन्थ, नीवरण, पर्यवस्थान (पाठान्तर पर्युपस्थान), नीवरणों पर कोश, ४, अनुवाद पृ० २०१, दीघ १·२४६।

३. संयोजनादिभेदेन ते पुनः पञ्चधोदिताः। विभाषा, ४६,१।

४. स्रोतआपन्न तीन संयोजनों का प्रहाण करता है (कोश, ५·४३ सी-डी) इनका विचार विभाषा ४६,१ में है। ९ संयोजन (विभाषा, ५४,४); ५ संयोजन अर्थात् राग, प्रतिघ, मान, ईर्ष्या, मात्सर्य (विभाषा, ४९,१।)

संयोजन शब्द का अर्थ 'बन्धन' दुःख संयोग विभाषानुषक्त पीताशन है। आर्य विशिष्ट जन्म और अप्रयाण, विमोक्ष, अभिभ्वायतन, कृत्स्नायतन (कोश, ८) देखिये। ऐसी सास्रव समापत्तियों से विषानुषक्त आहार के तुल्य जुगुप्सा करता है।

वसुमित्र बताते हैं कि केवल ५ क्लेश क्यों बन्धन हैं, केवल वे क्लेश जो द्रव्य के विषय में विपर्यस्त हैं और स्वलक्षण क्लेश हैं (५.२३), चित्त को आबद्ध करते हैं। तीन क्लेश—राग, प्रतिघ और मान इस प्रकार के हैं।।अतएव वे बन्धन हैं। ५ दृष्टि और विचिकित्सा सामान्य क्लेश हैं (५.२३), इनकी युक्ति भ्रान्त होती है। [और ये आत्मा ऐसी असत् वस्तुओं को आलम्बन बनाते हैं।] अविद्या में दो विभ्रम हैं किन्तु प्रायः केवल दूसरा विभ्रम होता है। अतः इसे बन्धनों में नहीं गिनते हैं। पर्यवस्थानों में जो ईर्ष्या और मात्सर्य बन्धन हैं—द्रव्य विपर्यास होने से वे उभयपक्ष (गृही-प्रव्रजित) को क्लेश देते हैं। वे देव और मनुष्य को क्लेश देते हैं। वे बहुतों का अपकार करते हैं। अन्य पर्यवस्थान ऐसे नहीं हैं।

अभिधम्मसंग्रह (कम्पेंडियम, पृ० १७२) और अभिधम्म में दी हुई संयोजकों की संख्या।

[८२] प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि, परामर्श, विचिकित्सा, ईर्ष्या, मात्सर्य। अनुनय संयोजन त्रैधातुक राग हैं। इसी प्रकार अन्य संयोजनों की भी यथासम्भव योजना करनी चाहिए। द्वितीय, अष्टम और नवम केवल कामावचर हैं।

दृष्टि संयोजन[1] प्रथम तीन दृष्टि (सत्काय, अन्तग्राह, मिथ्यादृष्टि) हैं, परामर्श संयोजन अन्तिम दो दृष्टि (दृष्टि परामर्श और शीलव्रत परामर्श) है। अतः प्रश्न है कि क्या ऐसा है कि पुरुष दृष्टि संप्रयुक्त धर्मों में अर्थात् परामर्श दृष्टि संप्रयुक्त वेदनादि अनुनय संयोजन से संयुक्त हो किन्तु दृष्टिसंयोजन से नहीं और इन धर्मों में दृष्ट्यनुशय अनुशयित न हो? हाँ! हम ऐसे पुरुष का विचार करें जिसने समुदय ज्ञान उत्पन्न किया है किन्तु जिसका विरोध ज्ञान अनुत्पन्न है। उसमें विरोध मार्ग दर्शन प्रहातव्य दृष्टि परामर्श और शीलव्रतपरामर्श संप्रयुक्त धर्मों के प्रति अनुनय संयोजन उत्पन्न होता है। यह पुरुष अनुनय संयोजन से इन धर्मों में संयुक्त होगा, किन्तु दृष्टिसंयोजन से नहीं क्योंकि उसका सर्वत्रग दृष्टिसंयोजन प्रहीण है जो दुःख समुदय दर्शन हेय है और कोई असर्वत्रग दृष्टिसंयोजन नहीं है। जिससे यह धर्म आलम्बन हो या जो इनसे संप्रयुक्त हों। इन धर्मों में दृष्ट्यनुशय का सदा समुदाचार होता है क्योंकि दो दृष्टियाँ जो परामर्श हैं (परामर्श संयोजन) और जो अभी प्रहीण नहीं हैं उनका संप्रयोगतः समुदाचार होता है।

[८३] प्रथम तीन दृष्टियों का एक संयोजन-दृष्टि संयोजन और अन्तिम दो का एक दूसरा संयोजन-परामर्श संयोजन क्यों है?

४१ सी-डी. द्रव्यों की समान संख्या के कारण और परामर्श साम्य के कारण दो दृष्टियों का एक पृथक् संयोजन होता है।[2] प्रथम तीन दृष्टियाँ १८ द्रव्य हैं। कामधातु की चतुः सत्त दर्शनादि हेय (५.४-५) मिथ्या दृष्टि; इसी प्रकार अन्त को दो (१२ दृष्टि परामर्श ६ शीलव्रतपरामर्श)।

अन्तिम दो दृष्टि परामर्श स्वभाव हैं, प्रथम तीन नहीं। वह और मात्सर्य यह दो संयोजन क्यों हैं? (विभाषा, ५०,७)

४२. ईर्ष्या और मात्सर्य इनमें से प्रत्येक संयोजन हैं क्योंकि पर्यवस्थानों में यह एकान्त अकुशल और स्वतन्त्र हैं।[3]

स्वतन्त्र अर्थात् केवला अविद्या (५.१४)—से संयुक्त पर्यवस्थान इस जाति के नहीं हैं।

---

१. एक असर्वत्रग दृष्टिसंयोजन है। यह मिथ्या दृष्टि स्वभाव है। यह विरोधमार्ग दर्शन हेय है किन्तु इसका आलम्बन अनास्रव धर्म है। (५.१८) परामर्श, दृष्टि संप्रयुक्त धर्म इसके आलम्बन नहीं हैं।

२. व्या० ४६०,८ [द्रव्यपरामर्शसम्याद्] दृष्टि संयोजनान्तरम् विभाषा, ५४,६।

३. व्या० ४६०,२४;२६. यत् एकान्ताकुशलस्वतन्त्रम् उभयं [ततः।] ईर्ष्यामात्सर्यमेवोक्तम् [पृथक् संयोजन द्वयम्]

एक दूसरे मत के अनुसार, आचार्य के अनुसार यह उक्ति उस वादी के लिए सुष्ठु है जिसको केवल आठ पर्यवस्थान इष्ट हैं। किन्तु जिस वादी को १० पर्यवस्थान (ऊपर पृ० ९०) इष्ट हैं उनके लिए यह परिहार नहीं है क्योंकि क्रोध और म्रक्ष भी उभय प्रकार के होते हैं। अर्थात् एकान्त, अकुशल और स्वतन्त्र होते हैं। इनको भी संयोजन गिनना चाहिए।[1]

भगवत् अन्यत्र कहते हैं[2] कि संयोजनों में,

---

१. व्या० ४९१, २ व्याख्या—इसमें परिहार नहीं होता (न भवत्ययं परिहारः) तो इसका परिहार क्या है? इस विषय में आचार्य संघभद्र कहते हैं (२३.५, और ६०, ८, आगे २९): अपने अभीक्ष्ण समुदाचार से ईर्ष्या और मात्सर्य पृथक्-पृथक् संयोजन माने जाते हैं...... । व्याख्या-संघभद्र के वाक्य का सार देती है और उस कारिका के अंश भी देती हैं, जिसे यह आचार्य समयप्रदीपिका (नन्जियो (Nanjio) १२६६) वसुबन्धु की कारिकाओं में जोड़ते हैं। शुआन चाङ् उक्त कारिका को (आगे १ बी २) वसुबन्धु की बताते हैं और भाष्य में (२ ए ८-२ बी २) इसकी टीका इस प्रकार देते हैं—

'जिसको १० पर्यवस्थान इष्ट हैं उसे ईर्ष्या और मात्सर्य को चार कारणों से पृथक् मानना चाहिए (१) इनके अभीक्ष्ण समुदाचार के कारण (अभीक्ष्णसमुदाचारित्वात्) २. क्योंकि वह सुगति में अल्पेशाख्य और अल्पभोगकर उत्पाद करते हैं (अल्पेशाख्य अल्पभोग-कारणत्वात्), यह ईर्ष्या और मात्सर्य का न्याययुक्त दण्ड है। (३) क्योंकि वह सर्व क्लेश की सूचना देते हैं (सर्वसूचनात्)। वह क्लेश संताप सहगत हैं (४) क्योंकि वह दो पक्षों को क्लेश देते हैं (द्विपक्षक्लेशनत्वात् च, विभाषा ५०, ८)। गृही और प्रव्रजित पक्ष (भोग की ईर्ष्या, धर्म की ईर्ष्या) [२ बी] देवासुर पक्ष, देव-मनुष्य पक्ष स्वयं और अन्य, अतः मात्सर्य और ईर्ष्या को अलग किया है। (मात्सर्येर्ष्ये पृथक्कृते) [भगवत् ने कहा है, "हे कौशिक! देव और मनुष्य ईर्ष्या और मात्सर्य से युक्त हैं यह आधिक्येन सुगति के क्लेश हैं।"

परमार्थ भी इस कारिका को वसुबन्धु की बताते हैं।......इस युक्ति से परिहार नहीं होता......श्लोकोक्ति है क्योंकि वे अल्पेशाख्य और अल्पभोग के कारण हैं, क्योंकि वे अल्प क्लेशों को सूचित करते हैं। क्योंकि वे दो पक्षों को क्लेश देते हैं इसलिए ईर्ष्या और मात्सर्य पृथक्-पृथक् संयोजन हैं भाष्य में है। अन्य आचार्य कहते हैं कि पर्यवस्थानों में ईर्ष्या और मात्सर्य में तीन दोष हैं। ईर्ष्या से अल्पेशाख्य होता है। कारिका का उद्धार करने के लिए शुआन चाङ् के प्रथम कारण को छोड़ना पड़ेगा।

अल्पेशाख्याल्पभोगत्वकारण सर्वसूचनात्।
द्विपक्षसंक्लेशत्वात् भोगकारणत्वात् द्विपक्षक्लेशनत्वाच्च मात्सर्येर्ष्ये पृथक् कृते॥

२. व्या० ४९१.द्र मध्यम, ५६, १२ (=मज्झिम, १.४३२; मालुङ्क्यपुत्र= मनटोङ्क्से), दीघ, ८, १, संयुक्त, २१, २१—दीघ, २.९२, २५२, ३.अंगुत्तर, ४.४५९, ५.१७...... ।

[८४] ४३ ए ५ अवरभागीय हैं,[1] अर्थात् सत्कायदृष्टि, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सा, कामच्छन्द और व्यापाद ।

[८५] जो अवरभाग अर्थात् कामधातु से संयुक्त हैं और जो अवरभाग के अनुकूल हैं उसे अवरभागीय कहते हैं[2] (विभाषा, ४९,२) इन पाँच संयोजनों में हो :—

४३ बी-सी. दोनों के कारण कामधातु का अतिक्रम नहीं होता; तीन के कारण निवर्तन होता है ।[3]

कामच्छन्द और व्यापाद के कारण कामधातु से निश्रमण नहीं होता; सत्काय दृष्टि और शेष दो संयोजनों के कारण कामधातु का अतिक्रमण करने वाले का वहाँ निवर्तन होता है । यह बन्धनागार के दौवारिक और उसके अनुचर के सदृश हैं ।

एक दूसरे मत के अनुसार[4] तीन के अनुसार सत्वावरता अर्थात् पृथक् जनत्व का अतिक्रम नहीं होता । दो के कारण धातुअवरता अर्थात् कामधातु का अतिक्रम नहीं होता, अतएव यह पाँच संयोजन अवरभागीय कहलाते हैं ।

व्या० ४९२.२. भगवत् का वचन है कि इन तीन संयोजनों के निरवशेष प्रहाण से (पर्यादाय त्रिसंयोजनप्रहाणात्)[5] पुद्गल श्रोत-आपन्न होता है । किन्तु दूसरी ओर श्रोत-आपन्न ने तीन दृष्टियों का भी प्रहाण किया है । अन्तग्राह दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श, ऐसा प्रतीत होता है कि भगवत् इन दृष्टियों को संयोजन कहते हैं क्योंकि यह पृथक् जनत्व से संयुक्त हैं ।

---

१. पञ्चधावरभागीयम् ।

२. विभाषा, ४९,२—यह पाँच अवरभागीय क्यों कहलाते हैं ? इस पद का क्या अर्थ है ! इन पाँच संयोजनों का अवरधातु में समुदाचार होता है इसी धातु में यह अनुसन्धान करते हैं (पुनर्भव की प्रतिसन्धि करते हैं ।) और निष्यन्द तथा विपाक फल का उत्पाद करते हैं ।)

३. व्या० ४९१.२२ द्वाभ्यां कामानतिक्रमः । [त्रिभिनिवर्तनम्]

४ व्या० ४९१.१ व्याख्या के अनुसार 'अपरे' योगाचार हैं । विभाषा में इस वाद का व्याख्यान है ।

५. व्या० ४९२.७. एकोत्तर, १६, १६, संयुक्त ३६, १३, ४७, ९,—व्याख्या के अनुसार सूत्र का प्रारम्भ इस प्रकार है, कियता भवन्त स्रोत आपन्नो भवति । यतश्च महानामन्नार्य श्रावक इदं दुखं आर्यसत्यं······इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् आर्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति त्रीणि चास्य संयोजनानि प्रहीणानि भवन्ति परिज्ञातानि तद्यथा सत्कायदृष्टिः शीलव्रतपरामर्शो विचिकित्सा च । स एषां त्रयाणां संयोजननां प्रहाणात् स्रोत आपन्नो भवति अविनिपातधर्मा संबोधिपरायणः सप्तकृद्भव परमः सत्वकृत्वो देवांश्च मनुष्यांश्च संसृत्य संधाव्य दुखस्यान्तं करिष्यति दीघ, ३.११७ से तुलना कीजिए १३२ अयं पुग्गलो यथा नु सिद्ध तथा परिपज्जमानो तिण्णं संयोजनानं परिक्खया सोत आपन्नो भविस्सति अविनिपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणो ।—पुग्गलपण्णत्ति, पृ० १२, में पृथक्जन का लक्षण—यस्स······तीणि संयोजनानि अप्पहिनानि······६.३४ ए-बी देखिए जहाँ हमारे सूत्र की टीका है ।

[८६] ४३ सी-डी तीन क्योंकि उनमें मूल और मुख का संग्रह है।[1]

क्लेश के तीन प्रकार हैं[2]—(१) प्रकार दुःखदर्शन मात्र हेय, सत्कायदृष्टि और अन्तग्राह दृष्टि, (२) द्विप्रकार दुःख मार्ग दर्शन हेय, शीलव्रतपरामर्श (३) चतुष्प्रकार—चतुः सत्यदर्शन हेय विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि और दृष्टि परामर्श—प्रथम तीन संयोजनों को सूचित कर भगवत् अन्य क्लेशों के मुख को, प्रत्येक प्रकार के आदि को सूचित करते हैं।

वह मूल भी सूचित करते हैं, क्योंकि अन्तग्राहदृष्टि सत्कायदृष्टि से, दृष्टिपरामर्श शीलव्रतपरामर्श से, मिथ्यादृष्टि विचिकित्सा से प्रवर्तित होती है।

दूसरों[3] का कहना है;

४४. तीन की सूचना है, क्योंकि मोक्ष की गति में तीन ही विघ्नकारक हैं; गमन की अप्रार्थना, मार्गविभ्रम, मार्गसंशय।[4]

यथा लोक में देशान्तर गमन में यह तीन अन्तराय हैं, उसी प्रकार मोक्ष की गति में यह अन्तराय हैं; ए. सत्काय दृष्टि जो मोक्ष का भय जनित करती है और वहाँ जाने की अनिच्छा उत्पन्न करती है; बी. शीलव्रत परामर्श,

[८७] जिससे अन्य मार्ग का संश्रयण कर पुद्गल को मार्ग विभ्रम होता है; सी. विचिकित्सा, मार्ग के विषय में संशय। यह बताने के लिए कि स्रोत आपन्न ने इन तीन विघ्नों का निरवशेष प्रहाण किया है, भगवत् कहते हैं कि उनके तीन संयोजन प्रहीण हैं।

यथा भगवत् पाँच संयोजनों को अवरभागीय मानते हैं उसी प्रकार[5]

४५ ए-सी. पाँच ऊर्ध्वभागीय हैं अर्थात् रूपजराग, आरूप्यजराग, औद्धतमान और अविद्या।[6]

यह ऊर्ध्वभागीय हैं, अर्थात् यदि पुद्गल ने इनका प्रहाण नहीं किया है तो वह ऊर्ध्व-धातुओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

---

१. [मूलमुख्योः संग्रहात् त्रयम्]।

२. व्या ४६२,१५ "त्रिप्रकाराः किल क्लेशाः" सिद्धान्त के अनुसार क्लेश तीन प्रकार के हैं। यहाँ दर्शनहेय ५.४ इष्ट है। शुआन-चाङ्:—सुष्ठु व्याख्यान यह है कि जब स्रोत आपन्न के ६ क्लेश प्रहीण होते हैं तब यह कहा जाता है कि उसने तीन का त्याग किया है क्योंकि इन तीन में संगृहीत हैं ·······।

३. 'अपरे' अर्थात् व्याख्या के अनुसार आचार्य।

४. (गमनाप्रार्थना) मार्गविभ्रम [मार्गसंशयाः मोक्षगतिविघ्नकरास्तावन्ताः···]।

५. दीर्घ, ८,२—विभाषा, ४९,६। इनके कारण ऊर्ध्वगमन होता है। पुद्गल ऊर्ध्वाभिमुख होता है। सन्तति की अरर्व प्रतिसन्धि होती है।

६. व्या० ४६२,३२. पंचधैवोर्ध्वभागीयम् (रूपारूप्यं च रंजने। औद्धत्यमानमोहाश्च) 'रंजने' रागों के लिए अतिसंदिग्ध है।

संयोजकों का आख्यान समाप्त हुआ।[1]

कितने बन्धन हैं? तीन—अर्थात् सर्वराग, सर्वद्वेष, सर्वमोह। केवल यही तीन बन्धन क्यों कहलाते हैं?

४५ डी. वेदनावश तीन बन्धन हैं।[2]

तीन वेदनाओं के कारण (वित्ति वेदना) तीन बन्धन हैं।

राग अनुशयन करता है अर्थात् सुखादि वेदनायें, आलम्बन और संयोजन, प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठा का लाभ करता है।

[८८] दुःखावेदनीय द्वेष और अदुःखासुखा वेदना में (२.८ सी) मोह अनुशयन करता है और राग-द्वेप का अनुशयन मोह के अनुशयन के समान नहीं है।[3] अथवा पूर्वोक्त नियम की अभिसन्धि स्वसान्तनिक वेदना से है।

अनुशयों का निर्देश ऊपर हो चुका है।[4]

---

१. [संयोजनदशा निष्ठिता]।

२. एकोत्तर, ६,६, संयुक्त, ३४,४—राग त्रैधातुक हैं। मोह (अविद्या) भी सर्वराग, सर्वमोह, धातुतः रागतः रागमोह (प्रहाण प्रकार ५.५) द्वेष (प्रतिघ) केवल कामधातु में हैं। सर्व द्वेष, प्रकारतः द्वेष, बन्धनं सङ्गीति, सूत्रान्तादि की सूचियों में नहीं है किन्तु संयुक्त ६.२६२ देखिये।

वित्तिवशात् त्रिबन्धनन्॥ ऊपर पृ० २ टिप्पणी १ और ५.५५ ए-बी. देखिए।

३. सुखायां वेदनायां रागोऽनुशेरते आलम्बसम्प्रयोगाभ्यां दुःखाभ्यां द्वेषः।

अदुःखासुखायां मोहः। न तथा रागद्वेषौ। अर्थात् राग और द्वेष भी अदुःखासुखा-वेदना में अनुशयन करते हैं किन्तु इनका प्रकार मोह से भिन्न है, मोह अणु है अतः वह अपटु, अदुःखासुखवेदनाओं की अनुकूलता के कारण अधिक सुगमता से पुष्ट होता है। अथवा यह समझना चाहिए व्या० ४६३.१३ कि अभिसन्धि स्वसान्तानिक वेदना के राग-द्वेष-मोह से है। दूसरों का व्याख्यान इस प्रकार है। राग और द्वेष उस प्रकार नहीं हैं। अर्थात् द्वेष शत्रु सुख में आलम्बनतः प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार राग शत्रु दुःख में आलम्बनतः प्रवृत्त होता है अथवा नियम स्वासान्तानिक आलम्बनवश है। राग स्वसान्तानिक सुख में अनुशय करता है आलम्बनतः और संप्रयोगतः। पर सान्तानिक शत्रु सुख में नहीं। व्याख्या—नैत्तिप्प-करण पृ० ३२ से तुलना कीजिए—अदुक्खमसुखाय हि वेदनाय अविज्जा अनुसेति। योगसूत्र, २ ७-८ से तुलना कीजिए: सुखानुशयीरागः। दुःखानुशयीद्वेषः।

स्वलक्षण क्लेशों के बाद, (५.२३) ऊपर देखिये।

४. शुआन-चाङ् इसका एक पाद बनाते हैं और उसके साथ एक संक्षिप्त भाष्य देते हैं अनुशय क्या है? यथा व्याख्यात ६, ७, १० या ९८ हैं। अनुशयों का व्याख्यान निष्ठित हुआ। प्रश्न है कि उपक्लेश क्या हैं?

व्या० ४९३,२२, अब उपक्लेशों का निर्देश करते हैं। क्लेश उपक्लेश हैं, क्योंकि वह चित्त को क्लिष्ट करते हैं। (चित्तोपक्लेशनात्=चित्तक्लेशकरणात्)।

४६. जो क्लिष्ट चैत्त संस्कार स्कन्ध में संगृहीत हैं और क्लेश से अन्य हैं वह उपक्लेश ही हैं, वह क्लेश नहीं कहलाते।[१]

क्लेशों से अन्य धर्म जो क्लिष्ट चेतसिक हैं और संस्कार स्कन्ध में संगृहीत हैं (१.१५) [४ बी] वह केवल उपक्लेश हैं, उपक्लेश—अर्थात् जो क्लेश के समीप हैं अथवा क्लेश जिनका समीपवर्ती है, (जो क्लेश प्रवृति का अनुवर्तन करता है) वह क्लेश नहीं होता क्योंकि वह मूल नहीं है।[२]

[८९] वह उपक्लेश ही हैं जो प्रवचन के क्षुद्रवस्तुक भाग में पठित हैं।[३]

अब हम क्लेश का पर्यवस्थान और क्लेशमल (पृ० ९४, १'५) के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट करेंगे। पर्यवस्थान क्या है?

४७-४८ ए० आह्रीक्य, अनपत्राप्य, ईर्ष्या, मात्सर्य, औद्धत्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध, पर्यवस्थान आठ प्रकार का है; क्रोध और म्रक्ष।

---

१. येऽप्यन्येचेतसाः [क्लिष्टाः संस्कारास्कन्धसाह्वयाः। क्लेशेभ्यस्त उपक्लेशा न ते क्लेशा इतीरिताः ॥]

२. व्याख्या में शास्त्र उद्धृत है : ये यावत् क्लेशा उपक्लेशा अपि ते स्युः। उपक्लेशा न क्लेशाः

अंगुत्तर, २'५३, अत्थसालिनी, ३८० के उपक्लेश का क्लेशों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

३. 'जो क्षुद्रवस्तुक में पठित हैं' इन शब्दों से आचार्य चेतनादि को वर्जित करते हैं। व्याख्या—क्षुद्रवस्तुक में पठित सूची को उद्धृत करती है। पाठ संदिग्ध है। अरति, विजृम्भिका (अंगुत्तर १'३, संयुत्त ५'६४, विभंग पृ० ३५१ विसुद्धिमग्ग, ३३ [ऊपर ५'५९ बी] देखिये), नानात्वसंज्ञा, अ (योनिशो) मनस्कार, कायदौष्ठुल्य, शृङ्गी( =सिंग, विभंग, ३५१; अंगुत्तर २'२६; मॉरिस (morris) १८८५ पृ० ५३), तिन्तिलीका (?) पोथीयों में भितिरीका; विभङ्ग ३१५, अंगुत्तर, ५'१४९, तिन्तिण=निल्लज्ज), अनजिवता, अमार्दवता, असभागानुवर्तना (असभागवृत्ति), कामवितर्क (महानिद्देश, पृ० ५०१), व्यापादवितर्क, विहिंसावितर्क, ज्ञातिवितर्क, जनपदवितर्क, अमरवितर्क [५'५९ बी], अपमन्यनाप्रतिसंयुक्तवितर्क (?) (पोथियों में अचरन्यता'; महानिद्देस, परानुद्दयता'), कुलोदयताप्रतिसंयुक्त वितर्क, शोकदुःखदौर्मनस्य उपायासाः २ २७, अनुवाद पृ० १६५; ऊपर पृ० ९९।

संघभद्र उपक्लेशों की संख्या २१ सूचित करते हैं। यह हमारी सूची के अनुकूल है—महानिद्देस ९ वितर्क।

४. [आह्रीक्यमनपत्राप्यमीर्ष्यामात्सर्यमुद्धतिः।
कौकृत्यस्त्यानमिद्धानि पर्यवस्थानमष्टधाः ॥
क्रोधो म्रक्षश्च]

क्लेश भी पर्यवस्थान है जैसा इस सूत्रवचन से सिद्ध होता है। कामरागपर्यवस्थानवश दुःख का संवेदन होता है।[१]

[६०] प्रकरणपादशास्त्र (१.५) की शिक्षा है कि ८ पर्यवस्थान हैं। वैभाषिक उन्हें १० मान कर क्रोध और म्रक्ष जोड़ते हैं।

१-२. आह्रीक्य और अनपत्राप्य २.३२ में व्याख्यात हो चुके हैं।

३. ईर्ष्या, दूसरे की सम्पत्ति में चित्त का दौर्मनस्य ईर्ष्या है।

४. व्या० ४६५.५ मात्सर्य, (मा मत्तः सरतु) चित्त का आग्रह (आग्रह, महाव्युत्पत्ति, १०६, २६) है जो धर्मदान, आमिषदान (४.११३) और कौशलदान का विरोधी है (अत्यसालिनी, ३७३)

५. औद्धत्य, यथा २.२७ में।

६. कौकृत्य, यथा २.२८ में। कौकृत्य कुशल या अकुशल है। केवल क्लिष्ट कौकृत्य पर्यवस्थान है।

७. स्त्यान, यथा २.२६ में (कायचित्ताकर्मण्यता)।

८. मिद्ध, (२.२७, ७.११ डी) चित्त का अभिसंक्षेप है जो उसको कार्य संधारण में असमर्थ बनाता है।[२]

मिद्ध कुशल, अकुशल, अव्याकृत है। केवल क्लिष्ट मिद्ध पर्यवस्थान (२.३० सी-डी) है।

९. क्रोध, (२.२७) सत्व-असत्व के प्रति व्यापाद, विहिंसा वर्जित चित्त का आघात है।[३]

१०. म्रक्ष, अपने अवद्य दोषों का प्रच्छादन करता है (२.२७)।[४] पर्यवस्थानों का समुदय क्या है?

---

१. क्लेशोऽपि हि पर्यवस्थानं कामरागपर्यवस्थानप्रत्ययं दुःखं प्रतिसंवेदयत इति सूत्रवचनात्—ऊपर पृ० ३, ४ देखिये।

२. समापत्ति में भी चित्त का अभिसंक्षेप होता है; इसलिए अवधारण के लिए इतना विशेष है कि जो असमर्थ कर देता है।

३ व्या० ४६४. १४ अमी ''' सत्वाः '' वध्यन्तां वा शीर्यन्तां वा अनयन व्यसनमापद्यन्तां इत्याकार प्रवृत्तो व्यापादः। सत्वाकर्षणसंत्रासतर्जनादिकर्मप्रवृत्ता विहिंसा। ताभ्यामन्यः सत्वासत्वयोराघातः क्रोधः। तद्यथा भिक्षाकामस्य भिक्षोश्चित्तप्रकोपः कण्टकादिषु च प्रकोप इति। व्यापाद की प्रवृत्ति अभिशाप के आकार में होती है। यह सत्व विनष्ट हो व्यसन को प्राप्त हों। विहिंसा की प्रवृत्ति तर्जनादि कर्म के आकार में होती है। क्रोध इनसे अन्य है। यह सत्व असत्व के प्रति व्याघात है। यह भिक्षा चाहने वाले भिक्षु का प्रकोप है, यों कण्टकादि के प्रति प्रकोप है?

४. ४४, अनुवाद पृ० २०, टिप्पणी देखिये।

[९१] ४८ बी-४९ बी' राग से आह्रीक्य, औद्धत्य, मात्सर्य समुत्थित होते हैं। म्रक्ष के विषय में विवाद है। अविद्या से स्त्यान, मिद्ध, अनपत्राप्य प्रवृत्त होते हैं, विचिकित्सा से कौकृत्य का और प्रतिघ से ईर्ष्या और क्रोध का उद्भव होता है।[1] उत्थित होना इसका अर्थ 'निष्यन्द होना है' (२'५७ सी)।

म्रक्ष के विषय में विवाद है। कुछ के अनुसार यह तृष्णा निष्यन्द है। दूसरों के अनुसार यह अविद्या निष्यन्द है। दूसरों के अनुसार उभय निष्यन्द है।[2]

इस प्रकार यह १० उपक्लेश क्लेशनिष्यन्द हैं।[3]

[यथा शरीर से मल निष्क्रान्त होता है उसी प्रकार क्लेशों से क्लेश मल उत्पन्न होते हैं]। क्लेशमल क्या है?

[सिद्धि ३६७ देखिए] ४९ सी-५० बी. दूसरे उपक्लेश में ६ क्लेशमल हैं; माया, शाठ्य, मद, प्रदाश, उपनाह और विहिंसा,[4] [५ बी]

[९२] १. माया का लक्षण इस प्रकार है, वह धर्म जो परवंचना करता है।

२. शाठ्य, यह चित्त की कुटिलता है जिसके कारण पुद्गल अपने को यथाभूत प्रदर्शित और प्रतिषेध नहीं करता, जब उसे प्रतिषेध करना चाहिये। (पर्याय मदवश क्षेप करता है यथा ब्रह्मा)।[5]

---

१. [रागोत्था आह्रीक्यौद्धत्यमत्सराः। विवादो म्रक्षेऽविद्यातः स्त्यानं (तु) मिद्धमत्रपा] कौकृत्यं विचिकित्सातः [क्रोधेर्ष्ये प्रतिघोद्भवे]।

२. ज्ञाताज्ञातानाम् :—चीनी भाषान्तर का अर्थ यथाज्ञात पुरुष है या अज्ञातपुरुष है। व्याख्या-राजादिभिर्ज्ञातानां म्रक्षवतां पुद्गलवतां म्रक्षस्तृष्णानिष्यन्दो यो मे लाभसत्कारो न भविष्यतीति। अज्ञातानां अविद्या निष्यन्दः कर्मस्यकतां (??) अश्रद्धधानस्तदवद्यं प्रच्छादयति। न परस्यान्तिके विशुद्धवर्धम् देशयति। पुद्गल अपने अवद्यों को छिपाता है। या तो इसलिए कि वह लाभ-सत्कार की हानि का भय करता है या इसलिए कि वह धर्म व्यतिक्रम (?) में श्रद्धा नहीं रखता। वह विशुद्धि के लिए दूसरे के समीप पाप देशना नहीं करता, जैसा कि प्रत्येक को करना चाहिए ज्ञात-यसस्सी, मज्झिम, ३'३८।

३. इस स्थान पर यह शुआन चाड् में नहीं है।

४. [अन्येऽपि षट् क्लेशमला मायाशाठ्यं मदस्तथा। प्रदाश उपनाहश्च विहिंसनं च]

५ यही वाक्य ४'८ ए में है जहाँ शुआन चाड् का अनुवाद यह है या वह अयथार्थतः प्रतिषेध नहीं करता········। कोरदिए (Cordies) के अनुसार ४'८ ए शब्द श्वास का निःसार करने के लिए आत्मश्लाघा करता है।

अर्थात् केवल व्यर्थ वचन निःसृत करने के लिए·········और ५'४९ कुटिलचित्त जिसके कारण यथाभूत को न जानकर पुद्गल अर्थशून्य या अस्फुट वचन कहता है। नीचे पृष्ठ ९३ देखिये।

वह अस्फुट करने के लिए और मिथ्याकरण करता है।

३. मद, जैसा २'३४ सी-डी में है।

४. प्रदाश, सावद्यवस्तुपरामर्श है, जिसके कारण पुद्गल दूसरे से अपवाद का लाभ नहीं करता।

५. उपनाह : वैरानुबन्ध है।

६. विहिंसा दूसरों को पर्यंहेठना के लिए वाक् और कर्म के आकार में प्रवृत्त होती हैं (पृ० ६० टिप्पणी २ देखिये)।

५० बी-५१ बी माया और मद, राग से समुत्थित होते हैं, विहिंसा और उपनाह द्वेष से, प्रदाश दृष्टि-परामर्श से उद्भूत होती है। शाठ्य (पाँच) दृष्टियों से समुत्थित होता है।[१]

शाठ्य दृष्टिनिष्यन्द है क्योंकि एक श्लोक में उक्त है, कौटिल्य क्या है? मिथ्यादृष्टि आदि दृष्टि।[२]

पर्यवस्थान और मल क्लेशों से उत्पन्न होते हैं अतएव वह उपक्लेश हैं।

उभय का प्रहाण कैसे होता है?

५१ सी ५२ बी—आह्रीक्य, अनपत्राप्य, स्त्यान, मिद्ध और औद्धत्य

[६३] दर्शन भावना हेय हैं। अन्य पर्यवस्थान और मल स्वतंत्र होने से केवल भावना हेय हैं।[३]

पाँच पर्यवस्थान—अर्थात् आह्रीक्यादि पाँच—दो क्लेशों से संप्रयुक्त होने से द्विविध हैं। अर्थात् दर्शनहेय और भावनाहेय हैं। वह उस सत्यदर्शन से हेय हैं, जिससे उपक्लेश का प्रहाण होता है, जिससे वह संप्रयुक्त है। ईर्ष्यादि अन्य पर्यवस्थान केवल भावनाहेय हैं।[४] वास्तव में यह स्वतंत्र हैं, केवल भावनाहेय अविद्या से संबन्धित हैं। क्लेशमलों का भी ऐसा ही है।

क्या सब उपक्लेश अकुशल हैं।

५२ सी-डी. कामधातु के तीन दो प्रकार के हैं। अन्य अकुशल हैं। ऊर्ध्व के उपक्लेश अव्याकृत हैं।[५]

---

१. [रागजौ शाठ्यमदौ प्रयीधजे उपनाह विहिंसने ॥]

२. परमार्थ के अनुसार 'कौटिल्यमिति कतमो धर्मः।
मिथ्यादृष्ट्यादि दृष्टिः'—४'५६ देखिये।

३. [तत्राह्रीक्यानपत्राप्यस्त्यानमिद्धोद्धतिः द्विधा ॥ ] तेभ्योऽन्ये भावनाहेयाः (स्वातन्त्रिकास्तथा मलाः)
औद्धत्य के लिए 'उद्धति' पाठ है।

४. व्या० ४६५,८. स्वतंत्र—न रागादिपरतंत्रा—रागादि आश्रित नहीं।

५. व्या० ४६५,११ [कामे शुभा द्विधा त्रीणि] परेणाव्याकृतास्ततः।

स्त्यान, औद्धत्य और मिद्ध अकुशल और अव्याकृत हैं। कामधातु से ऊर्ध्व जिनके होने की सम्भावना है वह उपक्लेश अव्याकृत हैं।

विविध धातुओं में कितने उपक्लेश हैं?

५३ ए-बी. कामधातु और प्रथम ध्यान में माया और शाठ्य हैं क्योंकि ब्रह्मा प्रवंचना करना चाहता है।[1]

यह दो उपक्लेश काम और रूप दो धातुओं में होते हैं। इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि महाब्रह्मा विनयसंदर्शन कर आयुष्मान् अश्वजित् का प्रवंचन करने में प्रवृत्त हुआ था।[2]

[९४] हम शीघ्र ही विचार पूर्व (२'३१, ४'८ ए, ५'४९ सी) कर चुके हैं। यहाँ भी प्रसंगवश कहा है।

५३ सी-डी. तीन धातुओं से स्त्यान, औद्धत्य और मद, काम धातु में अन्य।[3]

१० पर्यवस्थान और ६ मल इन १६ उपक्लेशों में से ११ केवल कामधातु में हैं। माया, शाठ्य, स्त्यान, औद्धत्य और मद इन पाँच को वर्जित करते हैं। क्लेश और उपक्लेशों में कितने केवल मनोभूमिक हैं, कितने षड्विज्ञानभूमिक हैं?

५४. सप्तदर्शनहेय क्लेश, मान, मिद्ध और स्वतंत्र उपक्लेश मनोविज्ञानभूमिक हैं। अन्य के आश्रय षड्विज्ञान हैं।[4] दर्शनहेय क्लेश और उपक्लेशों का आश्रय केवल मनोविज्ञान है। इसी प्रकार मान और मिद्ध का—जो भावनाहेय हैं क्योंकि वह दोनों साकल्यन (तीन धातुओं में) मनोभूमिक हैं। इसी प्रकार भावना हेय (स्वतंत्र, ईर्ष्या, मात्सर्यादि) उपक्लेश हैं। अन्य के षड्विज्ञान आश्रय हैं। भावनाहेय राग प्रतिघ अविद्या इससे संप्रयुक्त उपक्लेश,

---

१. शाठ्यं माया च कामाद्यध्यानयोर ब्रह्मवंचनात् ॥

२. वितथात्मसंदर्शनतयेति वितथस्यात्मनः संदर्शनतया महाब्रह्मा आयुष्मन्तं अश्वजितं वञ्चयितुं प्रवृत्तः। कुत्रेमानि ब्रह्मन् महाभूतान्यपरिशेषं निरुध्यन्त इति पृष्टोऽप्रजानन् क्षेपमकार्षीत्। अहमस्मि ब्रह्मा, महाब्रह्मा, ईश्वरकर्त्ता, निर्माता सृष्टा (व्यक्षः) पितृभूतो भूतभव्यानाम् इति मायया वञ्चयितुमारब्धाः। अथ स महाब्रह्मा अश्वजितं करे गृहीत्वा एकान्ते अस्यादेकान्ते स्थितश्चेदमुक्तवान्। विद्यमाने तथागते मां प्रष्टव्यं मन्यसे इतीदमस्य शाठ्यं दृश्यते। स्वपरिषल्लज्जया ह्यात्मीयम् अ (कुशल) ताम् निगृह्यमानः स तथा कृतवान् इति।

पोथियों में स्रष्टा त्यजः पितृभूतो पाठ है। दीघ, १'२२१ : निम्माता सेट्ठो संजिता वसी पिता (संजिता पर ओ० फांके O. Franke पृ० २६) दीर्घ (२३'६, ८३): स्रष्टा निर्माता अस्मि सत्वानां पिता माता (एस० लेवी S. Levi)

३. [स्त्यानौद्धत्यमदा धातुत्रये ऽन्येकामधातुजाः ॥]

४. समानमिद्धा हग्हेया मनोविज्ञानभूमिकाः।

व्या० ४६५,२८. उपक्लेशाः स्वतंत्राश्चाऽन्ये षड्विज्ञानसाश्रयाः ॥

साश्रयः ?

अपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य और वह जो क्लेश महाभूमिकों में उक्त है—आश्रद्धय, कौशीय और प्रमाद (२ २६ ए-सी)। प्रश्न है कि वेदनेन्द्रियों से (सुखेन्द्रियादि २'७) क्लेश और उपक्लेश संप्रयुक्त होते हैं।

[६५] १. पहले कामधातु के क्लेशों के सम्बन्ध में।

५५ ए-बी. राग दो सुखेन्द्रियों से संप्रयुक्त हैं। प्रतिघ, दुःखेन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय से संयुक्त है क्योंकि राग और प्रतिघ यथाक्रम हर्षाकारवर्ती और दैन्याकारवर्ती हैं और दोनों षड्-विज्ञानभूमिक हैं।

५५ सी. सब के साथ अविद्या[२]

सर्व क्लेशों से संप्रयुक्त होने से अविद्या पांच वेदनाओं से संयुक्त है।[३]

५५ सी-डी. नास्ति दृष्टिदौर्मनस्य और सौत्रवस्य के साथ[४]

पुण्यकर्म करने वालों में मिथ्यादृष्टि दौर्मनस्य से संप्रयुक्त होती है क्योंकि वह पुण्यक्रिया के नैरर्थक्य को देखते हैं। पाप करने वालों में मिथ्यादृष्टि सौमनस्य से संप्रयुक्त होती है।

५६ ए दौर्मनस्य के साथ विचिकित्सा।[५]

[६६] क्योंकि विनिश्चय की आशा करने वाला विचिकित्सक दौर्मनस्य से संप्रयुक्त होता है।

५६ बी. सुख के साथ अन्य।[६]

अन्य अर्थात् मिथ्यादृष्टि को वर्जितकर दृष्टियाँ और मान सौमनस्य से संप्रयुक्त हैं क्योंकि वह ईर्ष्याकारवर्ती हैं। अब तक हमने किन अनुशयों का विचार किया?

५६ बी. कामधातु के।[७]

इन अनुशयों का भेद सूचित कर आचार्य एक सामान्य लक्षण सूचित करते हैं।

५६ सी. उपेक्षा के साथ सब।[८]

---

१. व्या० ४६५, ३२. सुखाभ्यां संयुतो रागः, प्रतिघस्तद् विपर्ययात्।]
५'४५ डी देखिये।

२. सर्वैरविद्याः

३. शुआन चाङ् के अनुसार अविद्या प्रथम चार इन्द्रियों से (सुख, सौमनस्य, दुःख, दौर्मनस्य) जो ईर्ष्याकार और दैन्याकार हैं और षड् विज्ञानभूमिक हैं संप्रयुक्त हैं।

४. [मनसः सुखदुःखेन नास्तिदृक् ।।] भाष्य
मन : सुख=सौमनस्य

५. [मनो दुःखेन निर्मतः]

६. [अन्ये सुखेन ??]

७. [कामजाः]

८. [सर्व उपेक्षया]

यह सब अनुशय उपेक्षेन्द्रिय संप्रयुक्त हैं, क्योंकि सिद्धान्त कहता है कि क्लेश सन्तति को विनाशावस्था में उपेक्षा अवश्य संस्थान करता है (उपेक्षा संतिष्ठते)।

२. ऊर्ध्वधातुओं के क्लेशों के सम्बन्ध में—

५६ सी-डी. ऊर्ध्वभूमिक यथा भूमिस्वेन्द्रिय से संप्रयुक्त होते हैं।[1] जिस भूमि में जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उतनी स्वेन्द्रियों से ऊर्ध्वभूमिक अनुशय संप्रयुक्त होते हैं (२. १२, ८.१२ देखिये)।

प्रथम ध्यानभूमि में जहाँ चक्षु, श्रोत्र, काय, मन यह चार विज्ञान होते हैं। इन विज्ञानों में से प्रत्येक से सहोत्पन्न अनुशय उस विज्ञान के वेदनेन्द्रियों से संप्रयुक्त होते हैं। (१) त्रि (चक्षु, श्रोत्र, काय) विज्ञान कायिक सुखेन्द्रिय होती है। (२) मनोविज्ञान कायिक सौमनस्येन्द्रिय होती है।

[६७] चातुर्विज्ञानकायिक उपेक्षेन्द्रिय होती है।[2] द्वितीय ध्यानादि में जो केवल मनोभूमिक हैं, इस विज्ञान के सहोत्पन्न अनुशय यथा-भूमि इस विज्ञान के वेदनेन्द्रियों से संप्रयुक्त होते हैं।[3] द्वितीय ध्यान में सौमनस्य और उपेक्षा, तृतीय ध्यान में सुख और उपेक्षा, चतुर्थ ध्यान और आरूप्यों में उपेक्षेन्द्रिय।

३. उपक्लेशों के सम्बन्ध में—

५७ ए-सी दौर्मनस्य के साथ कौकृत्य, ईर्ष्या, क्रोध, विहिंसा, उपनाह और प्रदाश[4]

यह उपक्लेश दौर्मनस्येन्द्रिय से संप्रयुक्त हैं, क्योंकि यह दैन्याकारवर्ती हैं और मनोभूमिक हैं।

५७ डी. विपर्यय के साथ मात्सर्य।[5]

मात्सर्य सौमनस्येन्द्रिय से संप्रयुक्त है, यह हर्षाकारवर्ती है।

व्या० ४९६, २४ क्योंकि यह लोभहेतुक है (लोभान्वयत्वेन)।

५८ ए-बी. शाठ्य, माया, म्रक्ष और मिद्ध उभय संप्रयुक्त है।[6]

यहाँ सौमनस्येन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय से संप्रयुक्त हैं। प्रवंचना सौमनस्य के साथ होती है। अपनी प्रवंचना दौर्मनस्य के साथ होती है।

---

१. [स्वैः स्वैर्यथाभूमि ऊर्ध्वभूमिकाः ॥]

२. भाष्य, चतुर्विज्ञानकायिकाश्चतुर्विज्ञानकायिकैः संप्रयुक्ताः।

३. भाष्य, मनोभूमिका मनोभूमिकैरेव संप्रयुक्ताः।

मनोभूमिक अनुशय केवल मनोभूमिक इन्द्रियों से ही संप्रयुक्त होते हैं।

४. [दौर्मनस्येन कौकृत्यं ईर्ष्या क्रोधो विहिंसनम्, उपनाहः प्रदाशश्च।

५. मात्सर्यं तद् विपर्ययात् ॥

६. [शाठ्यमायामिद्धम्रक्षा उभयसंयुक्ताः]

[९८] ५८ बी-सी. दो सुखेन्द्रियों के साथ मद[1]

तृतीय ध्यान में मद सुखेन्द्रिय संप्रयुक्त होता है। अवर ध्यानों में सौमनस्येन्द्रिय से संप्रयुक्त होता है,[2] ऊर्ध्व में उपेक्षेन्द्रिय से संप्रयुक्त होता है। अतः

५८ सी. उपेक्षा सर्वग है।[3]

उपेक्षा से सब संप्रयुक्त होते हैं। यथा क्लेश उपक्लेश में अविद्या के संप्रयोग का प्रतिषेध कहीं नहीं है, उसी प्रकार उपेक्षा के संप्रयोग का भी प्रतिषेध नहीं है।

५८ डी. दूसरे चार पाँच के साथ[4]

चार पर्यवस्थानों का अर्थात् आह्रीक्य, अनपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य का ५ वेदनेन्द्रियों से संप्रयोग होता है, क्योंकि प्रथम दो अकुशल-महाभूमिक हैं (२'२६)। एक दूसरी दृष्टि से सूत्र[5] वचन है कि क्लेश और उपक्लेशों में पाँच नीवरण होते हैं—(१) कामच्छन्द (२) व्यापाद (३) स्त्यानमिद्ध (४) औद्धत्य (५) विचिकित्सा।

[९९] क्या त्रैधातुक स्त्यान औद्धत्य और विचिकित्सा का ग्रहण है या केवल कामधातुक का? सूत्र में उक्त है कि नीवरण एकान्त अकुशल हैं।[6]

५९ ए. नीवरण कामधातु में होते हैं[7] अन्यत्र नहीं।

स्त्यान, मिद्ध और औद्धत्य कौकृत्य इन दो के एक-एक नीवरण क्यों हैं?

---

१. [मदः सुखाभ्याम्]

२. शुआन चाङ् के अनुसार ""अधरभूमियों के सौमनस्येन्द्रिय से पूर्ववर्णित एवं उपक्लेश उपेक्षेन्द्रिय संप्रयुक्त होते हैं, क्योंकि सन्तति के उपच्छेद के काल में (ऊपर पृ० ९६ पंक्ति १३ देखिये) सब उपेक्षा के साथ पाये जाते हैं, क्योंकि एक प्रतिपद (६'६६) एकान्ततः उपेक्षा भूमि की है। यथा कोई प्रतिषेध नहीं है.........।

३. [सर्वगोपेक्षा]

४. [चत्वारोऽन्ये तु पंचभिः।]

५. संयुक्त २६, २८, एकोत्तर २४, २; ६'७७ अनुवाद पृ० १६७, टिप्पणी में सूत्र उद्धृत है। विभाषा, ३८,१ पाँच नीवरण इस शब्द का अर्थ ४८, १४; यह इस क्रम में क्यों परिगणित हैं। (वसुमित्रादि के अभिधम्म संग्रह के अनुसार ६ नीवरण अविद्या को सम्मिश्रित करते हैं। कम्पेंडियम पृ० १७२ टि० देखिये। (नीवरण = ध्यान समापत्ति के आवरण) कोश, ४ अनुवाद पृ० २०१, टि० १, अत्थसालिनी, ३७७।

६. व्या० ४९७ ४. केवलोऽयं परिपूर्णोऽकुशलराशिर्यद् उत पंचनीवरणानि-संयुक्त ५'१४५ से तुलना कीजिए।

७. व्या० ४९७'५ कामेन नीवरणानि—योग सूत्र, १'३० का स्थान स्त्यान है।

५६ बी-सी. दो-दो के एक-एक नीवरण हैं क्योंकि उनका विपक्ष, आहार और कृत्य एक है।[1]

विपक्ष अर्थात् प्रतिपक्ष, अनाहार सूत्र में उपादिष्ट है कि स्त्यान और मिद्ध का एक आहार, एक अनाहार है। स्त्यान मिद्ध का आहार क्या है? पांच चर्म अर्थात् तन्द्री, अरति, विजृम्भिका, भक्तेऽसमता, चेतसो लीनत्व। उसका अनाहार क्या है? आलोक-संज्ञा।[2]

स्त्यान और मिद्ध का एक ही कृत्य (क्रिया) है, यह चित्त को लीन करते हैं। इसी प्रकार औद्धत्य और कौकृत्य का एक आहार, एक अनाहार एक कृत्य है। आहार चार—धर्म ज्ञाति वितर्क, जनपद वितर्क, अमर वितर्क, पूर्व.........संसर्गचर्यास्मृति।[3]

अनाहार समर्थकृत्यः चित्त का व्युपशम।[4]

[१००] किन्तु सब क्लेश नीवरण हैं। सूत्र में पांच नीवरण क्यों गिनाये हैं?

५६ सी-डी. केवल पांच एक स्कन्ध के उपघात से, विचिकित्सा से।[5]

कामच्छन्द और व्यापाद शीलस्कन्ध का उपघात करते हैं। स्त्यानमिद्ध प्रज्ञास्कन्ध का विघात करते हैं। औद्धत्य-कौकृत्य समाधिस्कन्द का विघात करते हैं। प्रज्ञा और समाधि के अभाव में सत्यों के विषय में विचिकित्सा होती है।[6]

किन्तु दूसरों का कहना है कि इस कल्पना में औद्धत्य-कौकृत्य का जो समाधि में नीवरण है नीवरणों की सूची में स्त्यान मिद्ध के पूर्व ग्रहण होना चाहिए। अतः इन दो नीवरणों

---

१. व्या० ४६७'७ एकविपक्षाहारकृत्यतः। [द्वे एकम्] यह विभाषा ३८, १० का वाद है।

२. संयुक्त २७, ऊपर पृ० २६, टिप्पणी २, संयुत्त ५'६४, अंगुत्तर, १'३, ५'११३ आलोक संज्ञा, दीघ, ३'४६, २२३।

३. महानिद्देश (ऊपर पृ० ८६ देखिये) में यह तीन वितर्क उल्लिखित हैं। ज्ञाति वितर्क—विभाषा [संपत् और विपत् से वियोग और संयोग में ज्ञाति के कारण हर्ष विषाद होता है। और चित्त दूरदर्शिता का उन्माद करता है। जनपद वितर्क, अमर वितर्क (विभाषा=अल्पायु और जरा के कारण परोपकार करना...... हर्ष या विषाद उत्पन्न करना) विभंग, पृ० ३५६ और सौन्दरनन्द १५ देखिये। चतुर्थ आहार, पूर्वसंभोग और संसर्गचर्या की अनुस्मृति है।

४. चेतसो व्युपसमो—अंगुत्तर, १ ४ में।

५. [स्कन्धोपघाताद् विमतितश्च पंच तु ??] परमार्थ में पंच शब्द नहीं है।

६. शुमान-चाङ् में यह अधिक है और इसलिए विमुक्ति और विमुक्ति ज्ञानदर्शन उत्पन्न नहीं होते। (६.७५ सी) देखिये।

से यथासंख्य समाधि और प्रज्ञास्कन्ध का उपघात होता है।[१] समाधि प्रयुक्त पुद्गल को स्त्यान-मिद्ध से भय है। धर्मप्रविचय (=प्रज्ञा) प्रयुक्त पुद्गल को औद्धत्यकौकृत्य से भय है।[२]

अन्यवादियों का अन्यथा वर्णन है।[३] वह कैसे

[१०१] व्याख्या करते हैं? चारगत भिक्षु प्रिय या अप्रिय वस्तु देखता है और उसका निमित्त ग्रहण करता है (निमित्तं गृह्णाति)। जब वह विहारगत होता है तब प्रिय-अप्रिय विषय के निमित्त ग्रहण से जो कामच्छन्द और व्यापाद प्रवृत्त होते हैं वह प्रथम समापन्न होने में अन्तराय होते हैं; पश्चात् जब भिक्षु समापत्ति समापन्न होता है तब शपथ विपश्यना की यथार्थ भावना के न होने से स्त्यानमिद्ध और औद्धत्य-कौकृत्य उत्पन्न होते हैं; जो यथाक्रम शपथ (=समाधि) और विपश्यना (=प्रज्ञा) में अन्तराय होते हैं। पुनः जब वह व्युत्थित होता है, सब धर्म विध्यान काल में विचिकित्सा अन्तराय होती है।—इस प्रकार पाँच नीवरण हैं। एक वस्तु की परीक्षा करनी है।

हम विसभाग धातु सर्वत्रग (५·१३) क्लेशों का अर्थात् मिथ्या दृष्ट्यादि का, जो दुःख दर्शन हेय हैं जिनके आलम्बन दो ऊर्ध्वधातु हैं, विचार करते हैं। यह आलम्बन ऊर्ध्वधातुओं की आलम्बनावस्था में दुःखसमुदय अन्वयज्ञानपक्ष से परिज्ञात होता है (परिज्ञायते) (५·१४, ६·२६, ७·३ सी), किन्तु यह क्लेश उस अन्वयज्ञान पक्ष उत्पाद काल में प्रहीण नहीं होते, क्योंकि यह क्लेश कामावचर होने से (कामावचरत्वात्) पूर्व ही दुःख समुदय धर्मज्ञानपक्ष से वध्य है जिसका उत्पाद इस अन्वयज्ञानपक्ष के पूर्व होता है।

इसके विपर्यय दृष्टिपरामर्शादि क्लेशों का प्रहाण, जिनका आलम्बन सास्रव है (सास्रवा-

---

१ अपरे शुआनचाङ्: यदि कोई सूत्र के अर्थ का वर्णन इस प्रकार करता है तो औद्धत्य कौकृत्य का स्त्यानमिद्ध से पूर्व ग्रहण होना चाहिए क्योंकि समाधिवश प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है और समाधिनीवरण का ग्रहण प्रज्ञानीवरण के पूर्व होना चाहिए। इस कारण अन्य आचार्य कहते हैं कि इन दो नीवरणों से यथाक्रम का उपघात होता है। जापानी सम्पादक के अनुसार यह अपरे सौत्रान्तिक है।

विभाषा ४८, १४—वसुमित्र कहते हैं—प्रिय विषय के लाभ से कामच्छन्द, उसकी हानि से प्रतिघ—उसकी हानि होने पर चित्त को विषाद होता है और वह लीन होता है। वह स्त्यान उत्पन्न करता है; पश्चात् चित्त प्रदुष्ट (?) और अवसन्न (दुर्दिन ??) होता है। वह मिद्ध का उत्पाद करता है। औद्धत्य के पश्चात् कौकृत्य और अन्त में विचिकित्सा का। ५ नीवरणों का यह क्रम है।

२. शुआनचाङ् के अनुसार सूत्र यहाँ उद्धृत हैं।

३. व्या० ४९७, २७ जापानी सम्पादक के अनुसार सौत्रान्तिक व्याख्या के अनुसार ५ वीं आचार्य।

लम्बन ५·१६) और जो विरोधमार्ग दर्शन हेय हैं, उस समय नहीं होता जब उनका आलम्बन (विरोधमार्ग दर्शनहेय मिथ्यादृष्ट्यादि) (दुःखसमुदय धर्मज्ञान पक्ष या अन्वयज्ञानपक्ष से) परिज्ञात होता है। उनका प्रहाण पश्चात् केवल विरोधमार्ग दर्शन से होता है।

[१०२] अतः यह कैसे कह सकते हैं कि यह दो प्रकार के क्लेश का आलम्बन ज्ञान से प्रहीण होते हैं ?

क्लेशों का क्षय आलम्बन परिज्ञान से होता है ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। उनका प्रहाण चार प्रकार से होता है।[१]

दर्शन हेय क्लेशों का क्षय।

६०—ए-सी. आलम्बन परिज्ञान से क्षय, तदालम्बन क्लेशों के नाश से क्षय, आलम्बन प्रहाण से क्षय।[२]

१—आलम्बन परिज्ञान से दुःख समुदय दृग्हेय स्वभूम्यालम्बन क्लेश और (८) विरोधमार्गदर्शन हेय (५·१४) अनास्रवालम्बन क्लेश प्रहीण होते हैं।

२—तदालम्बन क्लेश के संक्षय से; विसभागधातु सर्वत्रग जो दुःख समुदय दर्शन हेय है यह क्लेश (५·१२) सभागधातु सर्वत्रग क्लेश के आलम्बन हैं। इसके क्षय से उनका क्षय होता है।[३]

---

१. व्या० ४९८,६ १. हम भाष्य का उद्धार कर सकते हैं—विसभागधातुसर्वत्रगानां विरोधमार्गदर्शनप्रहातव्यानां च सास्रवालम्बनानां यदालम्बनं परिज्ञायते न ते तदा प्रहीयन्ते। यदा च प्रहीयन्ते-न तदा तेषाम् आलम्बन परिज्ञायत इति कथमेषां प्रहाणम्। क्लेशानामालम्बन परिज्ञानात् क्षय एषोऽपि।

व्या० ५००,४ नैकान्तः किं तर्हि चतुर्भिः प्रकारैः। कतमैश्चतुर्भिः।

२. आलम्बनपरिज्ञानात् तदालम्बनसंक्षयात् आलम्बनप्रहाणाच्च।

विभाषा २२,१५—एक मत के अनुसार अनुशयों का प्रहाण चार प्रकार से होता है : १. आलम्बन प्रहाण से सास्रवालम्बन प्रहाण अनुशय जो विरोध मार्ग दर्शन हेय हैं। २. तदालम्बन क्लेश प्रहाण से वह अनुशय जो अन्य धातु को आलम्बन बनाते हैं ......। वसुमित्र के अनुसार पाँच प्रकार से : १ आलम्बनदर्शन से प्रहाण, अनास्रवालम्बन अनुशय और संभाग धातु सर्वत्रग अनुशय, २. आलम्बन प्रहाण से प्रहाण सास्रवालम्बन और विरोधमार्ग दर्शन हेय अनुशय, ३ तदालम्बन क्लेश प्रहाण से प्रहाण; सर्वत्रग अनुशय जो विसभाग धातु को आलम्बन बनाते हैं। ४ आलम्बन प्रहाण और तदालम्बन क्लेश प्रहाण से प्रहाण, दुःख-समुदय दर्शन हेय असर्वत्रग अनुशय, ५. प्रतिपक्ष के उदय से प्रहाण, भावनाहेय अनुशय—वसुबन्धु साकल्येन इस मत का अनुसरण करते हैं।

३. विसभाग धातु सर्वत्रग सत्काय दृष्ट्यादि के आलम्बन हैं। इस समूह के क्षय से इनका क्षय होता है।

३—आलम्बन प्रहाण से; विरोधमार्ग दर्शन हेय सास्रवालम्बन अनास्रवालम्बन क्लेश हैं (५·१४) इसके क्षय से वह प्रहीण होते हैं।[1]

भावना हेय क्लेशों को

[१०३] ६०·डी. क्षण प्रतिपक्ष के उदय से।[2]

जब एक मार्ग एक क्लेश प्रकार का प्रतिपक्ष है तब यह मार्ग उत्पन्न होकर इस प्रकार का प्रहाण करता है। किस प्रकार का कौन मार्ग प्रतिपक्ष है ? इसका सविस्तार निर्देश होगा (६·३३); मृदु मृदु मार्ग अधिमात्र २ प्रकार का प्रतिपक्ष है······अधिमात्र-अधिमात्र-मार्ग मृदुर प्रकार का प्रतिपक्ष है।

प्रतिपक्ष कितने प्रकार के हैं ?

६१ ए–सी, प्रतिपक्ष चतुर्विध है : प्रहाण, आधार, दूरीभाव, विदूषण।[3]

१. आनन्तर्य मार्ग (६·२८,६५) प्रहाण प्रतिपक्ष है। प्रतिपक्ष जिसका फल प्रहाण है।[4]

[१०४] २. पूर्व से जो पर है अर्थात् वियुक्ति मार्ग, वह आधार प्रतिपक्ष है। वह प्रतिपक्ष जिससे आनन्तर्य मार्ग-प्रावित प्रहाण का आधारण होता है।

३. वियुक्ति मार्ग के परे जो मार्ग है वह दूरीभाव प्रतिपक्ष है।

"वह प्रतिपक्ष जिससे पूर्व समुच्छित क्लेश की शक्ति दूरीभूत होती है।" दूसरों के अनुसार वियुक्तिमार्ग भी दूरीभाव प्रतिपक्ष है क्योंकि इससे भी क्लेश प्राप्ति दूरीभूत होती है।

४. वह मार्ग जिसमें धातु का दोषतः दर्शन होने से (—दोषतो दर्शनम् = अनित्यादि आकारों से) धातु विदूषण होती है। विदूषण प्रतिपक्ष है। (६·५० देखिये)

किन्तु यह आनुपूर्वी साधी है, १. विदूषण प्रतिपक्ष = प्रयोग मार्ग[5]; २. प्रहाण प्रति-

---

१. विरोधमार्ग दर्शन हेय (५-१४) दृष्टिपरामर्शादि के आलम्बन मिथ्या दृष्ट्यादि क्लेशों के प्रहाण से सास्रवालम्बन दृष्टि परामर्शादि प्रहीण होते हैं।

२. प्रतिपक्षोदयात् क्षयः।

३. [ चतुर्धा प्रहाणाधार दूरीभावविदूषणाः। प्रतिपक्षः ]

४. व्या० ४९९,४ ५. विपक्ष प्रतिद्वन्द्वी पक्षः प्रतिपक्षः। प्रहाणाय प्रतिपक्षः प्रहाण-प्रतिपक्षः।······प्रहीयते वानेनेति प्रहाणं प्रहाणं चासौ प्रतिपक्षश्च प्रहाण प्रतिपक्षः।

५. व्या० ४९९, २८ऊष्मगतादि (६·१७) गृहीत होते हैं। इस प्रयोग मार्ग के आलम्बन केवल दुःख और समुदय हैं।

पक्ष=वियुक्ति मार्ग; ३. आधार प्रतिपक्ष=विमुक्तिमार्ग; ४. दूरीभाव प्रतिपक्ष=विशेषमार्ग (५·६३)[१]।

जब क्लेशों का प्रहाण होता है तब किससे (कुतः) विसंयोग होकर इनका प्रहाण होता है ?

६१ सी-डी. ऐसा मानते हैं कि क्लेश आलम्बन से विविक्त हो प्रहीण होते हैं।[२]

वास्तव में क्लेश संप्रयोग से (अर्थात् चित्तसंप्रयुक्त वेदनादि धर्म से २·२४)[३] विविक्त नहीं कि पर हो सकता।

[१०५] किन्तु वह अपने आलम्बन से इस प्रकार विविक्त हो सकता है कि उस वस्तु को आलम्बन बना उसकी पुनः उत्पत्ति न हो।

अस्तु अनागत क्लेश स्वावलम्बन से विविक्त हो सकता है। किन्तु प्रतीत क्लेश कैसे होगा ? आलम्बित वस्तु को अनालम्बित नहीं कर सकते। क्या आलम्बनात् प्रहातव्यः वाक्य का अर्थ आलम्बन परिज्ञानात् प्रहातव्य है ? किन्तु यह नियम कि क्लेश परिज्ञान से प्रहीण होता है, एकान्त नहीं है (ऊपर पृ० १०२ देखिये)।

अतएव इसका परिहार करना चाहिए ( वक्तव्यमेतत्=परिहर्तव्यमेतत् ) क्या होना चाहिए जिससे क्लेश प्रहीण कहलावें ?

---

१. इन चार मार्गों का लक्षण ६·६५ बी-डी में है।

२. प्रहातव्य क्लेश आलम्बनान्मतः ॥

३. शुआनचाङ् : यह सम्भव नहीं है कि क्लेश का विवेचन संप्रयुक्त धर्मों से (निकाय सभाग के चित्त चैत्त से) हो। केवल वह अपने आलम्बन से विविक्त हो सकता है। जापानी संपादक, विभाषा, ३२, १३ का उल्लेख करते हैं। यह उक्त है कि अनुशयों का प्रहाण आलम्बन से होता है न कि चित्त संप्रयुक्त धर्मों से। प्रतिपक्षबल के कारण इस वस्तु को आलम्बन बनाकर अनुशय की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार अनुशय प्रहीण होता है। यथा एक प्रद्गल अपने पुत्र को पानगृह, वेश्यागृह, प्रेक्षागृह जाने से रोकता है। चित्त संप्रयुक्त धर्मों से विवेचन सम्भव नहीं है। अतएव यह कहा है कि उक्त धर्मों से विवेचन कर प्रहाण नहीं होता। विवेचन कर प्रहाण नहीं होता।

हुएइ-हुएइ (Houei-Houei) कहते हैं संप्रयुक्त धर्म उस निकाय सभाग के चित्त चैत्त हैं। क्लेश का उनसे विवेचन शक्य नहीं है। क्लेशों की उत्पत्ति आलम्बन से नहीं होती। यही उनका प्रहाण कहलाता है, जब कोई क्लेशों का प्रहाण करता है तो केवल स्वासान्तानिक क्लेशों का करता है। अतः यह कैसे कहते हैं कि क्लेश आलम्बन से प्रहीण होता है।

सूत्रालंकार, १७.१६ क्लेश को आलम्बन कहा है क्योंकि यह उक्त है कि 'मनोमय ग्रन्थों के प्रहाण से आलम्बन उच्छिन्न होता है' (मनोमयानां ग्रन्थानां प्रहाणात् उच्छियत् आलम्बन्)

[१०६] स्वसान्तानिक क्लेश प्राप्ति के क्लेश से उपक्लेश की प्राप्ति (२·३६ बी) के छेद से जो स्वसन्तान में था, प्रहीण होता है। पर सन्तान क्लेश (कुशलादि) सर्वरूप और अक्लिष्ट धर्म (अरूपिन् कुशलासास्रव, अनिवृतव्याख्याकृत) यह विविधवस्तु तदालम्बन स्वसान्तानिक क्लेश के प्रहाण से प्रहीण होते हैं (विभाषा, ५३,७,७६,१८ आदि)।

व्या० ५०१·१. कितने प्रकार की दूरता है?—सिद्धान्त में चार उक्त हैं। ६२. वैलक्षण्य से—लक्षण दूर विपक्ष से विपक्ष दूरता, देश विच्छेद से देशकाल दूरता, काल से यथा दृष्टान्त के लिए महाभूत शील प्रदेश और अध्व द्वय की दूरता।[१]

---

व्या० ५००,७. १. संघभद्र, २३·५, ६८ ए ने दोष का परिहार किया है (व्याख्या में उद्धृत है।)

क्लेश का प्रहाण आलम्बन से करना चाहिए (आलम्बनात् क्लेशाः प्रहातव्याः) क्योंकि आलम्बन द्विविध है, संयोगवस्तु और असंयोगवस्तु; जिन अनुशयों का विषय (= आलंबन) एक संयोगवस्तु है और जिनका ऐसा विषय नहीं है। किन्तु जिनका उत्पाद पूर्व अनुशय बल से होता है उनकी भी प्राप्ति (२·३६) पुद्गल सन्तान में होती है। यद्यपि यह चित्त सन्तति अक्लिष्ट चित्त की होती है। तथापि इस प्राप्ति का अविच्छेदेन प्रवर्तन अनागत और अतीत क्लेश के हेतु फल रूप में होता है। इसी प्रकार जिन अनुशयों का विषय एक असंयोग वस्तु है और जिनका ऐसा विषय नहीं है और जो तद्विषय क्लेश के पृष्ठ में समुदाचार करते हैं, उनकी भी प्राप्ति को ऐसा ही जानना चाहिए। यह वर्तमान प्राप्ति अनागत क्लेश की उत्पत्ति में हेतुभूत है और अतीत क्लेश का निष्पन्दभाव से फल है। किन्तु अनुशय प्राप्ति सन्तति में तत् प्रहाण के प्रतिपक्ष के निष्पन्द की प्राप्ति के समवधान से विरोधित (विरुद्ध) होती है। क्योंकि यही अनुशय प्राप्ति वर्तमान और अनागत क्लेश प्राप्ति का आधार है। अतः, क्योंकि एक आलंबन से उत्पन्न क्लेश अन्यालंबन क्लेशों का भी प्रवर्तन करते हैं, इसलिए जब (एक कुशल प्राप्ति) जो तदालंबन प्रहाण प्रतिपक्ष का निष्पन्द है उत्पन्न होती है, तब क्लेश प्राप्ति विगत होती है और वह क्लेश तदालंबन होते हुए भी हेतुफलभूत (प्राप्ति) से उपक्रान्त होते हैं और प्रहीण कहलाते हैं। जब क्लेश विषय परिज्ञात नहीं होता तब अतद्विषय क्लेशों की प्राप्ति भी जो तद्विषय क्लेश से उत्पन्न होती है, अतीत और अनागत क्लेश की हेतुफलभूत हो सन्तति में अविच्छेदेन प्रवर्तित होती है। अतः यह अभिमत है कि आलम्बन वियोग से जब विषय परिज्ञान होता है तो प्राप्ति का विच्छेद होता है (आलम्बनात्), क्लेशों का प्रहाण होता है।

किन्तु यदि यह अभिप्रेत है कि तदालम्बन प्रहाणादि से क्लेश प्रहीण होते हैं तो यह क्यों कहा कि आलंबन परिज्ञान के बल से क्लेश प्रहीण होते हैं। यह दुःख सत्यादि परिज्ञान के बल से ही प्रहीण होते हैं। उसके अभाव में होते हैं और उसके भाव के योग से नहीं होते। जो यह कहते हैं कि प्रतिपक्ष के उदय से क्लेश प्रहीण होते है, उनको यह मानना होगा कि भावना हेय क्लेश आलम्बन दु ख सत्यादि के परिज्ञान बल से ही प्रहीण होते हैं।

(व्या०५०१,४) १. वैलक्षण्य विपक्षत्व देशविच्छेदकालतः।

भूतशीलप्रदेशाध्वद्वयानामिव दूरता॥

विभाषा, १७,२ के अनुसार प्रकरण ६,११ अन्य वाद दूरता, २·६७ ए, ४·७ सी, पृ० ३१

[१०७] १. वैलक्षण्य से लक्षण-दूरता, यथा—यद्यपि महाभूत सहज हैं (२'६५) तथापि लक्षण की भिन्नता से वह एक दूसरे से दूर है।

२. विपक्षत्व से विपक्ष-दूरता (विपक्षत्व=प्रतिपक्ष), यथा—दौःशील्य शील से दूर है।

३. देश-विच्छेद से क्लेश-दूरता, यथा—पश्चिम समुद्र की पूर्व समुद्र से दूरता।

४. काल-दूरता यथा—अतीत और अनागत अध्व की दूरता। अतीत और अनागत दूर कहलाते हैं, किससे वह दूर है? वह वर्तमान से दूर है। विरुद्ध अतीत और उत्पद्यमान अनागत वर्तमान से कैसे दूर हैं? हमारे मत में अध्व के नानात्व के कारण अतीत और अनागत दूर हैं। व्या० ५०१,१४ इसका कारण नहीं कि वह अतीत में और अनागत में दूर होंगे (न चिरभूतभावितेन)। इस प्रकार से तो वर्तमान भी दूर होगा, क्योंकि वह एक भिन्न अध्व है। हमारा कहना है कि प्रकारित्रवश (कारित्र, ५'२५, पृ० ५२) अतीत और अनागत दूर हैं। असंस्कृत, जो, जिनमें कारित्र का नित्य अभाव है अन्तिके धर्म कैसे अवधारित होते हैं? क्योंकि सर्वत्र दोनों विरोधों (२'३६) की प्राप्ति का उत्पाद होता है। अतीत और अनागत में भी अन्तिकत्व का प्रसङ्ग होगा। (कुशलादि अतीत अनागत की प्राप्ति होती है।) और आकाश जिसकी प्राप्ति नहीं है (२'३६) कैसे आन्तिक होगा? हमारा कहना है कि अतीत और अनागत एक दूसरे से दूर हैं, क्योंकि वह वर्तमान से व्यवहित हैं। व्या० ५०१,२७ वर्तमान आन्तिक है, क्योंकि वह अव्यवहित है। किसी विघ्न से व्यवहित नहीं है (अव्यवहितत्वात् न केन विघ्नेन हितम्), किन्तु इस कल्पना में भी अतीत और अनागत दूर और आसन्न दोनों होंगे, क्योंकि वह अन्योन्य से दूर हैं और वर्तमान से अन्तिक हैं।

[१०८] यह उक्त मत है।[१] अनागत धर्म स्वलक्षण से दूर है, क्योंकि इसने स्वलक्षण को सम्प्राप्त नहीं किया है। अतीत स्वधर्म स्वलक्षण से दूर है, क्योंकि यह उससे प्रच्युत है।

यह कहा गया है कि प्रतिपक्ष के उदय से (५'६० डी) क्लेशों का क्षय होता है। हमारा प्रश्न है कि क्या विशेष मार्गगमन से (६'६५ बी-डी) प्रहाणविशेष ६ क्लेशों का विशेष प्रहाण होता है? व्या० ५०२,६. नहीं, सब क्लेशों का।

६३ ए. सकृत् क्षय होता है।[२]

---

१. अभिधर्म में उक्त है ; दूरे धर्माः कतमे अतीतानागता धर्माः। अन्तिकेधर्माः कतमे प्रत्युत्पन्ना धर्माः असंस्कृतञ्च—आर्यदेव चतुःशतिका, २५८, मेमर्स एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, ३'८ (१८६४, पृ० ४६२) में अतीत अनागत के विचार में इसे उद्धृत करते हैं। दूर और अन्तिके रूप पर १.२० ए-बी (अनुवाद पृ० ३६) देखिये।

यह सौत्रान्तिकों का व्याख्यान है, व्याख्या के अनुसारः एवं तु युक्तं स्यादिति स्वमतमाचार्यस्य।

२. [सकृत् क्षयः]

अपने प्रहाणमार्ग से क्लेश का क्षय होता है। किन्तु ६३ ए-बी क्लेशों से विसंयोग का लाभ पुनः-पुनः होता है।[1]

किन कालों में ?—६ लक्षणों में।

६३ सी-डी प्रतिपक्ष के उदय पर, फल की प्राप्ति पर, इन्द्रिय-विवृद्धि पर[2]; प्रतिपक्ष से यहाँ विमुक्ति मार्ग अभिप्रेत है।

फल से स्रोत-आपन्नादि (६-५१) श्रामण्य-फल का ग्रहण होता है। इन्द्रियविवृद्धि-संचार (६-६० सी) अभिप्रेत हैं।[3]

[१०९] इन ६ कालों में विसंयोग का लाभ होता है। यथायोग कुछ क्लेशों के लिए ६ काल में, यावत् कुछ के लिए दो काल में (केषांचिद् यावद् द्वयोः)[4]

---

१. [विसंयोगलाभः तेभ्यः पुनः पुनः] निर्वाणभूत असंस्कृत धर्म प्रतिसंख्यानिरोध या क्लेशविसंयोग (१'६, २'५५ डी, ५७ डी) की प्राप्ति पौनःपुन्येन और स्थान-स्थान्यतर-तम-रूपेण होती है।

२. प्रतिपक्षोदयफलप्राप्तीन्द्रियविवृद्धिषु

३. मृद्वादिपंचेन्द्रिय (२'२ ए-बी, अनुवाद पृ० १०९) अभिप्रेत हैं। जिनकी योगी विवृद्धि करता है। जिनका संचार करता है, जिनको तीक्ष्ण करता है।

४. शुआन चाङ् अपने अनुवाद में (२१, १३ बी ४-१४ ए ६) इस टीका को प्रक्षिप्त करते हैं। हम उस योगी को लेते हैं जिसकी इन्द्रियाँ मृदु हैं। ए—सत्यदर्शनहेय कामावचर क्लेश से विसंयोग का लाभ ६ काल में होता है। प्रतिपक्षोदयकाल अर्थात् दुःखादि धर्मज्ञान पक्ष, २-५ चतुः लक्ष्य संप्राप्ति, ६—इन्द्रिय संचार काल। इसी प्रकार सत्यत्रयदर्शनहेय रूपा-रूप्यावचरक्लेश से विसंयोग लाभ की योजना करनी चाहिए, यहाँ प्रतिपक्ष अन्वयज्ञान है।

बी—मार्गदर्शनहेय रूपारूप्यावचरक्लेश के लिए केवल ५ काल हैं, क्योंकि प्रतिपक्षोदय काल (अर्थात् मार्गेऽन्वयज्ञानकाल) स्रोत आपत्ति फलप्राप्ति का भी काल है।

सी—भावनाहेय कामावचरक्लेश के प्रथम ५ प्रकारों के लिए केवल ५ काल हैं, क्योंकि इन ५ प्रकारों के प्रहाण के पूर्व जो स्रोत-आपत्ति फल-काल होता है उसको वर्जित करता है।

डी—इन्हीं क्लेशों के षष्ठ प्रकार के लिए चार काल हैं, क्योंकि प्रतिपक्षोदयकाल (अर्थात् षष्ठ विमुक्तिमार्ग) सकृदागामि-फल-काल भी है।

ई—इन्हीं क्लेशों के सातवें और आठवें प्रकार के लिए चार काल हैं, क्योंकि स्रोत आपन्न और सकृदागामिफलकाल इन दो प्रकारों के प्रहाण के पूर्व होता है।

यफ—इन्हीं क्लेशों के नवें प्रकार के लिए तीन काल है। (१) प्रतिपक्षोदयकाल (९वाँ विमुक्ति मार्ग) जो अनागामफलकाल से मिश्रित है। (२) अर्हत्वफलकाल। (३) इन्द्रियसंचारकाल।

कुछ अवस्थाओं में विसंयोग को परिज्ञा की संज्ञा प्राप्त होती है।

[११०] (विभाषा, ७६,१) परिज्ञा दो प्रकार की है ; ज्ञान-परिज्ञा, जो अनास्रव-ज्ञान है; प्रहाण-परिज्ञा, जो प्रहाण ही है, क्योंकि फल में (प्रहाण) हेतु (परिज्ञाज्ञानस्वभावा) का उपचार है।[1]

क्या सर्व-प्रहाण की एक परिज्ञा है ?

६४ ए. ९ परिज्ञा हैं।[2]

तत्र तावत्,

६४ बी-सी. काम के प्रथम दो प्रकारों का क्षय एक परिज्ञा है।[3] तात्पर्य यह है कि यह कामधातु के क्लेश के दो प्रकारों का क्षय है, अर्थात् दुःख और उसके मूल की दृष्टि से प्रहेय क्लेश।

---

जी—भवाग्र (नैव संज्ञानासंज्ञायतन) के नवम् प्रकार को वर्जित कर, भावना हेय रूपा रूप्यावचर क्लेशों के लिए तीन काल हैं क्योंकि प्रथम तीन फल की प्राप्ति हो चुकी है।

यच—भावाग्निक क्लेश के नवम् प्रकार के लिए दो काल हैं क्योंकि प्रतिपक्षोदय काल (९वां विमुक्तिमार्ग) अर्हत्त्वफलाकाल से मिश्रित है।

यदि योगी तीक्ष्णेन्द्रिय है तो इन आठ अवस्थानों में एक इन्द्रिय संचार काल को वर्जित करना चाहिए। [अतः अन्तिम प्रकार के क्लेशों का विसंयोग लाभ एक ही काल में होता है] यदि आचार्य कहते हैं कि संख्या घटाकर यावत् दो काल—तो इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि में पुनर्लाभ की अवस्थायें हैं।

उन योगियों के लिए जो सब भलों को (२-१६ सी-डी, ६·३३ ए) प्राप्ति नहीं करते, संख्या घटानी होगी।

१. विभाषा, ३४,१. ज्ञान परिज्ञा क्या है? ज्ञान, दर्शन, विद्या, बोधि, अभिसमय ·· किस प्रकार का ज्ञान परिज्ञा कहलाता है? कुछ के अनुसार अनास्रव ज्ञान—क्योंकि लक्षण में अभिसमय आख्या-कोश (कोश, ६ २७) का प्रयोग है : किन्तु लोक संवृत्तिज्ञान (कोश ७.२ बी) अभिसमय नहीं कहला सकता।

प्रहाण परिज्ञा क्या है? राग का आत्यन्तिक प्रहाणप्रतिघ और विचिकित्सा का आत्यन्तिक प्रहाण-सर्वक्लेश का आत्यन्तिक प्रहाण यह—प्रहाण परिज्ञा है। आलम्बन का सर्वथा ज्ञान (परि-ज्ञा) परिज्ञा कहलाता है। किन्तु प्रहाण सालम्बन नहीं है और जानता नहीं है। अतः प्रहाण परिज्ञा कैसे करते हैं?

सौत्रान्तिक कहते है कि दो परिज्ञायें हैं : १. ज्ञान परिज्ञा—जो ज्ञान सम्भव है, २. प्रहाण परिज्ञा—जो प्रहाण सम्भव है।

२. [परिज्ञा नव] टककुसु के अनुसार ज्ञानप्रस्थान, पृ० ८६; और विसुद्धिमग, ६०६, ६९२ में तीन लौकिक परिज्ञा (आहार के सम्बन्ध में) हैं।

३. कामाद्यप्रकारद्वयसंक्षयाः। एका

६४ सी. दो प्रकार का क्षय दो परिज्ञा हैं ।[१]

[१११] विरोधदर्शनहेय कामावचरक्लेश का प्रहाण एक परिज्ञा है । इसी प्रकार मार्गदर्शनहेय कामावचरक्लेश का प्रहाण दूसरी परिज्ञा है । इसी प्रकार सप्तदर्शनहेय कामावचरक्लेश का प्रहाण तीन परिज्ञा है ।

६४ डी. इसी प्रकार उर्ध्व में तीन परिज्ञा ।[२]

इसी प्रकार दो उर्ध्व-धातुओं को मिलाकर दुःखसमुदयदर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण एक परिज्ञा है । विरोधदर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण दूसरी परिज्ञा है । मार्गदर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण तीसरी परिज्ञा है ।

अतः सप्तदर्शनहेय त्रैधातुकक्लेश के प्रहाण के लिए ६ परिज्ञा हैं । ६५ ए-सी. तीन और परिज्ञा हैं; अवरभागीय आस्रवों का क्षय, रूपास्रवों का क्षय, सर्वास्रवों का क्षय ।[३]

अवरभागों का (५.४३ ए) अर्थात् कामावचर-आस्रवों का प्रहाण एक परिज्ञा है । रूपास्रव-प्रहाण—जिसका रूप-राग-क्षय परिज्ञा है (विभाषा, ६२, १२), एक परिज्ञा है । तृतीय परिज्ञा आस्रवों का सर्व-प्रहाण है । इसका नाम सर्व-संयोजन-पर्यादान-परिज्ञा है (५.४१) ।

यह तीन परिज्ञायें भावनाहेय क्लेश-प्रकार का प्रहाण है ।

भावनाहेयक्लेशों के प्रहाण के सम्बन्ध में रूप और आरूप्य में विशेष है, सप्तदर्शनहेयक्लेशों के लिए यह विशेष व्यवस्थापित नहीं होता । इनका प्रतिपक्ष एक ही है (अन्वयज्ञान, ७.२ सी-डी), इनका एक नहीं है ।

[११२] ६५ सी. ६ क्षान्ति-फल हैं ।[४]

पहली ६ परिज्ञा; जो सप्तदर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण है, क्षान्ति-फल है (६.२५ सी) ।

६५ डी. अन्य ज्ञान-फल हैं ।[५]

अवरभागीय प्रहाण-परिज्ञा आदि तीन परिज्ञायें भावना-मार्ग से प्रतिलब्ध होती हैं । अतः वह ज्ञान-फल है ।

परिज्ञा क्षान्ति-फल कैसे हैं ? राजा के पार्षद अयथार्थ रूप से राजा की संज्ञा प्राप्त करते हैं, अथवा क्योंकि शान्ति और ज्ञान का एक फल है ।

---

१. [द्वयक्षयो द्वे ते]
२. =[तथोर्ध्वं तिस्र एव ताः]
३. =[तिस्रोऽन्या अधोभागीयरूपसर्वास्रवक्षयः । परिज्ञाः]
४. =[षट् क्षान्तिफलम्] ऊपर पृष्ठ १३-१४.
५. =[ज्ञानस्य······फलम्]

समाधि की किस भूमि में परिज्ञा का लाभ होता है।

६६ ए-बी. सब अनागम्य के फल हैं। पाँच या आठ ध्यान के फल हैं।[1] वैभाषिकों के अनुसार पाँच मौल-ध्यान (सामान्तक, ध्यान सामनाक के विपक्ष, ८.६, २२ ए) के फल हैं; अर्थात् जो रूपावचर (१, २, ३, ४) और आरूप्यावचर क्लेशों के प्रहाण हैं; परिज्ञा (४, ५,६, ८ और ९) केवल अनागम्य अर्थात् प्रथम ध्यान के सामन्तक का फल है।

[११३] भदन्त घोषक के अनुसार ८ (अर्थात् १.—६, ८ और २९) मौलध्यान के फल हैं—वह कहते हैं कि मान लीजिए कि एक पुद्गल लौकिक या सास्रवमार्ग (६.४९) से काम वीतराग है और सत्य दर्शन या दर्शनमार्ग में जो सदा अनास्रव है, ध्यानों का आश्रय ले प्रविष्ट होता है—उसका दर्शनहेय कामावचर-क्लेशों का प्रहाण, उसका तत् क्लेश-विसंयोग की प्राप्ति का ग्रहण दर्शन-मार्ग का फल अवधारित होना चाहिये, क्योंकि वह अनास्रव है; केवल अवर-भागीय-प्रहाण-परिज्ञा (परिज्ञा ७) केवल अनागम्य का फल है।

मौलध्यान के सदृश ध्यानान्तर (८.२२ डी) की योजना करनी चाहिये।

६६ सी एक सामन्तक का फल है।[2]

रूपराग-क्षय-परिज्ञा (परिज्ञा ८) आकाशान्त्यायतन-सामन्तक (८.२२ ए) का फल है।

[प्रथम आरूप्य में प्रवेश करने के लिए रूपावचर क्लेशों से विवेचन आवश्यक है, इस सामन्तक में यही कहते हैं।] ६६ डी. एक मौल आरूप्यों का भी फल है।[3]

सर्व-संयोजन-पर्यादान-परिज्ञा तीन मौल-आरूप्यों का फल है।

६७ ए-बी. सब आर्य-मार्ग के दो लौकिक-मार्ग के फल हैं।[4]

९ परिज्ञाओं का लाभ अनास्रव-मार्ग से होता है। परिज्ञा ७, ८ और ९ सास्रव-मार्ग से ही प्रतिलब्ध होती हैं।

६७ बी-डी. अन्वय के भी दो, धर्मज्ञान के तीन, अन्वयज्ञानपक्ष के ५, धर्मज्ञानपक्ष के ६।[5]

---

१. =[अनागम्यफलं सर्वा ध्यानानां पंच अष्टौ वा]

शुआनचाङ्—इस पहले पाद की टीका करते हैं। सब अनागम्य के फल हैं क्योंकि अनागम्य दर्शन भावनाहेय त्रैधातुक क्लेशों के प्रहाण के लिए आश्रय हैं।

अनागम्य पर ध्यान, ६.४७ सी-डी, ८.२२ ए।

२.=[फलं सामन्तकस्यैका]

दूसरा पाद प्रदर्शित करता है कि एक आरूप्य सामन्तक इष्ट है क्योंकि अनागम्य प्रथम ध्यान का सामन्तक है।

३.=[मौलारूप्य त्रयस्य च] अनास्रव मार्ग का चतुर्थ आरूप्य में प्रभाव है।

४.=[आर्य मार्गस्य सर्वा द्वे लौकिकस्य]

५. व्या० ५०७,३१=[अन्वयस्य च। धर्मज्ञानस्य तिस्रः] शटतत् (स) पक्षस्य पंचच॥

[११४] अन्य दो परिज्ञाएँ भावनामार्ग में संगृहीत अन्वयज्ञान के फल हैं (७-३ सी: वह ज्ञान जिसके आलम्बन दो ऊर्ध्व धातुओं के दुःखादि हैं), पश्चिम तीन भावनामार्गसंगृहीत धर्मज्ञान के फल हैं (कामावचर दुःखादि जिसके आलम्बन में है वह ज्ञान), क्योंकि वह ध्यान भावनाहेय त्रैधातुक-धर्मज्ञान, पक्ष के क्लेश का प्रतिपक्ष ६ फल हैं। यह धर्म-शान्ति और धर्म-ज्ञान के फल हैं। अन्वयज्ञानपक्ष के ५ फल हैं। यह अन्वयक्षान्ति और अन्वयज्ञान के फल हैं। पक्ष से क्षान्ति और ज्ञान अभिप्रेत हैं। एक-एक प्रहाण का ग्रहण परिज्ञा के रूप में क्यों नहीं होता ? क्षान्ति फल ·····प्रहाण (सत्य दर्शन मार्ग) के लिए।

६८ ए-डी. १. अनास्रव विसंयोग की प्राप्तिवश २ भवाग्र के प्रदेश प्रहाण ३. हेतुद्वय-समुद्घातवश परिज्ञा होती है।[१]

जिस प्रहाण के यह तीन लक्षण होते हैं, वह परिज्ञा व्यवस्थापित होता है। पृथग्जन के लिए जो प्रहाण सम्भव है (२.४० बी-सी) वह हेतुद्वय (सर्वत्रग क्लेश का) प्रहाण है। किन्तु पृथग्जन अनास्रव-विसंयोग की कभी प्राप्ति नहीं करता (२.३८ बी) और वह भवाग्र को कभी विकलाकृति नहीं करता।

दर्शनमार्ग के प्रवेश करने के क्षण से यावत् तृतीय फल (दुःखेऽन्वयज्ञानक्षान्ति, ६.२५ सी) आर्य के प्रहाण अनास्रव

[११५] विसंयोग की प्राप्तिवश होते हैं किन्तु भवाग्र की विकलाकृतिवश नहीं होते और न दुःख-समुदय-दर्शनहेय सर्वत्रगहेतुद्वय के समुद्घातवश होते हैं। (सर्वत्रगहेतु, २ ५४ ए, ५.१२)।

चतुर्थ क्षण में (दुःखेऽन्वयज्ञान) भवाग्र विकलाकृति होता है। इसीं प्रकार पाँचवें क्षण में भी (समुदये धर्मज्ञानक्षान्ति), किन्तु हेतुद्वय का समुद्घात नहीं होता। किन्तु अन्य धर्मज्ञानों में (क्षण-६, १०, १४) और अन्य अन्वयज्ञानों में (८वाँ, १२वाँ, १६वाँ क्षण) प्रहाण के तीन लक्षण होते हैं और उसे परिज्ञा कहते हैं।

तीन परिज्ञायें, जो ज्ञानफलात्मक प्रहाण (भावना मार्ग) हैं, इन तीन लक्षणों के कारण और एक चतुर्थ के कारण परिज्ञा कहलाती हैं।

६८ डी. धातु के अतिक्रम के कारण[२]

अर्थात् क्योंकि योगी का वैराग्य कृत्स्न-धातु से है। अन्य वादी एक ५वाँ कारण बतलाते हैं।[३] उभय-संयोग, विसंयोगदर्शनहेय क्लेश प्रकार का प्रहाण पर्याप्त नहीं है (दर्शन

---

१. व्या० ५०८,२४. धात्वतिक्रमात् ॥

२. व्या० ५०८,३०. भाष्य उभयसंयोगवियोगं पञ्चमं कारणं आहुः।

२. व्या० ५०८,१२ अनास्रववियोगाप्तेर्भवाग्रविकलीकृतेः। हेतुद्वय समुद्घाताद् परिज्ञा विकलाकृहि भवाग्र प्रदेश प्रहाण हैं। भवाग्र के क्लेशों के एक प्रदेश का प्रहाण है।

भावनाहेय) तदालम्बन-क्लेश का प्रहाण भी आवश्यक है। किन्तु यह कारण हेतुद्वय-समुद्घात और धात्वसमतिक्रम से अन्य नहीं है।

व्या० ५०६,१०. अतः हम उसका वर्णन पुनः नहीं करते (अतो न पुनर्व्'मः)[1]।

[११६] कितनी परिज्ञावों की प्राप्ति हो सकती हैं?

६६ ए-बी. दर्शनमार्गस्थ या तो परिज्ञा से समन्वित नहीं होता या एक से पाँच परिज्ञावों तक से समन्वित होता है।[2]

पृथग्जन किसी भी परिज्ञा से समन्वागत नहीं है। दर्शनमार्गस्थ आर्य भी 'समुदये दर्शनमार्गक्षान्ति' (६.२५ सी) पर्यन्त परिज्ञा से समन्वागत नहीं होता। वह समुदये धर्मज्ञान में और समुदयेऽन्वय-ज्ञानक्षान्ति में एक परिज्ञा से समन्वागत होता है। समुदयेऽन्वयज्ञात और विरोधे धर्मज्ञानक्षान्ति में दो से, विरोधे धर्मज्ञान और विरोधेऽन्वयज्ञानक्षान्ति में तीन से, विरोधेऽन्वयज्ञात और मार्गे धर्मज्ञानक्षान्ति में चार से, मार्गे धर्मज्ञान और मार्गे अन्वयज्ञानक्षान्ति में पाँच से समन्वागत होता है।[3]

६६ सी-डी. भावना-मार्गस्थ, ६, १, २ से समन्वागत होता है।[4]

भावना-मार्गस्थ आर्य मार्गेऽन्वयज्ञान में ६ परिज्ञाओं से समन्वागत होता है यावत् वह काम वैराग्य को प्राप्त नहीं होता अथवा जब वह उससे परिहीण होता है।

जब वह इस वैराग्य को अभिसमय (दर्शन मार्ग, ६, २५ सी) के पूर्व या पश्चात् प्राप्त होता है तब वह एक अवरभागीय प्रहाण-परिज्ञा से ही समन्वागत होता है।

---

व्याख्या के अनुसार अभिधार्मिक विभाषा, ६२, १०।

१. व्या० ५०९,६. दुःख दर्शन प्रहातव्य क्लेश प्रकार के प्रहीण होने पर भी हेतुद्वय-समुद्घात तब तक नहीं होता, परिज्ञा तब तक नहीं होती जब तक समुदय दर्शन प्रहातव्य तदालम्बन सर्वत्रगहेतु अप्रहीण रहता है। एक धातु के आठ प्रकार के क्लेशों के (अधिमात्र अधिमात्र......मृदु मध्य) प्रहीण होने पर भी धातु समतिक्रम नहीं होता जब तक ९वाँ प्रकार (मृदु-मृदु) भी प्रहीण नहीं होता।

शुआनचाङ्—इतना अधिक है कि धातु समतिक्रम के बिना भी हेतुद्वय समुद्घात हो सकता है अतः चतुर्थ कारण व्यवस्थापित करते हैं। वास्तव में तीन भूमियों में (तीन अधर ध्यान, तीन अधर आरुप्य) उभयहेतु समुद्घातवश परिज्ञा नहीं होती (यथायोग—७वीं या ८वीं परिज्ञा)।

२. नैकयापञ्चभिर्यावद्दर्शनस्थाः [समन्वितः]

३. क्षण (मार्गेऽन्वयज्ञान) भावना मार्ग में संगृहीत है।

४. जिस आर्य ने सत्याभिसमय में प्रवेश करने के पूर्व लौकिक मार्ग से कामवैराग्य का लाभ किया है, वह मार्गेऽवन्यज्ञान में अनागामिन् होता है। और तभी से एक अवरभागीय प्रहाण परिज्ञा से समन्वागत होता है। सानुपूर्वक जब काम वीतराग होता है तभी प्राप्ति का लाभ करता है (२.१६ सी-डी., ६.३६ डी)

[११७] जो आर्य अर्हत्व प्राप्त है, वह एक सर्वसंयोजन-पर्यादान-परिज्ञा से समन्वागत होता है।

जो आर्य रूपावचर-पर्यवस्थान (५.४७) के कारण अर्हत्व से परिहीण होता है (६.५६ ए) वह एक काम-वीतराग-आर्य के भाव को पुनः प्राप्त होता है। अतएव वह एक अवरभागीय प्रहाण-परिज्ञा से ही समन्वागत होता है। कामावचर-पर्यवस्थानवश परिहीण होकर वह इस राग से अवीतराग-आर्य के भाव को प्राप्त होता है। ६ परिज्ञा। आरूप्यावचर-पर्यवस्थानवश परिहीण होकर वह रूपवैराग्यप्राप्त-आर्य के भाव को प्राप्त होता है; वह अवरभागीय प्रहाण-परिज्ञा और रूपरागक्षय-परिज्ञा इन दो परिज्ञावों से समन्वागत होता है।[१]

अनागामिन् और अर्हत्व की एक ही परिज्ञा क्यों वर्णित है?

७० ए-बी. जब धातुवैराग्य और फललाभ होता है, तब परिज्ञावों का संकलन होता है।[२]

व्या० ५१०,१६. संकलन का अर्थ है 'जोड़ना' (एकत्वेन व्यवस्थापन)।

दो अन्य फल का लाभ धातु-वैराग्य के साथ होता है। कितनी परिज्ञावों की हानि और कितनों का लाभ होता है (विभाषा, ६३,१)?

७० सी-डी. कोई एक, कोई दो, कोई पाँच, कोई छः परिज्ञाओं का त्याग करता है। इसी प्रकार इनकी प्राप्ति होती है। किन्तु किसी को पाँच परिज्ञाओं का लाभ नहीं होता।[३]

अर्हत्व से या कामवैराग्य से परिहीयमाण आर्य एक परिज्ञा का त्याग करता है।

[११८] जो रूप-वीतराग-अनागामिन् काम-वैराग्य से परिहीयमाण होता है, वह दो परिज्ञाओं का त्याग करता है।

१६वें क्षण में (मार्गेऽन्वयज्ञान में) वीतराग पूर्वी ५ परिज्ञाओं का त्याग करता है, क्योंकि इस क्षण में अवरभागीय प्रहाण-परिज्ञा का लाभ करता है।

व्या० ५११,१५. यदि वह वीतराग पूर्वी नहीं है, यदि वह आनुपूर्वक (२, १६ डी) है, तो वह छठी परिज्ञा का लाभ करता है, जिसका उसने कामवैराग्य का लाभकर अन्य पाँच के साथ त्याग किया था। यही प्रकार लाभ का है, जो दर्शनमार्गस्थ या भावनामार्गस्थ एक अपूर्व परिज्ञा का लाभ करता है।

जो केवल आरूप्य-वैराग्य से परिहीयमाण होता है, वह दो परिज्ञा (६वीं और सातवीं) का लाभ करता है।

जो अनागामि-फल से परिहीयमाण होता है, वह छः परिज्ञाओं का लाभ करता है।[४] कोई पाँच परिज्ञाओं का लाभ नहीं करता।

---

१. उसे रूपवीतराग अनागामिन् कहते हैं।
२. =[तासां] संकलनं [धातुवैराग्यफललाभतः]।
३. व्या० ५१०,२४. एकां द्वे पंच षट् कश्चिज्जहात्याप्नोति पंच न ॥
४. परिज्ञादशा निष्ठिता—शुआनचाङ् कुछ बातों का संशोधन करते हैं।

[११६] हम इसका निर्देश कर चुके हैं (५.६४) कि किस प्रकार प्रहाण 'परिज्ञा' संज्ञा का लाभ करता है।

क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्।
द्विविधो भावनामार्गो दर्शनाख्यस्त्वनास्रवः ॥१॥

१ ए-बी. यह आख्यात हो चुका है कि क्लेशों का प्रहाण सत्यदर्शन और भावना से होता है।[२]

हमने दर्शनहेय और भावनाहेय क्लेशों का व्याख्यान विस्तार से किया है (५.३ सी. ५ ए, आदि)।

प्रश्न है कि दर्शनमार्ग और भावनामार्ग सास्रव हैं या अनास्रव।

१ सी-डी. भावनामार्ग द्विविध है, दर्शनमार्ग अनास्रव है।[३]

भावनामार्ग लौकिक या सास्रव और लोकोत्तर या अनास्रव है।

दर्शनमार्ग त्रैधातुक क्लेश का प्रतिपक्ष है। यह ६ प्रकार के (अधिमात्र-अधिमात्र इत्यादि) दर्शनहेय क्लेशों का सकृत् प्रहाण करता है।

[१२०] अतः यह एकान्त लोकोत्तर है, लौकिक मार्ग की ऐसी शक्ति नहीं होती।[४] हमने कहा है (१ बी) "सत्यदर्शन से"। सत्य क्या है?

---

१. हम इस कोशस्थान के अन्त में कोश के अनुसार मार्गवाद का संक्षेप में वर्णन देंगे : प्रयोगमार्ग, अनास्रव-सास्रवमार्ग आदि।

२. =क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्। [व्याख्या ५१३.४] यह अनुवाद ठीक न होगा : "सत्यों के दर्शन और सत्यों की भावना से।" लौकिक या सास्रव भावना का आलम्बन सत्य नहीं हैं।

'भावना', 'भावन' शब्द के विविध अर्थों पर ६.१२२ सी-डी, ६.५, ७.२७ अत्थ-सालिनी, १६३ : ए. लाभ, प्रतिलम्भ, बी. अभ्यास, (निषेवण, निषेवा, अभ्यास); सी. समाधि

कारिका की प्रथम पंक्ति—'क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्' बोधिचर्यावतार, ६, ४१, पृ० १२६ में उद्धृत है। बोधि में इसका निराकरण है। केवल शून्यता के दर्शन और भावना से क्लेशों का प्रहाण होता है। दर्शनमार्ग पर 'सिद्धि' देखिये।

३. द्विविधो भावनामार्गो दर्शनाख्यस्त्वनास्रवः।।

दर्शनमार्ग, १.४० ए-बी, ६, २५-२८; भावनामार्ग, अनास्रव और सास्रव ६, २६-५०।

विविध मार्ग, ६, ६५ बी।

४. विभाषा ५१, १६ में दो मार्गों पर ३० मत निर्दिष्ट हैं : दर्शनमार्ग पटुमार्ग है : किसी प्रकार इसका साक्षात्कार होने से यह सकृत् ६ प्रकार के क्लेशों का समुच्छेद करता है। भावनामार्ग पटु नहीं है। पुनः-पुनः दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करने से यह ६ प्रकार के

सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा ।
निरोधो मार्ग इत्येषां यथाभिसमयं क्रमः ॥२॥

२ ए. चार सत्य उक्त हैं ।[1]

कहाँ उक्त हैं ?—प्रथमकोशस्थान में । "अनास्रवधर्म मार्ग सत्य है........." (१.५) इस बचन से हमने मार्ग-सत्य को नाम से प्रज्ञप्त किया है ।

"प्रतिसंख्या-निरोध विसंयोग है" (१.६) इस वचन से हमने निरोध-सत्य को प्रज्ञप्त किया है । "दुःख, समुदय, लोक स्थान" इस वचन से हमने दुख और समुदय-सत्य को प्रज्ञप्त किया है (१.८) ।

क्या सत्यों का यही क्रम है ? नही; किन्तु

२ बी-सी. क्रम इस प्रकार है—दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग ।[2]

'तथा' शब्द यह सूचित करता है कि सत्यों का स्वभाव ऐसा है जैसा प्रथक कोशस्थान में उक्त है ।

२ सी-डी. इनका यथाभिसमय क्रम है ।[3]

जिस समय का प्रथम अभिसमय होता है उसका पहले निर्देश है ।

[१२१] इतरथा पूर्व हेतु-निर्देश (समुदय और मार्ग) और पश्चात् फल-निर्देश (दुःख और निरोध) होगा ।

किन्हीं धर्मों की देशना उपपत्ति के अनुकूल होती है; यथा प्रत्युपस्थान[4] की, ध्यानादि की । किन्हीं धर्मों की देशना अवबोध (प्रतिरूपण=प्रदर्शन) के अनुकूल होती है, यथा सम्यक् प्रहाणों की।[5] अनुत्पन्न और शुक्ल धर्मों की अपेक्षा उत्पन्न और कृष्ण धर्मों का सुखावबोध होता है—क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुद्गल उत्पन्नों के प्रहाण के लिये पूर्व और अनुत्पन्नों के अनुत्पाद के लिये पश्चात् छन्द का उत्पाद करता है ।

---

क्लेशों का छेद करता है । एक तीक्ष्ण छेद है, दूसरा मृदु छेद है.........। दर्शनहेय क्लेश का प्रहाण उस प्रकार होता है जैसे पत्थर तोड़ा जाता है; भावनाक्लेश का प्रहाण वैसे होता है जैसे एक बिससूत्र का छेद होता है । सत्य दर्शनमार्ग जो सत्यों का प्रथम अनास्रव दर्शन है १५ क्षणों में अपने प्रतिपक्षसत्कायदृष्ट्यादिक्लेशों का छेद करता है । अनास्रव या सास्रव भावनामार्ग ९ भूमियों में से (कामधातु, ४ ध्यान, ४ आरूप्य) (६, ३३) प्रत्येक के (अधिमात्र-अधिमात्र आदि गण) ९ क्लेश-प्रकार को एक-एक करके प्रतिपक्षित करता है ।

१. =[सत्यान्युक्तानि चत्वारि]

२. =[दुःखं समुदयस्तथा । निरोधोमार्गः]

३. =एतेषां यथाभिसमयं क्रमः—विभाषा, ७८, १२ के अनुसार ।

४. ६.१४; ६७

५. ६.६७; महाव्युत्पत्ति, ३९ कृष्णादिधर्मों के अन्तर्हित होने के लिए प्रयत्नकरना ।

सत्यों की देशना अभिसमयानुकूल है।

उनका अभिसमय इस क्रम में क्यों होता है?

क्योंकि मौल मार्ग की प्रयोगावस्था में अर्थात् व्यवचारण की अवस्था[1] योगी आदि में उस संज्ञा का उत्पाद करता है जिसमें वह सक्त है, जिससे वह बाधित होता है, जिससे वह अपने से पूछता है कि इसका हेतु क्या है और उसको समुदय संज्ञा होती हैं। पश्चात् वह अपने से पूछता है कि इसका निरोध क्या है और उसको निरोध संज्ञा होती है। पश्चात् वह अपने से पूछता है कि निरोध का मार्ग क्या है और उसको मार्ग संज्ञा होती है। (विभाषा ७८,१३)

उसके भेषज का विचार होता है।

सत्यों का यह विचार सूत्र में भी है।

किस सूत्र में? "चार अंगों से समन्वागत भिषक्......" इस सूत्र में[2]।

[१२२] व्यवचारण-अवस्था में जिस क्रम से वह सत्यों का विचार करता है उसी क्रम से अभिसमयावस्था को प्राप्त हो वह सत्यों का अभिसमय करता है—क्योंकि अभिसमय का आक्षेप पूर्व प्रयोग से होता है (पूर्ववेधात्, पूर्वक्षेपात्) (व्या० ३१५,२)—यथा दृष्टभूमि पर अश्व निःसंग दौड़ता है।[3]

अभिसमय शब्द का क्या अर्थ है?—इसका अभिसंबोध है। 'इष्' धातु बोधन के अर्थ में है।

अभिसमय केवल अनास्रव क्यों है?—क्योंकि यह एक विज्ञान (अय) है जो निर्वाण

---

१. व्यवचारण=परीक्षा=प्रतिरूपण (व्या० ५१४,२३)। यह निर्वेधभागीयावस्था है। (६'१७)

२. शुआन चाङ् के भाषान्तर के अनुसार सुभिषक् सूत्र।

परमार्थ के अनुसार भिषगोपमान सूत्र (संयुक्त, १५,१६, १७,१४)।

व्याख्या (५१४,२६) सूत्रे व्येव सत्यानां दृष्टान्त इति व्याख्यादि सूत्रे। कथम्! चतुर्भिरङ्गैः समन्वागतो भिषक् शल्यापहर्ता राजार्हश्च भवति राजयोग्यश्च राजाङ्गत्वेन च संख्यां गच्छति। कतमैश्चतुर्भिः। आबाधकुशलो भवति। आबाधसमुत्थानकुशलो भवति। आबाधप्रहाणकुशलः प्रहीणस्य चा बाधस्यायत्याम् अनुत्पादकुशलः। एवमेव चतुर्भिरङ्गैः समन्वागतस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धोऽनुत्तरो भिषक् शल्यापहर्तेत्युच्यते। कतमैश्चतुर्भिः इह भिक्षवस्तथागतो इदं दुःखम् आर्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति ''। केर्न, मैनुअल पृ० ४७ (योगसूत्र, २'१५; ललित, पृ० ४४८,४५८), अंगुत्तर की अनुक्रमणिका में भिषक्क; मिलिन्द; अनुवाद २,८ टि०; शिक्षा-समुच्चय १४८,५, २४३,४, २६५,२;

बोधिचर्यावतार, २.५७, ७'२२ आदि—नन्जियो १३२७ देखिए।

३. दृष्टभूमिनिःसंगाश्वप्रसरणवत् या धावनवत्।

के अभिमुख (अभि) है [३] सम्यक् (सम्, सम्यक्) है, 'सम्यक्' का अर्थ है जो द्रव्य के अनुरूप हैं।[१]

पाँच उपादानस्कन्ध (१·८ ए-बी) फलतः दुःखसत्य है, दुःख-सत्य-दर्शन है। जहाँ तक यह हेतु है, यह समुदय-सत्य है, क्योंकि[२] इनसे (१·८ सी) दुःख की उत्पत्ति होती है।

[१२३] अतः दुःख और समुदय नामतः भिन्न हैं किन्तु द्रव्यतः एक हैं, क्योंकि यही उपादानस्कन्ध फलतः या हेतुतः अवधारित होते हैं। निरोध और मार्ग द्रव्यतः और नामतः भिन्न हैं।

सूत्र सत्यों को 'आर्य-सत्य' की संज्ञा देता है। इस पद का क्या अर्थ है?—आर्य इनको सत्य करके जानते हैं, अतएव यह आर्य-सत्य हैं।[३]

---

२. अभिसमय पर नीचे, ६·२७ ए—अत्थसालिनी, २२ (५७) में लौकिक और लोकोत्तर दो अभिसमय है किन्तु पालिग्रन्थों में इसका प्रायः वही अर्थ गृहीत है जो अभिधर्म में है। आर्य-प्रज्ञा द्वारा सत्यों का अभिसमय।

३. यह वाद सबको मान्य नहीं है; नीचे पृ० १३६ देखिए।

विभाषा, ७७,५—चार आर्य-सत्यों का स्वभाव क्या है? आभिधार्मिक कहते हैं कि १. दुःख-सत्य पंच उपादानस्कन्ध हैं; २. समुदय-सत्य सास्रवहेतु हैं; निरोध-सत्य सास्रव धर्मों का प्रतिसंख्या निरोध (२.५५ डी) है; ४. मार्ग-सत्य शैक्ष और अशैक्ष धर्म हैं।—दार्ष्टान्तिक कहते हैं कि १. दुःखसत्य नाम रूप है, २. समुदय-सत्य कर्म और क्लेश है; निरोध-सत्य कर्म और क्लेश का क्षय है; मार्ग-सत्य शमक और विपश्यना है।

विभज्यवादिन् (५. अनुवाद, पृ० २३, ५२ देखिये) कहते हैं कि १. जिसमें दुःख के आठ लक्षण हैं वह दुःख और दुःख-सत्य है; अन्य सास्रवधर्म दुःख हैं किन्तु दुःख-सत्य नहीं है (नीचे पृ० १२५ टि० सी में उद्धृत पालिवचनों से तुलना कीजिये); २. जो तृष्णा अन्यभव का उत्पाद करती है वह समुदय और समुदय सत्य है, अन्य सब तृष्णा और अन्य-सास्रवहेतु समुदय हैं किन्तु समुदय-सत्य नहीं है, ३. इस तृष्णा का क्षय निरोध और निरोध-सत्य है; अन्य सब तृष्णा और अन्य सास्रवहेतु का क्षय निरोध है किन्तु निरोध-सत्य नहीं है; ४. शैक्ष का अष्टांगिक मार्ग, मार्ग और मार्ग-सत्य है; शैक्ष के अन्य धर्म और अशैक्ष के सब धर्म मार्ग हैं किन्तु मार्ग-सत्य नहीं हैं। किन्तु इस सिद्धान्त में अर्हत् केवल दुःख और निरोध-सत्य से समन्वागत होते हैं, समुदय और मार्ग-सत्य से नहीं।

संगीतिशास्त्र, ६,१२, सास्रवहेतुक समुदय-सत्य है; प्रतिसंख्यानिरोध निरोध-सत्य है; शैक्ष और अशैक्ष धर्म-मार्ग हैं।

३. विसुद्धिमग्ग ४९५ : यस्मा पन एतानि बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्ति······अरियानीति तथानि अवितथानि अविसंवादकानीति अत्थो।

कोश ४.४४ सी में आर्य का लक्षण है; यही निर्वचन अंगुत्तर, ४.१४५ मज्झिम, १.२८० आदि में हैं :—

[१२४] क्या इसका यह अर्थ है कि यह दूसरों के लिये अन्यथा हैं ?—अविपरीत होने से (विभाषा, ७७, ७)[1] यह सकल लोक के लिये सत्य है, किन्तु आर्य इन सत्यों को यथाभूत अर्थात् १६ आकार से (७. १३) देखते हैं; वह दुःख को (अर्थात् उपादान स्कन्धों को) दुःखतः, अनित्यतः, इत्यादि देखते हैं। अन्य इस प्रकार नहीं देखते। अतएव यह सत्य 'आर्यों के सत्य कहलाते हैं' अनार्यों के नहीं, क्योंकि उनका विपरीत दर्शन है। वास्तव में वह दुःख को अदुःखतः देखते हैं, यथा श्लोकोक्ति है कि "जिसे आर्य सुखतः [निर्वाण] जानते हैं उसे अन्य दुःखतः जानते हैं; जिसे अन्य सुखतः जानते हैं उसे आर्य दुःखतः जानते हैं।[2]

अन्य आचार्यों के अनुसार[3] दो आर्यों के सत्य हैं और अनार्य सब के सत्य हैं; जब वेदना का एक देश ही दुःख स्वभाव (दुःखावेदना, १.१४) है, तब यह कैसे कह सकते हैं कि सब सास्रव संस्कृत-दुःख है ?

दुःखं त्रिदुःखतायोगाद् यथायोगमशेषतः ।
मनापा अमनापाश्च तदन्ये चैव सास्रवाः ॥३॥

---

अत्थसालिनी, ३४९ में : बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, श्रावक आर्य हैं; अथवा केवल बुद्ध आर्य हैं; संयुत्त ५.४३५ से तुलना कीजिये (तथागत=अरिय) विभाषा, ७८,३ —'आर्य-सत्य' इस शब्द का अर्थ क्या है ? क्या सत्यों का यह नाम इसलिये है क्योंकि वह शुभ है, क्योंकि वह अनास्रव है, क्योंकि आर्य उनसे समन्वागत होते हैं ?

इन व्याख्यानों में क्या दोष है ? तीनों सदोष हैं :

हम कह सकते हैं कि अन्तिम दो सत्य शुभ हैं, किन्तु पहले दो तीन प्रकार के हैं—शुभ, अशुभ, अव्याकृत। २. अन्तिम दो अनास्रव है किन्तु पहले दो नहीं हैं। ३. अनार्य सत्यों से समन्वागत होते हैं यथा उक्त है : "दुःख और समुदय सत्य से कौन समन्वागत है ?—सब सत्व। निरोध-सत्य से कौन समन्वागत है ?—जो सकल बन्धन, (कोश, २.३६ सी. अनुवाद पृ० १८० देखिये) से बद्ध नहीं हैं।"—उत्तर : यह कहना कि क्योंकि आर्य उससे समन्वागत हैं इसलिये सत्य आर्य सत्य हैं ········।

१. अविपरीतत्वादिति यस्मात् तदार्याणाम् अन्येषां चाविपरीतं दुःखमेव नान्यथा।

२. संयुत्त, ४.१२७ : यं परे सुखतो आहु तदरिया आहु दुःखतो। यं परे दुःखतो आहु तदरिया दुःखतो विदू।

व्याख्या (५१५, १५) में द्वितीय पाद है; तत्परे दुःखतो विदुः।

इसमें सौन्दरनन्द, १२.२२ का अन्तिम पाद भी उद्धृत है : लोकेऽस्मिन्नालयारामे-निवृत्तौ दुर्लभा रतिः। व्यथन्ते ह्यपुनर्भावात् प्रपातादिव बालिशाः॥ वास्तव में जिसे आर्य सुख कहते हैं वह निर्वाण या निरोध है।

३. फुकुआङ् के अनुसार सौत्रान्तिक या स्थविर।

३. मनाप-अमनाप सास्रवधर्म और इससे अन्य सास्रव यथा योगत्रिदुःखतः व अशेषतः दुःख हैं।[१]

[१२५] दुःखता तीन हैं; दुःखता जो दुःख है (दुःख-दुःखता), दुःखता जो संस्कृत है (संस्कार-दुःखता), दुःखता जो परिणाम है (परिणामदुःखता)। इन तीन दुःखताओं के कारण सब सास्रव संस्कृत अविशेष्यतः दुःख हैं। मनाप भी विपरिणाम-दुःखता के कारण दुःख हैं; अमनाप दुःख-दुःखता के कारण दुःख हैं तदन्य जो न मनाप हैं, न अमनाप वह संस्कार-दुःखता के कारण दुःख हैं।

मनाप, अमनाप, तदन्य धर्म क्या हैं ?

यथाक्रम तीन वेदना और इनके कारण सब संस्कार जिनका परिणाम सुखादि वेदना है मनापादि संज्ञा का लाभ करते हैं। सुखावेदना विपरिणाम-दुःखता के कारण दुःखता है, यथा सूत्रोक्त है कि "सुखावेदना उत्पाद-सुखा और स्थिति-सुखा है किन्तु परिणाम-दुःखा (परिणामे) है।" दुःखावेदना दुःखस्वभाव के कारण दुःखदुःखता है, यथा सूत्र में कहा है कि "दुःखावेदना उत्पाददुःखा और स्थितिदुःखा है"।

[१२६] अदुःखा-सुखावेदना दुःखता है, क्योंकि प्रत्ययों से इसका अभिसंस्करण होता है (प्रत्ययाभिसंस्करणात् व्या० ५१६,१३) (संस्कार दुःखता), यथा सूत्र [४ ए] में उक्त है कि "जो अनित्य है वह दुःख है"।

---

१. परमार्थ के संस्करण के अनुसार जो सामान्यतः मूल का अनुसरण करता है : [दुःखं त्रिदुःखतावत्त्वाद्] यथायोगमशेषतः।

[मनापा अमनापाश्च तेभ्योऽन्येचैव सास्रवाः ।।] (व्या० ५१५, २४)

ए. व्याख्या (५१, ५, २७) मन आप्नुवन्तीति मनापाः। पुनः सन्धिकरणंचात्रेति व्याख्यातम्।

बी. तीन प्रकार के दुःख पर दीघ, ३.२१६ यदि बुद्धघोष डॉयलाग्स, ३.२१० का संक्षिप्त विवरण शुद्ध है तो बुद्धघोष वसुबन्धु से व्यावृत्त करते हैं); संयुक्त ४.२५९, ५.५६; विसुद्धिमग्ग, ४९९; मध्यमकवृत्ति, अध्याय २४ (पृ० २२७, ४७५) कोशपर आश्रित है; बोधिचर्यावतार ३४९; रॉकहिल, लाइफ १८९; योगसूत्र २.१५ (परिणाम, ताप और संस्कार दुःखता) ;—नाम संगीति, ८५ : दुःखं संसारिणः स्कन्धाः।

सी. यमक, १'१७४ के अनुसार (काय और चित्त की) दुःखावेदना दुःख है; शेष दुःख सत्य हैं, किन्तु दुःख नहीं है। दुःखावेदना अनुभव-दुःख है (अभिधर्म का दुःख-दुःख); शेष दुःख है क्योंकि भयावह है, सप्पटिभयत्थेन। (Ledi sadaw) के अनुसार, जे. पी. टी. एस. १९१४,१३३)।

कथावत्थु, १७'५ हेतुवादिन् का मत है कि मार्ग को वर्जित कर और दुःखहेतु के सब संस्कृत-धर्म दुःख हैं।

तद्वेदनीय संस्कारों को भी वेदनावत् जानना चाहिये[१]। अन्य आचार्यों के अनुसार दुःखदुःखता आदि पदों का इस प्रकार विग्रह करना चाहिये। दुःखमेव दुःखता, विपरिणाम एव दुःखता, संस्कार एव दुःखता, इस पर्याय में भी वही अर्थ गृहीत हैं। मानवधर्म दुःखदुःखता को असाधारण है; अमानवधर्म परिणामदुःखता को असाधारण है; द्वितीय दुःखता प्रथम धर्मों की है और प्रथम-दुःखता द्वितीय धर्मों की है। किन्तु संस्कृत-संस्कारतादुःखवश दुःख हैं और केवल आर्य ही इनको आकार में देखते हैं। कहा भी है : "हथेली पर रखे हुए ऊर्णपक्ष्म का प्रतिसंवेदन नहीं होता, किन्तु यही जब अक्षिपात्र में पड़ जाता है तब पीड़ा पहुँचाता है और अपकार करता है।

[१२७] इसी प्रकार मूर्ख हाथ के सदृश संस्कारदुःखताभूत ऊर्णापक्ष्म का अनुभव नहीं करता। किन्तु आर्यों को चक्षु के सदृश यह पीड़ा पहुँचाते हैं।"[१]

घोर से घोर अवीचि की उपपत्ति का भाव मूर्खों को जितनी पीड़ा नहीं पहुँचाता, उससे कहीं अधिक पीड़ा पहुँचाने वाला भवाग्रोपपत्ति का भाव आर्यों के लिये होता है।

किन्तु मार्ग के संस्कृत होने से मार्ग में भी संस्कार-दुःखता का प्रसंग होगा।[२] मार्ग

---

१. मनापधर्मों की विपरिणामदुःखता है; अनित्य होने के कारण यह दुःख-स्वभाव हैं। व्याख्या (५१६.२) में अश्वघोष के सौन्दरनन्द ११'५०वाँ श्लोक उद्धृत है : हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये। इत्यार्त विलपन्तो गां पतन्ति दिवौकसः॥ (दिव्य १९४ से तुलना कीजिये) यहाँ यह द्रष्टव्य है कि वसुबन्धु, ४'८६ में इस काव्य को उद्धृत करते हैं : गृहस्थेन हि दुःशोधाद्दृष्टिर्विविधहष्टिना। आजीवो भिक्षुणाचैव परेष्वायत्तवृत्तिना॥

अमनाप धर्म दुःखस्वभाववश दुःख हैं किन्तु उपवाल स्वभाववश क्या इसलिये अर्थापत्ति से यह विपरिणाम-सुख होंगे? निस्सन्देह, किंतु यह उपदेश विद्वृवर्णीय है : यथा हम सुखा-वेदना को यद्यपि वह उत्पादसुखा और स्थितिसुखा है विपरिणाम-दुःखता से दुःख मानते हैं। संस्कारदुःखतावश सब वस्तु दुःख हैं : संस्कारेणैव दुःखतेति संस्कारेणैव जननेनैवेत्यर्थः। यद-नित्यं तद्दुःखम् यन्न नियतस्थितं तद्दुःखम् यज्जायते विनश्यति च तद्दुःखमित्यर्थः। तेनोक्तम्। प्रत्ययाभिसंस्करणादिति प्रत्ययैरभिसंक्रियते यस्मात् तस्मात् तद् दुःखमिति (व्याख्या ५१६,१०)।

संयुक्त, (४'२०७) : सुखं दुःखतो......दुक्खं सल्लतो......अदुःखमसुखमनिच्चतो।

१ मध्यमकवृत्ति; पृ० ४८६ में उद्धृत है; जैकाब, लौकिकन्यायाञ्जलि, मैविसम्स (बम्बई, १९११), पृ० १०३ : अक्षिपात्रन्याय से तुलना कीजिए।

२. थेरवादिन् का यह मत कथावस्तु, १७'५ में व्याख्यात है,

विभाषा, ७८,६ सूत्र से उक्त है : "मार्ग संभार पर आश्रित हैं, निर्वाण मार्ग पर आश्रित है। मार्ग-सुख से निर्वाण-सुख का लाभ होता है।" जब मार्ग सुख है तब यह कैसे कहते हैं कि स्कन्धों में कोई सुख नहीं है? स्वल्पमात्र सुख होता है...... तथापि स्कन्ध एक दुःखराशि है, यथा विषपूर्ण भाण्ड में मधु बिन्दु......उसी प्रकार स्कन्ध हैं; स्वल्पसुख अनेक दुःख। अतः केवल उन्हें दुःख सत्य कहते हैं। कुछ कहते हैं कि "स्कन्धों में आत्यन्तिक नहीं है : अतः उन्हें दुःख-सत्य कहते हैं।"

दुःख नहीं है, क्योंकि दुःख का लक्षण प्रतिकूलता है (प्रतिकूलं हि दुःखमिति लक्षणात्. व्या० ५१७,१), किन्तु मार्ग का उत्पाद आर्यों के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि यह जाति के सब दुःख के क्षय का आवाहन करता है :

जब निर्वाण को शान्ततः देखते हैं तब जिसे उन्होंने दुःखतः देखा है [अर्थात् सास्रय-संस्कृत न कि मार्ग-निरोध] उसी के निरोध को वह शान्ततः देखते हैं ।

किन्तु जब सुख का सद्भाव हैं तो क्यों केवल दुःख का ही और सुख नहीं आर्य-सत्य है ?

१. एक निर्देश के अनुसार सुख की स्वल्पता के कारण यथा मापराशि में मुद्ग-राशि के होते हुए भी उसका लोक में माषराशि ऐसा ही व्यपदेश होता है, यथा कोई समझ-दार गण्ड को सुखवत् अवधारित नहीं करता केवल इसलिये कि इसके परिषेक के समय सुखाणु का अनुभव होता है ।

[१२८] २. पुनः (खल्वपि) "क्योंकि यह दुःख का हेतु है क्योंकि यह अति बहु दुःखों से समुदित होता है क्योंकि दुःख के होने पर (पृ० १३६ के नीचे देखिये) यह इष्ट होता है : अतः सुख को दुःख ही व्यवस्थित करते हैं ।"[१]

३. किन्तु सुख के साथ होते भी साकल्येन भव का एक रस संस्कार-दुःखता है; अतः आर्य उसे दुःखवत् देखते हैं; अतएव दुःख आर्य सत्य है और सुख नहीं है ।

१. किन्तु सुखस्वभाव वेदनाओं को आर्य दुःखतः कैसे देखते हैं ?—क्योंकि अनित्यता-वश वह प्रतिकूल हैं, यथा वह रूप संज्ञादि को दुःखतः देखते हैं यद्यपि रूप संज्ञादि उस प्रकार दुःख नहीं हैं जैसे दुःखावेदना है ।

२. जिसका यह मत है कि "सुख दुःख है क्योंकि यह दुःख का हेतु है ।" उसके लिये—

(१) यह दुःख हेतु समुदयाकार (७·१३ ए) है; वस्तुओं का दुःख हेतुतः दर्शन दुःखा-कार-दर्शन नहीं है;

(२) रूपारूप्योपपत्ति में आर्यों की दुःख-संज्ञा का प्रवर्तन कैसे होगा ? [५ ए] क्योंकि इन धातुओं के स्कन्ध दुःख वेदना के हेतु नहीं है; (३) सूत्र में संस्कार दुःखता किस लिये

---

१. यहां कुमारलाभ (सौत्रान्तिक) का एक श्लोक है :

दुःखस्य च हेतुत्वाद् दुःखैश्चानल्पकैः समुदितत्वात् ।

दुःखे च सति तदिष्टेर्दुःखमिति सुखं व्यवस्यन्ति ।। (व्या० ५१७,२०)

२. सह तु सुखेन । तु-शब्द सर्वास्तिवाद—('एक निर्देश के अनुसार'···) और सौत्रान्तिक पूर्व पक्ष के व्यावर्तन के लिये है ।

शुआन चाङ् 'यथार्थ निर्देश······', जापानी संपादक "आचार्य सर्वास्तिवादियों के यथार्थ व्याख्यान का निर्देश करते है ।"

वर्णित होगी ? यदि आर्य दुःख को दुःखतः देखते है, क्योकि वह दुःख-हेतु हैं, तो संस्कार-दुःखता (अर्थात् "जो अनित्य है वह दुःख हैं") का कोई प्रयोजन नहीं है ।

३. किन्तु यदि आर्य दुःख को दुःखतः देखते हैं, क्योंकि यह अनित्य है, तो अनित्याकार और दुःखाकार में क्या प्रतिविशेष है ?

एक ओर 'वस्तुओं को दुःखतः देखने में' और दूसरी ओर वस्तुओं को 'अनित्यतः देखने में' विक्षेप होगा (७.१३) ।

[१२६] वह वस्तुओं को अनित्यतः देखता है, क्योंकि उनका उदयव्ययधर्मित्व है; वह उनको दुःखतः देखता है, क्योंकि वह प्रतिकूल हैं । जब अनित्य दृश्यमान होता है, तब वह प्रतिकूल होता है ।

अनित्याकार दुःखाकार का आकर्षण करता है, किन्तु उसका इस प्रकार से एकत्व नही है।

४. एक आचार्य सुखावेदना[1] का प्रतिषेध करते हैं और उनकी प्रतिज्ञा है कि सब दुःख है । वह आगम और युक्ति से इस वाद को सिद्ध करते हैं ।

आगम—सूत्र में उक्त है कि "यत्किंचित् वेदित है वह दुःख है ।" "सुखावेदना को दुःखतः देखना चाहिये ।" "दुःख को सुखतः देखना विपर्यास है ।"[2]

युक्ति—१. क्योंकि सुखहेतु का व्यवस्थान नहीं है (सुखहेत्वव्यवस्थानात्) । अशन, पान, शीत, उष्णादि जिन्हें सुख-हेतु मानते हैं वह दुःख-हेतु हो जाते हैं, यदि वह अति परिभुक्त या अकालोपयुक्त होते हैं । यह युक्त नहीं है कि एक सुख-हेतु वृद्धि को प्राप्त कर या सम होते हुए अन्य काल में संमुख होकर दुःख का उत्पाद करे । अतः यह तथोक्त सुख-हेतु आदि से ही दुःख के हेतु हैं, सुख के नही; पश्चात् दुःख की वृद्धि होती है और तब वह अनुभवनीय होता है । शयन, निषद्या, स्थान, चंक्रमण इन चार ईर्या पथों के विकल्प में भी ऐसा ही है (पृ० १३५) ।

२. क्योंकि सुख-वृद्धि का आलम्बन सुख नहीं है, किन्तु कभी दुःख प्रतिकार है, कभी दुःख विकल्प है इसलिये (ए) जब तक पुद्गल दुःख से पीड़ित नही होता, जिसके कारण बुभुक्षा, पिपासा, शैत्य, औष्ण्य, श्रम, छन्द होते हैं, तब तक कोई वेदना नही होती, जिसे वह कहे कि यह सुखावेदना है (सुखमिति); अतएव बालों को यथार्थ सुख में नहीं, किन्तु दुःख-प्रतिकार

---

१. विभाषा, ७८.६—व्याख्या (५१८,२१) के अनुसार भदन्त श्रीलाभ जापानी संपादक की विवृति के अनुसार सौत्रान्तिक, महासांघिक आदि-आदि । संघभद्र न्यायानुसार "स्थविर का कहना है कि वेदना दुःखमात्र है ।" कथा वत्थु, २.८ से तुलना कीजिये जहाँ थेरवादिन् गोकुलिक (=कुक्कुलिक, कीथ की बुधिस्ट फिलासफी, पृ० १५१) का प्रतिषेध करता है।

संघभद्र का महाशास्त्र ६३२, टोल ३, भी देखिये ।

२. इन सूत्रों का विवेचन आगे पृ० १३१-१३२ में किया गया है ।

सुख-बुद्धि होती है। (बी) वालों को दुःख-विकल्प में भी सुख-बुद्धि होती है, यथा भारवाहक को एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर भार का अतिक्रमण करने में सुख-बुद्धि उत्पन्न होती है।[१] अतः सुख का अस्तित्व नहीं है। आभिधार्मिक कहते हैं कि इसका अस्तित्व है और हमारा कहना है वही न्याय है (एष एव न्यायः, व्या० ५१८, ३३)।

[१३०] १. हम सुख के अपवादक से पूछते हैं कि दुःख क्या है ? यदि उसका उत्तर है कि "जो थोड़ा पीड़ा पहुँचाता है" वह दुःख[२] है, तो हम पूछेंगे कि "यह पीड़ा कैसे देता है ?" यदि उसका उत्तर है 'क्योंकि यह अपकार करता है', तो हम कहेंगे कि 'जो उपकार करता है वह सुख है'। यदि उसका उत्तर है, "क्योंकि यह अभिप्रेत है", तो हम कहेंगे कि 'जो अभिप्रेत है वह सुख है'।[३]

२. किन्तु यह कहा जायगा कि चाहे यह 'अभिप्रेत' हो या 'प्रेय', वैराग्यकाल [६ एं] में यह आर्यों को अनभिप्रेत होता है। अतः प्रेयत्व व्यवस्थापित नहीं होता। आक्षेप व्यर्थ है, क्योंकि यदि विरक्त होने पर आर्यों को यह अभिप्रेत नहीं होता तो आकारान्तर से यह उनके अनभिप्रेत है।

जो वेदना वस्तुतः इष्ट है वह कभी वस्तुतः अनभिप्रेत नहीं होती। अतः उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं, किन्तु आकारान्तर से आर्यों को सुखावेदना अभिप्रीत नही होती; वह उसके दोषों के कारण उससे द्वेष करते हैं, क्योंकि वह प्रमादपद अर्थात् कुशल-प्रच्युति का कारण है, क्योंकि वह महाभिसंस्कार-साध्य है, क्योंकि वह विपरिणामिनी (अर्थात् समनन्तरदुःखोत्पादिनी और अनित्य है)। यदि यह वेदना स्वात्म-वश अनभिप्रेत हो, तो उसमें किसी का भी राग न हो, क्योंकि आर्य वैराग्य के निमित्त स्वलक्षणाकार से नहीं, किन्तु इस वेवना को दोषवती देखते हैं; इसलिए यह परिणाम निकलता है कि सुखावेदना स्वात्मना है।

---

१. मज्झिम, १.५०७ से तुलना कीजिये—पृ० १३५ में इसका प्रतिषेध है।

२. विभाषा, ७७, १२ पार्श्व कहते हैं कि पीडन दुःख का स्वभाव है; वसुमित्र कहते हैं कि प्रवृत्ति (या संसार-संचार) दुःख का लक्षण है इत्यादि।

३. शुआन चाङ् के अनुसार : यदि उसका उत्तर यह है कि 'यह बाधा है' तो उसमें सौमनस्य होने से सुख का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि उसका उत्तर है कि 'जो अपकार करता है वह दुःख है' तो अनुग्राहक होने से सुख का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि उसका उत्तर है कि 'जो अरंजन्य है वह दुःख है' तो रंजनीय होने से सुख का अस्तित्व सिद्ध होता है।

परमार्थ के अनुसार : यदि उसका उत्तर है 'जो बाधा पहुँचाता है उसे दुःख कहते हैं" तो सुख बाधा कैसे पहुँचाता है ? यदि उसका उत्तर है 'जो अपकार करता है वह दुःख है' तो सुख अनुग्राहक है, वह अपकारक कैसे होगा ? यदि उसका उत्तर है 'जो अरंजन्य है वह दुःख है' तो सुख रंजन करता है, वह दुःख कैसे होगा ?

[१३१] ३. "यत्किंचित् वेदित है वह दुःख का लक्षण है" भगवत् की इस उक्ति का अर्थ भगवत् ने ही व्यवस्थापित किया है। हे आनन्द! संस्कारों की अनित्यता, संस्कारों की विपरिणामिता को लक्ष कर मैंने यह कहा है कि "यत्किंचित् वेदित है वह दुःख का लक्षण है।"[१] अतः यह व्यवस्थापित होता है कि यह वचन दुःखदुःखता को लक्षकर नहीं कहा गया है।

यदि सब वेदना दुःख-स्वभाव होती, तो आनन्द यह प्रश्न न करते कि "भगवत् ने तीन वेदनाओं की अर्थात् सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा वेदना की देशना की है। भगवत् की देशना है कि यत्किंचित् वेदित है वह दुःख है। भगवत् ने किस अभिप्राय से, किस दृष्टि से, यह उपदेश किया है कि यत्किंचित् वेदित दुःख है"?—किन्तु आनन्द यह प्रश्न करते "किस अभिप्राय से भगवत् ने यह उपदेश किया है कि तीन प्रकार की वेदना है?" और भगवत् का व्याकरण इस रूप में होता कि "मेरा यह आभिप्रायिक वाक्य है कि तीन-तीन प्रकार की वेदना है।"

[१३२] अतः यदि भगवत् का वचन है कि "मैंने अभिसन्धि से यह व्याकरण किया है कि यत्किंचित् वेदित दुःख है" तो यह इसलिये कि स्वभावतः वेदना तीन हैं।

४. इस वाक्य के सम्बन्ध में कि "सुखावेदना को दुःखतः देखना चाहिये" (सुखावेदना दुःखतो द्रष्टव्या) यह कहता है कि एक पक्ष में सुखावेदना स्वात्मना सुखा है, क्योकि यह मनाप है, दूसरे पक्ष में यह पर्यायेण दुःखा है, क्योंकि यह विपरिणामधर्मी और अनित्यधर्मी है। रागी पुद्गल उसे सुखा मानते हैं और क्योंकि वह उसके रस का आस्वादन करते हैं इसलिये बद्ध होते हैं। उसे दुःख मानकर आर्य मुक्त होते हैं, क्योकि उसके प्रति वह वीतराग होते हैं। इस लिये भगवत् की शिक्षा है कि सुखावेदना को इस पर्याय से देखना चाहिये जो मोक्ष-लाभ के अनुकूल हो।

हम कैसे जानते हैं कि सुखावेदना स्वात्मना सुखा है? यह उक्त है कि "सर्वज्ञ सम्यक्

---

१. मूल में है—संस्कारानित्यताम् आनन्द मया सन्धाय भाषितं संस्कारविपरिणामतां यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्र दुःखस्येति (व्या. ५१९, १८)।

व्याख्या (५१८, २१) इदमत्र दुःखस्य लक्षणमित्यर्थः।

संयुत्त, ४.२१९ में यही सूत्र है, किन्तु भगवत् से प्रश्न करने वाला 'एक भिक्षु' है—तिस्सो इमा भिक्खु वेदना वुत्ता मया ''। वुत्तं खो पनेतं भिक्खु मया यं किञ्चि वेदयितं तं दुक्खस्मिन्ति। तं खो पनेतं भिक्खु मया संखारानं येव अनिच्चतं संधाय भासितं ·····

विपरिणाम=अन्यथात्व

नामसंगीति, ८.९ की टीका में पाठ भेद है—यत्किंचित् कायेवेदितमिदमत्र दुःखम्। सूत्रालंकार, १७. ९३, तीन दुःखता और तीन वेदना—सुख पर 'सिद्धि', ७०१ देखिये।

सम्बुद्ध ने संस्कारों की अनित्यता और विपरिणामता को जानकर यह व्याकरण किया है कि "वेदना दुःख है।" (संयुक्त १७,१७)

५. यह वाक्य कि "दुःख को सुखतः देखना विपर्यास है" (५.९ ए) आभिप्रायिक है। लोक में यह सुख-संज्ञा सुखावेदना, कामगुण और उपपत्ति की संज्ञा है। किन्तु सुखावेदना पर्यायेण दुःख है, उसको एकान्त सुख समझना विपर्यास है। कामगुणों में बहु दुःख और अल्प सुख होता है, उनको एकान्त सुख समझना विपर्यास है। इसी प्रकार उपपत्ति को भी समझना चाहिये। अतः यह सूत्र-पद सुखावेदना को नहीं प्रदर्शित करता।

६. यदि सब वेदना स्वात्मतः दुःख है, तो इसका क्या निरूपण है कि बुद्ध तीन प्रकार की वेदना का उपदेश करते हैं ?

कदाचित् यह उत्तर हो कि बुद्ध की यह देशना लोकानुवर्तन के लिये हैं (लोकानुवृत्या व्या० ५१९,२९)।

[१३३] ऐसा नहीं है; ए. बुद्ध ने कहा है "यदि मैंने कहा है कि सब वेदना दुःख है तो यह वाक्य आभिप्रायिक है।" (ऊपर पृ० १३१ देखिये) [७ बी]

बी. तीन वेदना के अधिकार में (२.७ और आगे) बुद्ध 'यथाभूत' शब्द का प्रयोग करते हैं। वास्तव में यह कहकर कि 'सुखेन्द्रिय और सौमनस्येन्द्रिय सुखावेदना हैं' वह कहते हैं कि 'जो सम्यक् प्रज्ञा से इन पाँच इन्द्रियों को (याने वेदनाओं को) इस प्रकार यथाभूत देखता है वह तीन संयोजनों का प्रहाण करता है'[1]......।

सी. पुनः यदि वेदना एकान्ततः दुःख होती तो लोक का यह व्यवसाय (व्यवस्येत्) कैसे होता कि वेदना तीन प्रकार की है ?—क्या आपका यह कहना है कि मृदु दुःख में सुख-बुद्धि, मध्य दुःख में अदुःखासुख-बुद्धि और अधिमात्र दुःख में दुःख-बुद्धि होती है ?—किन्तु सुख भी त्रिविध होता है। इसलिये मृदु दुःख में अधिमात्र सुख-बुद्धि, मध्य दुःख में मध्य सुख-बुद्धि और अधिमात्र दुःख में मृदु सुख-बुद्धि होगी[2]।

पुनः जब कोई गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य-विशेष से उत्पन्न सुख का प्रतिसंवेदन करता है तब वह कौन-सा मृदु दुःख है जिसमें उसकी सुख-बुद्धि होती है।[3]

---

१. येनेमानि पंचेन्द्रियाण्येवं यथाभूतं सम्यक् प्रज्ञया दृष्टानि......, यथाभूतम् : अध्यारोपापवादाभावात् (व्या० ५२०, ५); जैसा है वैसा, बिना अध्यारोप या अपवाद के।

२. विभाषा, ७८, ६ : जब कोई अपाय सत्वों के दुःख का अनुभव करता है तब तिर्यक् दुःख में उसकी सुख-बुद्धि होती है ......जब कोई मनुष्य दुःख का अनुभव करता है तो उसकी सुख-बुद्धि देव दुःख में होती है।

३. व्याख्या (५२०, १९)—अदुःखानन्तरं सुखाभिमानं पश्यन्नाह। यदा गन्ध रस-स्प्रष्टव्यविशेषजमिति। मध्यं हि दुःखम् अदुःखासुखं भवतां न मृदु प्रकाश अतो वक्तव्यम् तदा कतमद् दुःखं मृदुभूतं यत्रास्य सुखबुद्धिर्भवतीति विषयबलादेव हि तत् सुखमुत्पद्यते मृदु दुःख-समनन्तरप्रत्ययबलाद् अधिमात्रदुःखसमनन्तरप्रत्ययबलाद्वेति।

[१३४] [और यदि आपका मत है कि सुख-बुद्धि मृदु-दुःख में होती है तो] जब यह मृदु-दुःख अनुतप्त होता है या जब यह विनष्ट होता है तब अशेष दुःख के आगम से सुख-बुद्धि और भी होगी। यथा गन्धादि विशेष से उत्पन्न सुख के लिये कहा हैं वैसे ही कामसुख-संमुखी-भाव के लिये भी कहना चाहिये।

पुनः आप के सिद्धान्त में यह योजना कैसी है कि एक मृदुवेदित, एक मृदु दुःख में व्यक्त और तीव्र अनुभव (सुख-बुद्धि) [८ ए] का ग्रहण होता है और मध्यवेदित में अव्यक्त (अदुःखा-सुखावेदना) का ग्रहण होता है ?[१] यथा सूत्र का वचन है कि प्रथम तीन ध्यान सुख—सहगत हैं; आपके अनुसार वहाँ मृदु दुःख होना चाहिये। सूत्र का वचन है कि चतुर्थ ध्यान में और उससे ऊर्ध्व अदुःखासुखावेदना होती है; आपके अनुसार वहां मध्य दुःख होना चाहिये। अतएव मृदु आदि दुःख में सुखादिवेदना का व्यवस्थान युक्त नहीं है। अन्ततः भगवत् ने कहा है कि 'हे महात्मन्! रूप एकान्ततः दुःख होता, यदि वह न सुख, न सुखानुगत होता······तो रूप में से राग की उत्पत्ति में से कोई हेतु न होता······।''[२] अतः यह निश्चित है कि कितना ही स्वल्प क्यों न हो सुख अवश्य है।

अतः आगम से दिये गये तर्कों का कोई मूल्य नहीं है।

[१३५] ७. हमारे विपक्षी का प्रथम तर्क कि क्योंकि 'सुख-हेतु नित्य-सुख नहीं हैं' निःसार है। वह सुख-हेतु का व्यवस्थान नहीं करते।

एक विषय सुख-हेतु है या दुःख-हेतु है यह आश्रय-विशेष की अपेक्षा करता है। यह एकान्ततः सुख-हेतु या दुःख-हेतु नहीं है। यदि एक विषय सुख-हेतु होता है, जब वह व्यवस्था-विशेष के काम के संसर्ग में आता है, तो वह तादृशी कायावस्था के संसर्ग में पुनः आकर सदा सुख-हेतु होगा। सुख—हेतु नित्य अतः सुख-हेतु है। [८ बी]

दृष्टान्त—वहीं अग्नि पाक्यभूत तण्डुल की अवस्था के अनुसार स्वादु पाक-हेतु होती

---

परमार्थ—''जब कोई गन्धरसादि विशेष से उत्पन्न सुख का अनुभव करता है, तब वह कौन से दुःख का अनुभव करता है ?—वह मृदु-दुःख का संवेदन करता है और इस मृदु-दुःख में वह सुख-बुद्धि उत्पन्न करता है।—यदि ऐसा है तो जब यह मृदु-दुःख विनष्ट होता है···।''

१. कथं हि नामैतद् योक्ष्यते यन् मृदुनि वेदिते तीव्रोऽनुभवो गृह्यते मध्ये पुनरव्यक्त इति (व्या० ५२०, ३३)।

२. रूपं चेन्महानामन्नेकान्तदुःखम् अभविष्यन्न सुखं न सुखानुगतं न सौमनस्यं न सौमनस्यानुगतं न सुखवेदितम्। हेतुरपि न प्रज्ञायते रूपे संरागाय। यस्मात्तर्हि अस्ति रूपं सुखं सुखानुगतं पूर्ववदतो रूपे हेतुः प्रज्ञायते यदुत संरागाय।

संयुत्त, ३·१७३ से तुलना कीजिये : पृथिवीधात एकान्त सुख होता ··· एकान्त दुःख होता······।

है, अस्वादु पाक-हेतु होती है। किन्तु जो अग्नि पाक्यभूतावस्था को प्राप्त कर स्वादु पाक-हेतु थी, वह पुनः उसी अवस्था को प्राप्त कर स्वादुपाक का हेतु नहीं होगी, ऐसा नहीं है।

पुनः ध्यानों में सुख-हेतु कैसे व्यवस्थित नहीं है ?[१]

८. इस तर्क के सम्बन्ध में कि "सुखबुद्धि का विषय-वस्तु एक सुख नहीं है, किन्तु दुःख-प्रतिकार या दुःख-विकल्प है" हमारा कहना है कि (१ ए.) जब कोई गन्ध-रसादि से उत्पन्न सुख का अनुभव करता है, तो वह दुःख क्या है, जिसका प्रतिकार सुख-बुद्धि का विषय है ?

बी. इस दुःख के उत्पन्न होने के पूर्व या जब यह विनष्ट होता है तब सर्व प्रतिकार के अभाव में वह और भी सुख का अनुभव करेगा। सी. ध्यान-सुख दुःख-प्रतिकार अवश्य नहीं है क्योंकि ध्यानों में दुःख अस्तित्व नहीं है।

२. जब दूसरे कन्धे पर भार का अतिक्रमण होता है, तब यथार्थ में इस नई कायावस्था से ही सुख उत्पन्न होता है, और जब तक तादृशी कायावस्था रहती है, तब तक सुख का अनुबन्ध रहता है। अन्यथा पश्चात् सुख बुद्धि भूयसी होगी।

[१३६] जो सुख[२]-बुद्धि श्रमोत्पादक ईर्यापथों के परिवर्तन से समुत्थित होती है, उसका भी यही निरूपण है।

६. आप पूछते हैं कि "यदि दुःख का आरम्भ आदि से नहीं है तो अन्त में दुःख-वृद्धि कैसे होगी ?"

हमारा उत्तर है कि काय के परिणाम-विशेष से [जो पानादि के आसेवन के पश्चात् होता है, सुखोत्पत्ति की अवस्था में दुःख नहीं उत्पन्न होता]।

यथा मद्यादि के अन्त में माधुर्य और शुक्तता एक दूसरे के अनन्तर होते हैं। अतः यह व्यवस्थित हुआ कि एक सुखावेदना है और सब सास्रव संस्कृत त्रिदुःखता से दुःख है।

अभिधर्म का यह वाद कि दुःख-सत्य समुदय-सत्य है अर्थात् उपादान स्कन्ध जो दुःख है साथ-साथ दुःख समुदय भी हैं (ऊपर पृ० १२२) उत्सूत्र[३] है, क्योंकि सूत्र में तृष्णा को ही दुःख समुदय कहा है[४]।

---

१. अन्यथा पश्चाद् भूयसी सुख-बुद्धिः स्यात् (व्या० ५२२, १) शुआन् चाङ् में इतना अधिक है : "क्योंकि दुःख का शनैः-शनैः ह्रास होता है; यदि भार के अतिक्रामण से सुख समुत्थित नहीं होता और यह केवल दुःख का ह्रास है तो यह ह्रास क्रमशः होगा; अतः जिस काल में भार का अतिक्रामण होता है उस काल से आरंभ कर सुख-बुद्धि की वृद्धि होती जायगी।

२. मद्यादीनामन्ते माधुर्यशुक्तताबत् "(व्या० ५२२,६)

३. उत्सूत्र—विभाषा, ७८,७ : "सब सास्रव धर्म-हेतु हैं और इसलिये समुदयसत्य हैं। भगवत् क्यों कहते हैं कि तृष्णा समुदय सत्य है ? इसके ३० व्याख्यान है···।"

यमक १.१७४, २,२५० प्रदर्शित करता है कि तृष्णा समुदय है, अविद्या नहीं (Ledi sadaw, जे पी टी एस., १९१४, १३५)

४. महावग्ग, १.६.२०, मध्यम ७,२२. समुदयसत्यं कतमत्। यासौ तृष्णा नन्दी राग सहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी (व्या० ५२२,१५)

सूत्र-वचन है कि तृष्णा के प्राधान्य के कारण तृष्णा-समुदय है । किन्तु अन्य सब सास्रव धर्म भी दुःख-समुदय हैं ।

वस्तुतः अन्य धर्मों का वचन सूत्र में अन्यत्र है ।—भगवत् ने कहा है कि "कर्म, तृष्णा और अविद्या आभिसांपरात्रिक संस्कारों के हेतु है" ।[1]

उन्होंने सूत्र में अन्यत्र पुनः कहा है कि 'पाँच बीजजात यह सोपादान विज्ञान का अधिवचन है ।'

[१३७] पृथिवी-धातु यह चार विज्ञान-स्थितियों का अधिवचन है ।[2]

अतः सूत्र का यह निर्देश है कि "तृष्णा दुःख का समुदय है" आभिप्रायिक है[3] किन्तु अभिधर्म में लाक्षणिक निर्देश है ।

---

सौत्रान्तिकों के अनुसार तृष्णा समुदय सत्य है ! १. प्रत्युत्पन्नमय को तृष्णा, प्रत्युत्पन्न फल की आकांक्षा; २. अनागत भव की तृष्णा, अनागत फल की कामना, ३. नन्दीराग सहगता तृष्णा, ४. तत्र-तत्र अभिनन्दिनी तृष्णा ।

१. तंजुर में गद्यरूप है—परमार्थ में पाँच मात्रा के तीन पाद : "कर्म, तृष्णा, अविद्या यह तीन अभिसंपराय में सर्वभव के हेतु हैं जो पुद्गल नामक भव सन्तति है" शूआनचाङ् में चार पाद हैं—"कर्म, तृष्णा और अविद्या हेतु हैं ! जो भावी संस्कारों को जन्म देते हैं जिनसे पुद्गल बनता है !" यह एक गाथा है (संयुक्त, १३६ से ली गई है) ।

व्याख्या (५२३,८) से भी सिद्ध होता है कि यह एक गाथा है···गाथायामेव निर्देशः कर्म, तृष्णा, विद्यासंस्काराणां चक्षुरादीनां हेतुरभिसंपराये ।—आर्या गीति के एक पाद का उद्धार हो सकता है । कर्म च तृष्णा विद्या संस्काराणां हेतुरभि संपराये ।

२. नीचे पृ० १३८, टिप्पणी ३ देखिये ।—संयुक्त ३१,२० :

यतश्च भिक्षवः पंचबीजजातानि (तुलना कीजिए कासमालोजो बुद्धीक, पृ० २२०) अखण्डान्यच्छिद्राण्यपूतान्यवातातापहतानि हवानि (१) साराणि सुखशयितानि पृथिवीधातुश्च भवत्यब्धातुश्च । एवं तानि बीजानि वृद्धिं विरूढिं विपुलताम् आपद्यन्त इति हि भिक्षव उपमेयं कृता यावदेवास्यार्थस्य विज्ञप्तय इतीमं दृष्टान्तम् उपन्यस्येदमुक्तम् । पंच बीजजातानीति भिक्षवः सोपादानस्य विज्ञानस्यैतद् अधिवचनम् । पृथिवीधातुरिति चतसृणां विज्ञानस्थितीनाम् एतदधिवचनम् (व्या० ५२२,२०) ।—संयुत्त ३.५४ से तुलना कीजिए । सेय्यथा "पृथिवी, धातु एवं तस्सो विञ्ञाणट्ठितियो···सेय्यथा पंचबीजजातानि एवं विञ्ञाणं साहारं दट्ठब्बम् । विज्ञानस्थितियों पर कोश ३.५ ।

३. व्याख्या (५२२.२६२) आभिप्रायिक इत्यभिप्रायेभवः । अभिप्रायेणवादी व्यतीत्याभिप्रायिकः सूत्रे निर्देशः । तृष्णाधिकं पुद्गलम् अधिकृत्य कृत इत्यभिप्रायः । लाक्षणिकस्त्वभिधर्मे, लक्षणे भवो लाक्षणिको निर्देशः ।" सास्रवस्य स्कन्धपंचकस्य समुदयसत्यत्व लक्षणायोगात् ।

पुनः जब भगवत् सूत्र में कहते हैं कि "तृष्णा ही समुदय है", तो वह अभिनिर्वृत्ति-हेतु का निर्देश करना चाहते हैं। जब गाथा में वह कर्म, तृष्णा और अविद्या को परिगणित करते हैं, तो वह कर्म को उपपत्ति-हेतु, तृष्णा को अभिनिर्वृत्ति-हेतु और अविद्या को उपपत्ति-हेतु और अभिनिर्वृत्ति-हेतु निर्दिष्ट करते हैं। इन वाक्यों के अर्थ का हम निरूपण करते हैं।[१]

वास्तव में सूत्रान्तर का वचन है कि "कर्म उपपत्ति का हेतु है, तृष्णा अभिनिर्वृत्ति का हेतु है"[२] और सूत्र सहेतु प्रत्ययसनिदानक्रम का उपदेश करता है—'चक्षु का कर्म हेतु-प्रत्यय निदान है, कर्म का हेतु प्रत्यय-निदान तृष्णा है, तृष्णा का हेतु-प्रत्यय-निदान अयोनिशो मनस्कार है"।[३]

[१३८] विज्ञान और अन्य स्कन्ध दुःख समुदय हैं, यह उस सूत्र से प्रतिपादित होता है, जिसमें उक्त है कि इनका यथाक्रम बीजभाव और क्षेत्रभाव है।[४]

उपपत्ति का क्या अर्थ है? अभिनिर्वृत्ति का क्या अर्थ है? (३.४०, ६.३६ सी) उपपत्ति का अर्थ प्रकार धातु-भेद से (काम धातु आदि), गति प्रकार भेद से (देवमनुष्यादि), योनिप्रकारभेद से (जरायुज, अंडज), व्यंजनादि भेद से उपपत्ति या भव समझना चाहिये। अभिनिर्वृत्ति का अर्थ अभेदेन पुनर्भव प्रतिसन्धि समझना चाहिये।[५]

उपपत्ति का हेतु कर्म है; अभिनिवृत्ति का हेतु तृष्णा है, यथा शालि-बीज शालि-अंकुर के उपादान का भवबीज यवांकुर के उपादान का हेतु है, किन्तु जल अभेदेन सब अंकुरों के प्ररोहमात्र का हेतु है। [१०ए] यह कैसे व्यवस्थित होता है कि तृष्णा अभिनिर्वृत्ति का हेतु है?

इससे कि तृष्णा से विमुक्त आश्रय की पुनरुत्पत्ति नहीं। जब तृष्णा से समन्वागत एक पुद्गल और तृष्णा से विमुक्त एक पुद्गल की मृत्यु होती है, तब हम जानते हैं कि प्रथम की पुनरुत्पत्ति होती है और दूसरे की नहीं होती। अतः क्योंकि जहाँ तृष्णा नहीं है वहाँ पुनरुत्पत्ति नहीं है, इसलिये हम जानते हैं कि तृष्णा भवोत्पाद का, भवनिर्वृत्ति का हेतु है।

---

१. अर्थात्: सर्वं सास्रवं वस्तु समुदयः। (व्या० ५५२, ३१)

२. कर्महेतुरुपपत्तये तृष्णा हेतुरभिनिर्वृत्तये (व्या० ५२५,५)

३. चक्षुर्भिक्षवः सहेतुसप्रत्ययं सनिदानम्। कश्च भिक्षवश्चक्षुषो हेतुः कः प्रत्ययः किं निदानम्। चक्षुषो भिक्षवः कर्म हेतुः कर्म प्रत्ययः (व्या० ५२३,११)

व्याख्या में इस सूत्र का नाम 'सहेतुसप्रत्यय सनिदान सूत्र' दिया है (कोश, ३ लोकनिर्देश में उद्धृत अंश देखिये); किन्तु मध्यमक वृत्ति, पृ० ४५२ में प्रतीत्य समुत्पाद सूत्र नाम दिया है।

४. बीजक्षेत्रभावप्रतिवादयता विज्ञानादयोऽप्ययुक्ताः (व्या० ५२३,२०)

५. [धातु गति योन्यादीनाम्] अभेदेन [पुनर्भवप्रतिसन्धिः] (व्या० ५२३,२५)

[१३६] इससे भी कि तृष्ण चित्त-सन्त त को नवाती है[१]।

जिस विषय में चित्त-सन्तति सतृष्ण होती है वहाँ हम चित्त-सन्तानों को बारम्बार नमते देखते हैं। पुनर्भव में भी ऐसा ही है[२]।

यथा मसूर का शुष्क उपस्नान-लेप अंग को आगृहीत करता है[३], उसी प्रकार तृष्णा के अतिरिक्त दूसरा ऐसा क्लेश नहीं है, जो आत्मभाव को (भव को) आगृहीत करता है। आत्म-स्नेह के सदृश कोई दूसरा हेतु नहीं है, जो पुनरुत्पत्ति का प्रतिसन्धान करता है। इस युक्ति से यह व्यवस्थापित होता है कि तृष्णा अभिनिर्वृत्ति-हेतु है।

भगवत् ने चार-चार सत्य का व्याकरण किया है। उन्होंने संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य इन दो सत्यों का भी व्याकरण किया है[४]। यह दो सत्य क्या हैं ?[५]

४. जब घट का भेद होता है, घट-बुद्धि अपास्त होती है; जल-बुद्धि अपास्त होती है, जब बुद्धि जल का अन्यापोह होता है।

---

१. सन्ततिनामनात् (व्या० ५२३,३१) ३.३०, मध्यमकवृत्ति, पृ० ५४४ देखिये।

२. यत्र [विषये रूपादौ] च सतृष्णा [चित्तसन्ततिः] तत्राभीक्ष्णं चित्तसन्ततिं नमन्तीं पश्यामः। तस्मात् पुनर्भवेऽप्येवम्।

३. शुष्कमसूरोपस्नानलेपांगवत् (व्या० ५२४,३) : यथा मसूर के शुष्क लेप से अङ्ग का (व्या० ५२३, ३२) उपस्नान करते हैं। यथा इस उपस्नान-लेप से अंग आगृहीत होता है उसी प्रकार तृष्णा से आत्म-भाव आगृहीत होता है।

४. जापानी सम्पादक के अनुसार, एकोत्तरागम, ३४,१४।

५. व्याख्या (५२४,२३) मध्यमक कारिका, २४.८ को उद्धृत करती है।

> द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
> लोक संवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

कथावस्तु की अर्थकथा के पृ० २२ में उद्धृत श्लोकों से तुलना करना चाहिये।

> द्वे सच्चानि अक्खासि संबुद्धो वदतां वरो।
> समुन्तिं परमत्थं च ततियं नुपलब्भति॥

तत्थ

> संकेतवचनं सच्चं लोकसंमुति कारणं।
> परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं तथलक्खणं॥

(संस्करण में "तथालक्खणं" है)।

कथावत्थु, पृ० ६३,१८०,३७१ का अनुवाद देखिए;

सम प्वाइन्ट्स इन बुद्धिस्त डाक्ट्रीन, जे पी टी एस, १९१४, १२६।

एक सत्य (सुत्तनिपात, ८८४) दो सत्य और चार सत्य के प्रश्न का विचार जिसमें निर्वाण के द्रव्यत्व का प्रश्न सम्मिलित है (अंगुत्तर, २.१६२) देखिए। विभाषा ७७,१२ और संघभद्र के न्यायानुसार में (२३ ५ आगे, ८० बी, और आगे) किया गया है भूमिका में हम इन विविध उद्धरणों का अनुवाद देंगे।

[१४०] घट जल और एतत्सदृश सब संवृतिसत् है। इससे अन्य परमार्थ सत् है[१]।

[१४१] यदि वस्तु-बुद्धि का प्रवर्तन नहीं होता (न प्रवर्तते), जब इस वस्तु का खण्डशः भेद होता है, तब यह वस्तु संवृतिसत् है, यथा घट।

जब उपक्रम से घट कपाल हो जाते हैं, तब घट-बुद्धि नष्ट होती है। यदि वस्तु-बुद्धि

---

१. प्रथम पंक्ति का उद्धार करना कठिन है। चीनी अनुवादकों में इस प्रकार है: यदि भेदे नास्तितद्बुद्धिर्बुद्ध्या अन्यापोहे तथा। [भेदे यदि न तद्बुद्धिरन्यापोहे धियापि च]।
घटाम्बुवत् संवृतिसत् [तद्] अन्यत् परमार्थसत्॥

व्याख्या (५२४,१०) दो दृष्टान्त भेदद्वय का उपप्रदर्शन करते हैं, घटादि उपक्रम-भेदी हैं, जलादि बुद्धिभेदी हैं; क्योंकि उपक्रम से जल के रसादि का आकर्षण नहीं सम्भव है, अथवा संवृति द्विविध है—१. संवृत्यन्तरव्यपाश्रय २. द्रव्यान्तरव्यपाश्रय; प्रथम में भेद और अन्यापोह दोनों सम्भव है (यथाघट), द्वितीय में केवल अन्यापोह संभव है। अष्टद्रव्यक परमाणु का अवयव विश्लेषण नहीं किया जा सकता (कोश २.२२)...संवृतिसत्=संव्यवहारेण सत्—(व्या० १२४,१६)।

परमार्थसत्=परमार्थेन सत्—स्वलक्षणेन सत् (व्या० ५२४,१७) परमार्थ मूल भाष्य से व्यावृत्त होते हैं:

"यदि वस्तु-बुद्धि पुनः उत्पन्न नहीं होती तो वस्तु के भेद के कारण यह वस्तु संवृति-सत् है, जब घट का कपाल रह जाता है तब इस कपाल में घट-बुद्धि और नहीं उत्पन्न होती। अतः घटादि वस्तु-संस्थान (आकृति) का प्रज्ञप्ति मात्र है।—पुनः यदि वस्तु-बुद्धि और नहीं उत्पन्न होती, जब बुद्धि से इस वस्तु के अन्य धर्मों का अपकर्षण होता है तो यह वस्तु संवृतिसत् है, यथा जल। यदि जल से बुद्धि द्वारा रूप-रस-महाभूतादि का अपकर्षण होता है तो जल-बुद्धि और उत्पन्न नहीं होती। अतः जल ऐसे पदार्थ-समवाय (?) के प्रज्ञप्तिमात्र हैं।—पुनः नाम-काय, पद-काय, व्यंजन-काय (कोश २.४७) से ही परमार्थ को व्यक्त करते हैं; नाम-काय-वश परमार्थ सम्बन्धी ज्ञान का उत्पाद होता है। किन्तु जब योगी समापत्ति में समापन्न होता है तो विज्ञान का आलम्बन नाम-काय नहीं होता (कोश ६.५ सी-डी) और जब वह समाधि से व्युत्थान करता है तो विज्ञान का आलम्बन परमार्थ नहीं होता। अतः यह नाम-काय और विज्ञान उद्भावित (?) वस्तु के प्रज्ञप्तिमात्र हैं।—यह तीन प्रकार के धर्म संवृति क्यों हैं? जो केवल नामकायात्मक है वह द्रव्यस्वभाव नहीं है और संवृति है। लोकानुवृत्त्या यह कहना कि 'घट है, जल है, नाम-काय है' सत्य है, मृषा नहीं है। अतः यह संवृतिसत्य है।—जो इन तीन प्रकार के धर्मों से भिन्न है वह परमार्थसत्य कहलाता है। जब एक वस्तु का अन्या-पोह करते हैं, जब बुद्धि से अन्य धर्मों को उस वस्तु से अपकृष्ट करते हैं, जब नामकाय-मात्र रह जाते हैं तब यदि पूर्ववत् वस्तु-बुद्धि उत्पन्न होती है तो यह वस्तु, यह धर्म द्रव्य-सत् हैं, यथा रूप रूप का।

अपास्त होती है, जब बुद्धि से इस वस्तु का अन्यापोह करते हैं, तो इस वस्तु को संवति-सत् मानना चाहिये, यथा जल।

यदि हम रूपादि धर्मों का जल से अपकर्षण कर तो जल-बुद्धि अपास्त होती है। घट-पटादि, जल-अग्नि आदि यह विविध नाम संवृतितः दिये जाते हैं। अतः यदि कोई संवृतिवश यह कहता है कि "घट है (घटोऽस्ति), जल है" तो वह सत्य कहता है, मृषा नहीं कहता। अतः यह संवृति-सत्य है।

इससे जो अन्य है वह परमार्थ सत्य है। जब वस्तु के भेद से या बुद्धि द्वारा अन्यापोह से भी वस्तु-बुद्धि बनी रहती है तो यह वस्तु परमार्थ सत् है, यथा रूप। रूप के परमाणु हो सकते हैं, रूप से बुद्धि द्वारा रसादि अन्य धर्मों का अपकर्षण हो सकता है,[1] किन्तु रूप-स्वभाव की बुद्धि बनी रहती है। इसी प्रकार वेदनादि को भी जानना चाहिये, क्योंकि यह परमार्थ-सत् है इसलिये परमार्थ सत्य है।

[१४२] पूर्वाचार्य कहते हैं—यथा लोकोत्तर ज्ञान या पृष्ठलब्ध लौकिक ज्ञान से गृहीत होते हैं, वह वस्तु परमार्थ-सत् हैं।[2] वह संवृति सत्य है, यथा अक्लिष्ट या क्लिष्ट अन्य लौकिक ज्ञान से गृहीत होते हैं। सत्यों का वर्णन हो चुका है।[3] उनका दर्शन कैसे होता है अब इसका व्याख्यान करना है। अतः आदि से आरंभ कर हम कहेंगे।[4]

---

१. हुएइ-हुएइ के अनुसार सौत्रांतिक—यथा (लोकोत्तरेण ज्ञानेन पृष्ठलब्धेन वा ज्ञानेन) गृह्यते तथा परमार्थसत्यम्।—व्याख्या (५२४,२५) परमस्य ज्ञानस्य अर्थः परमार्थः। परमार्थश्च सत्यं च तदिति परमार्थ सत्यम्।—व्याख्या (५२४,२८) पुनः कहती है—त्रिविधं हि योगाचाराणां सत् परमार्थ-सत् संवृति-सत् द्रव्यसत्। द्रव्यतः स्वलक्षणतः सद्द्रव्यसत्।—अतः पूर्वाचार्य योगाचार है (४-४ ए, अनुवाद पृ० १८, टि० १ देखिये)।

बोधिसत्व भूमि, १, ४ आगे १८ ए, म्यूजिओ, १९०६, पृ० २२० आदि के बाद से तुलना कीजिए; तत्वार्थ या तत्त्व के चार प्रकार : १. लौकिक प्रसिद्ध तत्त्व, २. युक्ति प्रसिद्ध तत्त्व; ३. जिस तत्त्व का ग्रहण श्रावक और प्रत्येक अनास्रवज्ञान से या अनास्रववाहक और अनास्रव पृष्ठलब्ध लौकिक ज्ञान से करते हैं : यह तत्त्व सत्य हैं, ४. वह तत्त्व जो क्लेशावरण से विशुद्ध ज्ञान का गोचर है : यह तथता है। (सूत्रालंकार ९.३१ से तुलना कीजिए)।

२. यह लौकिक ज्ञान से संवृति ज्ञान है, ७.२,२१

३. परमार्थ—"सत्यों का निर्देश सामाजिक रूप से हुआ है। यदि कोई इनका सविस्तार व्याख्यान चाहता है तो उसे षडभिज्ञाशास्त्र के वर्णन को देखना चाहिये।

४. परमार्थ—"यह कहना चाहिये कि किस उपाय के अभ्यास से सत्य दर्शन में प्रवेश होता है। अतः आदि से आरंभ कर उसकी उन्नति का वर्णन करना चाहिये।" सुयान चाङ "यह कहना चाहिये कि किस उपाय के अभ्यास से दर्शन-मार्ग की प्राप्ति होती है।"

वृत्तस्थ: श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते ।
नामोभयार्थविषया: श्रुतमय्यादिका धिय: ॥५॥

५ ए-बी वृत्तस्थ श्रुतचिन्तावान् भावना में प्रयुक्त होता है ।[1] जो सत्य-दर्शन चाहता है उसे सबसे पहले शील [११ बी] की रक्षा करनी चाहिये। पश्चात् वह सत्य-दर्शन के अनुलोम श्रुत का उद्ग्रहण करता है अथवा वह उसके अर्थ को श्रवण करता है। श्रवण कर (श्रुत्वा) वह अविपरीत भाव से चिन्तन करता है, चिन्तन कर वह समाधि-भावना में प्रयुक्त होता है। श्रुतमयी प्रज्ञा (२. २४, १.२ ए) का आश्रय लेकर चिन्तामयी प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उसके आश्रय से भावनामयी प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

इन तीन प्रज्ञाओं का लक्षण क्या है?

[१४३] ५ सी-डी. श्रुतादिमयी प्रज्ञा के गोचर यथाक्रम नाम, नाम और अर्थ, अर्थ है।[1] वैभाविकों[2] के अनुसार श्रुतमयी प्रज्ञा का विषय नाम है, चिन्तामयी प्रज्ञा का विषय नाम और अर्थ है; यह कभी व्यंजन से अर्थ को आकृष्ट करती है, कभी अर्थ से व्यंजन को आकृष्ट करती है।[3] भावनामयी प्रज्ञा का विषय अर्थ है।

हम इनकी तुलना उन तीन पुद्गलों से कर सकते हैं जो नहीं पार करते हैं; जो तैरना नहीं जानता, वह तैरने के यन्त्र का एक क्षण के लिए भी त्याग नही करता; जो थोड़ा तैरना जानता है, वह कभी उसका ग्रहण करता है, कभी उसको छोड़ देता है; जो तैरना जानता है, वह बिना आश्रय के पार करता है[4] (विभाषा, ८१, १४, ४२, ८)।

किन्तु हम कहेंगे कि इस कल्पना में चिन्तामयी प्रज्ञा सिद्ध नहीं होती। वास्तव में जब

---

१. वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते ।
ए. भावना यहाँ समाधिवाचक है (४. १२३. सी—डी)
बी. वृत्त या वृत्ति (६.८, ए) लगभग शील का पर्यायवाची है। जैसा सौन्दरनन्द १३.१०,१६-३१ से ज्ञात होता है। भिक्षु के चीवरादि से सन्तुष्ट होना भिक्षु का सम्यक् शील है (६.-७ सी—डी)।

२. उद्गृह्णाति पठति (व्या० ५२५,१)

३. सत्यदर्शनानुलोम=सत्यदर्शनाधिकारिक (व्या० ५२४,३३)

१. धिय: श्रुतादिप्रभवा नामोभयार्थगोचरा: ॥
तीन 'पञ्ञा' पर दीघ, ३. २१९ : विभंग, ३२४, विसुद्धिमग्ग, ४३९ (यह क्रम है, चिन्ता, सुत, भावना)

२. विभाषा, १८८, १.—वसुबन्धु इस वाद को नहीं मानते, इसीलिये वह कहते हैं "वैभाषिकों के अनुसार……"।

३. "यह अर्थ इस नाम का है; इस अर्थ का यह नाम है।"

४. संघभद्र के अनुसार सौत्रान्तिकों का मत।

नाम इसका विषय होता है तब यह श्रुतमयी है; जब अर्थ इसका विषय होता है तब वह भावनामयी है। अतः चिन्तामयी प्रज्ञा का अस्तित्व नहीं है। इसका यह व्याख्यान है—श्रुतमयी प्रज्ञा आप्रवचन नामक प्रमाण से प्रवृत्त निश्चय है; चिन्तामयी प्रज्ञा युक्ति-ध्यान [२१] से (=युत्तया नितीरणम्) उत्पन्न होती है; भावनामयी प्रज्ञा समाधिज निश्चय है। इस प्रकार तीन प्रज्ञाओं के विशेष लक्षण निर्दोष रूप से व्यवस्थापित होते हैं।[१]

[१४४] श्रुतमयी आदि शब्दों में 'मयट्' आदि का विधान पाणिनि ५.४.२१ (तत्प्रकृतवचने मयट्) हेतु के अर्थ में है। श्रुतमयी प्रज्ञा वह प्रज्ञा है, जिसका हेतु श्रुत अर्थात् आप्त वचन है। अथवा पाणिनि, ६, ३.१३४ (तस्यविकारः) के अनुसार 'मय' तद्धित से 'किसी विकार को' सूचित करने वाले शब्द सिद्ध होते हैं। श्रुतमयी प्रज्ञा श्रुत का विकार है, किन्तु यह विकार औपचारिक है; यह श्रुत विकार के सदृश है, लक्षणान्तर का उपसंख्यान होना चाहिये। यथा लोक में यह प्रयोग देखे जाते हैं—अन्नमय प्राण तृणमयगौ (अन्नमयाः प्राणाः तृणमयाः गावः) (व्या० ५२५,५)[२]।

जो इस प्रकार भावना में प्रयुक्त होता है, वह कैसे सफल होता है?[३]

> व्यपकर्षद्वयवतो नासन्तुष्टमहेच्छयोः।
> लब्धे भूयः स्पृहाऽतुष्टिरलब्धेच्छामहेच्छता ॥६॥

६ ए. जो व्यपकर्षद्वय से समन्वागत होता है उसको सफलता होती है।[४]

---

१. प्रज्ञाओं की क्या भूमि है, विभाषा, ४२ (७.१८ सी-डी देखिये)

श्रुतमयी—प्रथम मत, कामधातु और चार ध्यान; द्वितीय मत, ध्यानान्तर भी; तृतीय मत, अनागम्य भी—चिन्तामयी कामधातु—भावनामयी—१७ भूमियों में सास्रव, ९ भूमियों में अनास्रव।

प्राप्ति का प्रकार—प्रथम तीन प्रयोग और वैराग्य से प्रतिलब्ध होती हैं; द्वितीय मत, औपपत्तिक भी हैं; पुनः रूपावचरी श्रुतमयी औपपत्तिक तथा प्रयोगज है, कामावचरी श्रुतमयी प्रयोगज है, चिन्तामयी प्रयोगज है, भावनामयी तीनों प्रकार से उत्पन्न होती है।

२. तिब्बती अनुवादक ने व्याकरण के इन निर्वचनों को छोड़ दिया है। दो चीनी अनुवादक पाणिनि, ६.३, १३४ के व्याख्यान को नहीं देते किन्तु उदाहरण देते हैं। मेरा अनुवाद व्याख्या के अनुसार है। भाष्य प्रायः इस प्रकार है: हेतौ मयड्विधानात् तस्यविकार इति वा लक्षणात् औपचारिकस्तु विकारः (श्रुत विकार इव श्रुतमयीति)। अन्नमयाः······ (व्या० ५२५, ६)

३. शुआन चाङ—'जो भावना में प्रयुक्त होना चाहता है वह भावना की सफलता के लिए किस प्रकार आश्रयभाजन की विशुद्धि करेगा?"

४. =[व्यपकर्षद्वयवतः]

[१४५] जब योगी संसर्ग और अकुशल वितर्क को दूर कर (दूरीकरण) काय और चित्त से व्यपकृष्ट होता है, तब उसकी सफलता होती है।

किसमें यह दो व्यपकर्ष सुगम होते हैं ?

अल्पेच्छ और सन्तुष्ट पुद्गल में।[१]

६ ए-बी. असन्तुष्ट और महेच्छ में नहीं।[२]

असन्तुष्टि और महेच्छता का क्या अर्थ है ?

६ सी-डी. प्राप्त विषय में और की तृष्णा अतुष्टि है; अप्राप्त की महेच्छता[३] है। आभिधार्मिक कहते हैं[४]—प्राप्त चीवरादि के प्रणीत वस्तु के प्रति प्रभूत की इच्छा असन्तुष्टि है; अप्राप्त की इच्छा महेच्छता है। किन्तु क्या अप्राप्त के प्रति प्रभूत की इच्छा उत्पन्न नहीं होती ?—अतः इन दो दोषों में क्या भेद है ? लब्ध अप्रणीत या अप्रभूत अर्थ से जो दौर्मनस्य होता है, वह असन्तुष्टि है।

[१४६] अलब्ध प्रणीत या प्रभूत अर्थ की इच्छा, अभिलाषा महेच्छता है।

विपर्ययात्तीव्रपक्षौ त्रिधात्वा प्रामलौ च तौ।
अलोभ आर्यवंशाश्च तेषां तुष्ट्यात्मकास्त्रयः ॥७॥

---

प्रथम 'व्यपकर्ष' इन्द्रिय-विषयों से इन्द्रियों को व्यपकृष्ट करना है। अग्नि इन्धन से प्रज्वलित होती है, क्लेश विषयों से निःसृत होता है सौन्दरनन्द, १३.३०); किन्तु यथा अग्नि के लिये वायु आवश्यक है, उसी प्रकार क्लेशाग्नि के लिये परिकल्प और वितर्क की आवश्यकता है; अतः दूसरे व्यपकर्ष अर्थात् अकुशल वितर्क से व्यपकर्ष (सौन्दरनन्द १३.४९) की आवश्यकता है। सौन्दरनन्द १५.२१ में अकुशल वितर्क (कोश, ५.४६ ५९) और उनके प्रतिपक्षों का सुष्टु व्याख्यान है (व्यापाद-विहिंसा और मैत्री, कारुण्य, कामवितर्क, ज्ञातिवितर्क, ३०-४१, जनपद-वितर्क, ४२-५१, अमरण या अमर-वितर्क)। आनापानस्मृत (६.९) से इन वितर्कों को दूरीकृत करते हैं ६.५८ (एच-टी-२१, ४ बी) 'अरण्य' पर जहाँ काय-व्यपकर्ष से का अभ्यास होता है, विसुद्धिमग्ग, ७१ देखिये।

१. अल्पेच्छता, और सन्तुष्टि पर अंगुत्तर, ५.२१९, १३८, विसुद्धिमग्ग ८१ दिव्य ६१, ९६ आदि।

२.=[नासन्तुष्टमहेच्छयोः]

३.=[प्राप्ते पुनस्तृष्णातुष्टिरप्राप्तेच्छामहेच्छता ॥]

४. विभाषा, ५१, १६—वसुबन्धु इस अर्थ को नहीं मानते।

५. लब्धेनाप्रणीतेनाप्रभूतेन परितास इति। परितासो दौर्मनस्यम्। तेन हि परितप्यति। उपक्षीयत इत्यर्थः।

(वोगिहारा) की असंग सत्वभूमि (लाइसजिक १९०८) पृ०३४-३६ (शिक्षा समुच्चय, ३१,६ देखिये)।

७ ए. उनके विपर्यय उनके प्रतिपक्ष हैं।

असन्तुष्टि और महेच्छता विपर्यय अर्थात् सन्तुष्टि और अल्पेच्छता असन्तुष्टि और महेच्छता के प्रतिपक्ष हैं।

७ बी. वह त्रैधातुक या अनास्रव हैं।

वह त्रैधातुक हैं ; वह अनास्रव भी हैं। इसके विपर्यय असन्तुष्टि और महेच्छता केवल कामधातु के हैं।

सन्तुष्टि और अल्पेच्छता का क्या प्रभाव है ?

७ सी. अलोभ[1]।

इनका स्वभाव अलोभ कुशलमूल है।

७ सी. आर्यवंश[2]।

'अलोभ है' यह वाक्य शेष है। आर्यवंश संज्ञा इसलिए है, क्योंकि आर्य उनसे उत्पन्न होते हैं। वह अलोभ स्वभाव भी हैं।

७ सी-डी. उनमें तीन सन्तुष्टि हैं[3]।

पहले तीन चीवर-सन्तुष्टि, पिंडपात-सन्तुष्टि, शयनासन-सन्तुष्टि—सन्तुष्टि-स्वभाव हैं।

[१४७] चतुर्थ आर्यवंश प्रहाणभावनारामता है।[4] यह सन्तुष्टि-स्वभाव नहीं है।—यह चतुर्थ की अलोभ-स्वभाव कैसे है ? क्योंकि यह कामराग और भवराग से विमुख है। (५.२)

चार आर्यवंशों से भगवत् की क्या देशना है ?

कर्मान्त्येन त्रिभिर्वृत्तिस्तृष्णोत्पादविपक्षतः ।
ममाहंकारवस्त्विच्छातत्कालात्यन्तशान्तये ॥८॥

---

१. —[अलोभः] कोश, २.२५, ४.८।

२. —[आर्य वंशाश् (च)]

दीघ, ३.२२४-५ देखिए, विसुद्धिमग्ग, ५१,६३, ६२७—विभाषा १८१, ३ में वंशों के नाम स्वभाव आदि का विचार किया गया है—पहले तीन ऊर्ध्व धातुओं में कैसे हैं ?

३. —[तेषां तुष्ट्यात्मकं त्रयम्]

४. प्रहाणभावनारामता = निरोधमार्गारामता, (व्या० ५२५,२४) निर्वाण और निर्वाण-मार्ग में आरामता।— विभाषा, १८१,१२ में चार व्याख्यान। दीघ, ३.२२५,··· पहाणारामो होति पहाणरतो भावनारामो होति भावनारतो···यो हि तत्थ दक्खो···अयंवुच्चति···योयने अग्गञ्ञे अरियवंसेठितो।

८ ए-बी. पहले तीन से वृत्ति उक्त है, अन्त्य से कर्म।[1]

धर्मराज भगवत् श्रावकों के लिए, जिन्होंने अपनी पूर्व वृत्ति और कर्मान्त को परित्यक्त कर दिया है[2] और जो मोक्षान्वेषी हैं[3], एक वृत्ति और कर्मव्यवस्थापित करते हैं। पहले तीन आर्यवंशों से वह वृत्ति[4] व्यवस्थापित करते हैं; चतुर्थ से वह कर्म व्यवस्थापित करते हैं 'यदि इस वृत्ति से तुम यह कर्म करोगे तो शीघ्र मोक्ष का लाभ करोगे"।

भगवत् ऐसी वृत्ति, ऐसा कर्म क्यों व्यवस्थापित करते हैं ?

८ बी तृष्णोदय के प्रति[5]।

[१४८] सूत्र व्यवस्थापित करता है[6] कि तृष्णोत्पाद चतुर्विध है : 'हे भिक्षुओ तृष्णा उत्पद्यमान हो चीवरवश, पिंडपातवश, शयनासनवश उत्पन्न होती हैं ; अवस्थीयमान हो⋯वश अवस्थान करती है ; सज्जमान हो आसक्त होती है⋯⋯। हे भिक्षुओ ! तृष्णा उत्पद्यमान हो अमुक भव-प्रकार के और विभव-प्रकार के कारण उत्पन्न होती है⋯⋯⋯"।[7] चार आर्यवंशों की देशना इसमें आवतरण है।

---

१. =[उक्तावृत्तिस्त्रिभिःकर्मान्त्येन]

२. परित्यक्तस्ववृत्तिकर्मान्तेभ्यः—वृत्ति = जीविका, अन्नपानादि कर्मान्त = कृषि-शिल्पादि; सम्यगाजीव पर ६.८६ ए, ६.६८, सम्यक् कर्मान्त पर।

३. शुआन. चाङ "जो सांसारिक वृत्ति और कर्मान्त का त्याग कर मोक्ष के अन्वेषण के लिए बुद्ध की शरण जाकर अनागारिक हुए हैं।

परमार्थ—"जो बुद्ध को अधिकृत कर (बुद्धमधिकृत्य) लोक से विरक्त होते हैं और मोक्ष का अन्वेषण करते हैं।"

४. शुआन चाङ—वह मार्ग के उपयोगी वृत्ति और कर्मव्यवस्थापित करते हैं।

५. =[तृष्णोदयं प्रति।]

६. महासंगीति = दीघ, ३.२२८, अंगुत्तर, २.१०, २४८ देखिये। चार तृष्णोत्पाद, 'तण्हपाद' पर। चतुर्थ "इतिभवाभवहेतु तण्हा उप्पज्जमाना उपज्जति" हमारे ग्रन्थ के 'इतिभव-विभवहेतोस्तृष्णा' के अनुरूप है।

७. इतिभवविभवहेतोः (व्या० ५२५, ३०) शुआन चाङ् में 'इति' नहीं है, परमार्थ इसका अनुवाद देते हैं। व्याख्या (५३५, ३१) इति-शब्द भव और विभव के विविध प्रकार का अभिद्योतक हैं (भवविभवप्रकाराभिद्योतक)। भव प्रकार में तृष्णा—"मैं इन्द्र होऊं, मैं चक्रवर्ती होऊं" ; विभव तृष्णाः "मेरा उच्छेद हो, मैं मरणान्तर न होऊं।" अहोबतो-च्छिद्येयं न भवेयं परं मरणादित्यादि, (व्या० ५२५, ३३), कोश, ५.१० सी (अनुवाद पृ० २६, ३०), ५.१६ देखिये।

८ सी-डी. ममग्राह-वस्तु और आत्मग्राह-वस्तु की इच्छा तात्कलिक या आत्यन्तिक शान्ति के लिये ।[१]

इसी बात के कहने का यह अपरपर्याय है। ममग्राह-वस्तु चीवर है, आत्मग्राह-वस्तु आश्रय, पंचस्कन्ध है। इच्छा तृष्णा है, पहले तीन आर्यवंश उन वस्तुओं के प्रति इच्छा की तात्कालिक शान्ति करते है, जिसमें ममग्राह हैं ; चतुर्थ आर्यवंश द्विविध इच्छा की आत्यन्तिक शान्ति करता है।

हमने उन गुणों का व्याख्यान किया है जिनकी आवश्यकता भावना की सफलता के लिये होती है।[२] योगी एक उपयुक्त भाजन के समान है। कैसे किस द्वार से वह भावना में अवतीर्ण होता है ?

तत्रावतारोऽशुभया चानापानस्मृतेन च ।
अधिरागवितर्काणां शंकला सर्वरागिणां ॥ ९ ॥

९ ए-बी. अशुभा भावना आनापानस्मृति से वहाँ अवतीर्ण होते हैं।[३] स्मृत अर्थात् स्मृति। —कौन अशुभा से अवतीर्ण होता है ? कौन आनापानस्मृति से अवतीर्ण होता है ?

यथाक्रम,

९ सी. जिनमें राग और वितर्क का बाहुल्य है।[४]

[१४९] जिसमें राग और वितर्क अधिक होते हैं उन्हें रागाधिक और वितर्काधिक कहते हैं। जिनमें अल्प से ही राग शीघ्र=प्रत्यर्थ उपस्थित होता है उनका अवतार अशुभाभ्यास से होता है (प्रत्यासन्नमत्यर्थं रागचरित व्या० ५२६,२) जो वितर्कचरित हैं वह आनापानस्मृति से अवतीर्ण होते हैं।

कुछ आचार्यों का कहना है कि आनापानस्मृति जिसका आलम्बन अविचित्र होता है— वायु इसका आलम्बन है जिसमें वर्णसंस्थान वैचित्र्य की उपलब्धि नहीं होती—वितर्क का उच्छेद

---

१. [ममात्मग्राहवस्त्विच्छा) तत्कालात्यन्तशान्तये ॥

२. अक्षरार्थ : 'किस प्रकार के आश्रय में भावना सफल होती" शुआन चाङ् "………कौन भाजन भावना का आश्रय हो सकता है"

३. [तत्रावतरन्त्यशुभयानापानस्मृतेन च]

४. [रागवितर्कबहुला:]

विभाषा, १२७.४—अभिसमयालंकारालोक के अनुसार रागविकल्प बाहुल्य के कारण पुद्गल वितर्क चरित होता है। सूत्रालंकार (हूवर) ४२ : वृद्ध धोबी को अशुभा और वृद्ध लोहार को प्राणायाम की शिक्षा देते हैं।

वितर्क की शान्ति कैसे होती है इस पर मज्झिम १.११८ वितक्कसंपक्ष। थान सुत्त देखिये। रागचरित, तृष्णाचरित, ४८० ए, १०० ए. दृष्टिचरित का प्रति।

करती है और अशुभा, जिसका आलम्बन वर्णसंस्थान वैचित्र्य है, वितर्क को समुत्थित करती है। अन्य आचार्य कहते हैं कि "आनापानस्मृति वितर्क का उपच्छेद करती हैं क्योंकि यह बहिर्मुख नहीं है (अबहिर्मुखत्वात्), क्योंकि इसका आलम्बन आश्वास-प्रश्वास है। अशुभा वितर्क का उपच्छेद नहीं करती, क्योंकि यह चक्षुर्विज्ञान के सदृश (चक्षुर्विज्ञानवत्) वहिर्मुख हैं; इसलिये नहीं कि यह चक्षुर्विज्ञान है, किन्तु इसलिये कि चक्षुर्विज्ञान के विषय का उपनिध्यान (८.१ = निरूपण) है।"

राग-चतुर्विध है—(१) वर्ण-राग, (२) संस्थान-राग, (३) स्पर्श या स्प्रष्टव्य-राग, (४) उपचार-राग।—पहले राग का प्रतिपक्ष वह अशुभा है[1], जिसका आलम्बन विनीलक, विपूयकादि आकार हैं। दूसरे राग का प्रतिपक्ष वह अशुभा है, जिसका आलम्बन विखादितक और विक्षिप्तक [१४ बी] है। तीसरे राग का आलम्बन वह अशुभा है, जिसका आलम्बन विपड्डुयक (=उत्पन्न क्रमिक, व्या० ५२६,९) और स्नायु-सम्बद्ध अस्थि है।[2] चौथे राग का प्रतिपक्ष वह अशुभा है, जिसका आलम्बन निश्चल संकलिकाशव है।

[१५०] सामान्यतः

९ डी. सब रागियों के लिए शृंखला[3]।

अस्थि शृंखला में चतुर्विध रागवस्तु, वर्ण-संख्यान, स्पर्श-उपचार नहीं होते। अतः अस्थि-संकलिका अशुभा सब रोगों का प्रतिपक्ष है। अशुभा क्लेश का प्रहाण नहीं होता, क्लेशों का विष्कम्भण मात्र होता है, क्योंकि इस मनसिकार का वस्तु सत् आलम्बन नहीं है, किन्तु अधिमुक्ति है; क्योंकि इसका आलम्बन सकल वस्तु नहीं है, किन्तु कामावचर रूप का एक प्रदेश मात्र है[4]।

जो योगाचार अशुभा की भावना करता है वह आदिकर्मिक है—कृतपरिजय है या अतिक्रान्तमनस्कार है[5]।

---

१. अशुभभावना पर, महाव्युत्पत्ति, ५२; व्याख्या पृ० ५७ (ए-डी १,२७) में उद्धृत विमुक्त्यायतनसूत्र में एक सूची है जो इससे भिन्न है और जो इस प्रकार समाप्त होती है; विक्षिप्तकं वा अस्थि वा अस्थिसंकलिको वा। दीघ, २,२९६ (अट्ठि संखलिक); धम्मसंगणि, २६४; अत्थसालिनी, १९८; विसुद्धिमग्ग, १७८; थेरगाथा (ब्रैंदरन, साम्स पृ० १२५); प्रजिलुस्की, अशोक, ३८६; मैत्रिउपनिषद्, १.३। देखिए कोश, ८.२९, ३२, ३५ बी-डी.

२. परमार्थ—सलोहित स्नायु संबद्ध अस्थिक।—शुआन चाङ् में केवल विपडुमक है।

३. =[शृंखला सर्वरागिषु]।

४. अधिमुक्तिप्रादेशिक मनसिकारत्वात् (व्या० १२६, १०) अधिमुक्ति मनसिकार पर २.७२, पृ० ३२५ और नीचे पृ० १५२, १५५।

विष्कम्भण = विक्खम्भन, विसुद्धिमग्ग, ५

५. विभाषा, ४०१ में इन तीन प्रकार के योगाचारों पर चार मत वर्णित हैं।

आसमुद्रास्थि विस्तारसंक्षेपादि कर्मिकः ।
पादास्थ्न आकपालार्धत्यागात् कृतजयः स्मृतः ॥१०॥

१० ए-बी. आदिकर्मिक समुद्रपर्यन्त अस्थि-विस्तार से और अस्थि-संक्षेप से ।[1]

जो योगाचार अशुभा की भावना करना चाहता है वह सर्वप्रथम इच्छानुसार अपने अंग के एक अवयव में पादांगुष्ठ मस्तक या कि दूसरे अंग में चित्त को स्थिर करता है, पश्चात् वह अस्थि को 'विशुद्ध' करता है अर्थात् यह विचार कि मांस पूत होता है और वतित होता है वह अस्थि से अपनयन करता है । वह अपनी अधिमुक्ति का क्रमशः विस्तार करता है यहाँ तक कि सर्व शरीर को अस्थि-संकलिका के रूप में देखता है ।[2] इसी प्रकार अधिमुक्ति शक्ति के विस्तार के लिए वह एक दूसरे पुद्गल में विहार, आराम, ग्राम और जनपद के पुद्गलों में अधिमुक्ति करता है (अधिमुच्यते) और यावत् आसमुद्र लोकधातु को अस्थि-संकलिकाओं से व्याप्त देखता है । तब वह अधिमुक्त को शक्तिशाली बनाने के लिए संक्षेप करता है यावत् वह केवल अपने शरीर को अस्थि-संकालिका के रूप में देखता है ।—तब अशुभा भावना की परिसमाप्ति होती है और उस समय से योगाचार आदि कर्मिक होता है[3] ।

[१५१] १० सी-डी. 'कृतपरिजय' पादादि को अपनीत कर यावत् कपालार्ध[4] ।

इस संक्षिप्त अधिमुक्ति को शक्तिशाली बनाने के लिये[5] योगाचार पादास्थि में अधिमुक्ति करता है और दूसरों का विचार करता है, इसी प्रकार संक्षेप करते-करते वह अन्त में कपालार्ध को अपनीत कर शेषार्ध में ही चित्त को धारण करता है । तब योगाचार 'कृतपरिजय' होता है, वह अधिमुक्तिमनसिकारवशिता से समन्वागत होता है ।

अतिक्रान्तमनस्कारो भ्रूमध्ये चित्तधारणात् ।
अलोभो दशभूः कामदृष्टयालंबानुजाशुभः ॥११॥

११ ए-बी. भ्रूमध्य में चित्त को धारण कर वह 'अतिक्रान्तमनसिकार' होता है ।[6]

वह कपालार्ध में अधिमुक्ति करता है और भ्रूमध्य में चित्त को धारण करता है । तब वह 'अतिक्रान्तमनस्कार' होता है, यह वह योगाचार है 'जिसमें अशुभा के मनसिकार की परिसमाप्ति है' । योगाचार की वशिता की परीत्तता के बिना ही आलम्बन की परीत्तता से

१. स्वाङ्गावयवे चित्तमुपनिबध्नाति—(व्या० ५२६, १५)—प्रयोगकाल में सराग हेतु का परिहार होता है । अतः योगाचार स्त्री के अंग के अवयव में चित्त को नहीं बांधेगा ।

२. =आसमुद्रास्थिविस्तारसंक्षेपादादिकर्मिकः ।

३. तिब्बती "अपने चित्त को संक्षिप्त या समाहित करने के लिए" ।

४. =पादास्थ्नेराकपालार्धं कृतपरिजयाह्वयः ।

५. तिब्बती : "जिसमें चित्त और अधिक समाहित हो" ।

६. =अतिक्रान्तमनस्कारो भ्रूमध्ये चित्तधारणात् ।

अशुभा परीत्त हो सकती है। अतः चतुष्कोटिक प्रश्न है—(१) योगाचार 'जितमनस्कार' या अतिक्रान्तमनसिकार होता है और उसकी अशुभा का आलम्बन केवल स्वकाय होता है (संक्षेप चित्त); (२) योगाचार अजितमनस्कार होता है, किन्तु वह लोकधातु को अस्थि-संकलिकाओं से व्याप्त देखता है (विस्तार चित्त); (३) योगाचार अजितमनस्कार होता है और उसकी अशुभा का आलम्बन केवल स्वकाय होता है; (४) योगाचार जितमनस्कार होता है और लोकधातु को अस्थि-संकलिकाओं से परिपूर्ण देखता है।

[१५२] अशुभा का स्वभाव क्या है? यह कितनी भूमियों में संगृहीत है? इसका आलम्बन क्या है? किससे इसका उत्पाद होता है?

११ सी-डी. अशुभा अलोभ है; यह दस भूमियों में है; इसका आलम्बन कामधातु का दृश्य है; मनुष्य इसका उत्पाद करते हैं।[1]

अलोभ इसका स्वभाव है।[2]

चार ध्यान, चार सामन्तक (चार ध्यानों के सामन्तक, ८.२२), ध्यानान्तर और कामधातु, यह दस भूमियाँ हैं जहाँ योगाचार अशुभा का उत्पाद कर सकता है।

इसका आलम्बन कामावचर दृश्य है। दृश्य से वर्ण और संस्थान का ग्रहण होता है, अर्थात् इसका आलम्बन अर्थ है (अर्थालम्बन), नाम नहीं।

केवल मनुष्य इसका उत्पाद करते हैं[3] अन्य गतियों के सत्व नहीं, ऊर्ध्वधातुओं के सत्व तो और भी नहीं। किन्तु मनुष्य में उत्तरकुरुओं के निवासी इसका उत्पाद नहीं करते। नाम से ही सिद्ध है कि यह अशुभाकार है [यह अनित्याकार आदि नहीं है; यह अशुभ के आकार में, न कि अनित्य के आकार में दृश्य का ध्यान करता है।] अतीत अशुभा का अतीत आलम्बन है; प्रत्युत्पन्न का प्रत्युत्पन्न आलम्बन है, अनागत का अनागत; दूसरे शब्दों में जिस अध्व की अशुभा हीन होती है उसी अध्व का उसका आलम्बन होता है (यदध्विकातदध्विकालम्बना, व्या० ५२७—१३)। जब यह अनुत्पत्तिधर्मिका होती है तब इसका आलम्बन त्रैयध्विक होता है।

क्योंकि यह अधिमुक्ति मनसिकार है[4], इसलिये यह सास्रव है।

---

१. अलोभो दशभूः कामदृश्यालम्बानृजाशुभा। ८ ३२ की व्याख्या में उद्धृत है। ह्वेन सांग भाष्य के वर्णित सब लक्षणों को कारिका में देते हैं "अलोभ दशभूमिक, कामदृश्यालम्बना, मनुष्योत्पन्न अशुभा, तदध्विकालम्बना, सास्रव, दो प्रकार से प्राप्त।"

२. विभाषा, ४०,७ तीन मत वसुबन्धु तृतीय मत को स्वीकार करते हैं।

३. विशेषकर शारिपुत्र अनिरुद्ध बुद्ध और देवियों के विषय में अशुभा भावना कर सकते थे। (विभाषा)

४. ऊपर पृ० १५० देखिये। अशुभा क्लेशों का उपच्छेद नहीं करती, अतः यह

[१५३] पूर्वजन्म में अभ्यस्त होने से यह वैराग्यलाभिका है, अनभ्यस्त होने से प्रायोगिकी है (७.४१ डी, ४४ बी)।

अशुभा के यह लक्षण हैं। [१६ ए]

आनापानस्मृतिः प्रज्ञा पंचभूर्वायुगोचरा।
कामाश्रया न बाह्यानां षड्विधा गणनादिभिः ॥१२॥

१२ ए-सी. आनापानस्मृति पंचभूमिक प्रज्ञा है, वायु इसका गोचर है। कामधातु के आश्रय इसका अभ्यास करते हैं[१]।

'आन' अर्थात् श्वास, वायु-प्रवेश, 'अपान' वायु का निःसार। इन दोनों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति आनापानस्मृति है[२]।

आनापानस्मृति प्रज्ञास्वभाव है, यह एक विज्ञान है जिसका आलम्बन आश्वास-प्रश्वास है। इस प्रज्ञा को 'स्मृति' कहते हैं, यथा प्रज्ञा-द्रव्य 'स्मृत्युपस्थान' कहलाते हैं, क्योंकि यह प्रज्ञा, आनापान-प्रज्ञा, स्मृति बल के आधान से वृत्ति-लाभ करती है (स्मृतिबलाधानवृत्तित्वात्)।[३] पांच भूमियों में अर्थात् प्रथम तीन सामन्तक, ध्यानान्तर और कामधातु में इसका अभ्यास होता है, क्योंकि यह उपेक्षा से संप्रयुक्त है (८.७, २३ इत्यादि देखिये)[४]। वास्तव में सिद्धान्त का कहना है कि [कामधातु का] सुख और दुःख वितर्क के अनुकूल है :

अतः आनापानस्मृति जो वितर्क का प्रतिपक्ष है सुख और दुःख से संप्रयुक्त नहीं होती। पुनः [ध्यानों का] सुख और सौमनस्य चित्ताभोग (अवधान, आभोग) [१६ बी] के प्रत्यनीक (परिपन्थिन्) है। और आनापानस्मृति अवधान-साध्य है।

[१५४] किन्तु उन वादियों के अनुसार जिनका मत है कि मूलध्यानों में उपेक्षेन्द्रिय होती है (विभाषा, २६,६), आनापानस्मृति अष्टभूमिक है। वह प्रथम तीन ध्यानों को भी सम्मिलित करते हैं।

---

साधन है। केवल यही भावनायें जिनमें षोडशाकार दर्शन होता है (दुःखतः अनित्यतः आदि) क्लेश का उपच्छेद करती है।

१. —आनापानस्मृतिः प्रज्ञा [पंचभूर्वायुगोचरा] कामाश्रया।

विसुद्धिमग्ग, १११, १९७, २६६-२९३; संयुत्त, ५.३२१, इत्यादि के अनुसार—सौन्दरनन्द १५.६४—प्राणायामादि पर हापकिंस, योग-टेकनीक इन द ग्रेट इपिक, जे ए ओ एस० २२.३३३।

२. शुआन-चाङ् के अनुसार, सूत्र (संयुक्त २९,२) का व्याख्यान; विभाषा, २९८ में प्रज्ञप्ति शास्त्र का उल्लेख है।

३. नीचे पृ० १६०-१६१ देखिए।

४. चतुर्थ ध्यान में 'उपेक्षा' है, किन्तु आश्वास-प्रश्वास का वहाँ अभाव है।

ऊर्ध्वभूमियों में आश्वास-प्रश्वास नहीं होता है (८.७ देखिये)। आनापानस्मृति का आलम्बन वायु है।

कामधातु इसका आश्रय है, अर्थात् मनुष्य और कामधातु के देव इसका अभ्यास करते हैं, क्योंकि वहाँ वितर्क का बाहुल्य होता है (वितर्कभूयस्त्वात्, व्या० ५३७,३२)। यह वैराग्य लाभिकी है या प्रायोगिकी है। यह तत्व मनसिकार है[1]। यह केवल बौद्धों में होती है (इदं धर्मत व्या० ५२७,३३)।

१२ सी. बाह्यों में नहीं होती[2]।

वास्तव में एक ओर बाह्यों में आनापानस्मृति के उपदेश का अभाव है—और दूसरी ओर वह स्वयं सूक्ष्म धर्मों के अवबोध में समर्थ नहीं हैं[3]।

१२ डी. इसके गणनादि ६ प्रकार हैं[4]।

जब यह ६ कारणों से युक्त होती है तब यह परिपूर्ण होती है—गणना, अनुगम, स्थान, उपलक्षण, विवर्तना, परिशुद्धि[5]।

१. गणना—बिना प्रयत्न या अभिसंस्कार के आन-अपान में चित्त का धारण; काय और चित्त की अध्युपेक्षा[6]; स्मृति मात्र से एक से दस तक गणना करना, चित्त के अभिसंक्षेप और विक्षेप भाग से (७.११) नीचे नहीं और १० से ऊपर नहीं।—तीन दोषों का परिहार करना चाहिए, ए. एक स्थान में दो का ग्रहण कर अन्तराखंड करके गिनना, बी. दो के स्थान में एक का ग्रहण कर अधिक गिनना, सी. विक्षिप्त प्रकार से गिनना, आश्वास को प्रश्वास, प्रश्वास को आश्वास गृहीत करना। जो गणना इन दोषों का वर्जन करती है वह यथार्थ है।—यदि अभ्यास की अवस्था में (अन्तरा) चित्त विक्षिप्त होता है तो पुनः आरम्भ से गणना करनी चाहिए जब तक समाधि का लाभ न हो।

[१५५] २. अनुगम—बिना अभिसंस्कार के अभ्यन्तर में प्रवेश करने वाले बात और बहिः निष्क्रमण करने वाले बात की गति जहाँ तक वह दो अर्थों में जाता है; क्या

१. विभाषा, ८२,५ में विविधमत : यह अधिमुक्तिमनस्कारसंप्रयुक्त भी है।

२. =[न बाह्यानाम्]

३. अबौद्धों में प्राणायाम का उपदेश है, आनापानस्मृति का नहीं (व्या० ५२८,२)

४. =[षड्विधा गणनादयः]।

५. महाव्युत्पत्ति, ५३; दीघ, २·२९१ (वारेन, पृ० ३५४; स्पेंस हार्डी, ईस्टर्न मानेकिज्म, पृ० २६७); मज्झिम, १, ४२५।

गणना, अनुगमः स्थानम्, उपलक्षणाविवर्तना परिशुद्धिः।

६. कायं चित्तं चाध्युपेक्ष्य (व्या० ५३८,५), काय या चित्त की उपेक्षा होकर। व्याख्या : अध्युपेक्ष्य अनासह्य।

अभ्यन्तर में प्रवेश करने वाला वात सर्व शरीर को व्याप्त करता है या एक प्रदेश में ही रहता है ? योगाचार आश्वास का अनुगम कण्ठ, हृदय, नाभि, जंघादि में यावत् पादद्वय में करता है वह प्रश्वास का अनुगमन वितस्ति-व्यान्तयान्तर पर्यन्त करता है। अन्य आचार्यों के अनुसार[1] वह नीचे लोकधातु के आधारभूत वायुमण्डल[2] पर्यन्त और ऊपर वैरम्भ[3] वायु तक प्रश्वास का अनुगमन करता है। यह मत युक्त नहीं है। क्योंकि आनापानस्मृति तत्व मनसिकार है।

३. स्थान[4]—इस प्रकार चित्त को बाँधना जिसमें वह नासाग्र में या भ्रूमध्य में या किसी अन्य स्थान में यावत् पादांगुष्ठ में धृत हो ; चित्त का धारण ; काय-प्रदेश में धृत आश्वास-प्रश्वास को मणिसूत्रवत्[5] देखना ; यह स्थापित करना कि यह शीत है या उष्ण, अपकारक है या अनुग्राहक (विभाषा २६,१२)।

४. उपलक्षण—"यह आश्वास-प्रश्वास केवल वायु नहीं है, किन्तु यह चार महाभूत हैं और उपादान रूप भी हैं और चित्त-चैत्त तदाश्रित है", इस प्रकार योगाचार पंचस्कन्ध उपलक्षणा करता है (उपलक्षयति) [१७ बी]।

[१५६] ५. विवर्तना—योगाचार वाश्वालम्बनचित्त का विवर्तन करता है और चित्त को उत्तरोत्तर कुशलधर्मों में (स्मृत्युपस्थान, ६.१४, उष्मगत, ६.१७ इत्यादि) यावत् लोकोत्तर-धर्मों में (६.१९ बी) प्रयुक्त करता है।

६. परिशुद्धि—दर्शन-मार्ग (६.२६) में, भावना-मार्ग में प्रवेश करना।

अन्य आचार्यों के अनुसार (विभाषा, २६,१२) स्मृत्युपस्थान से लेकर यावत् वज्रोपम-समाधि (६.४४ सी) उत्तरोत्तर उन्नति करना 'विवर्तना' है। 'परिशुद्धि' क्षयज्ञान, अनुत्पादज्ञान और अशैक्षी सम्यग्दृष्टि (६.५० सी) है।

---

१. विभाषा में इसका उल्लेख नहीं है।

२. कोश ३.४५ सी-डी।

३. दिव्य, १०५, वैरम्भ और वैरम्भक ; संयुत्त, २.२३१, वेरम्भवातखित्त (पाठांतर वेरम्ब); सकुन जातक, अनुवाद ३'१६४, २८७, २८८।

४. विभाषा, २६,१२—परमार्थ—भ्रूमध्य में या नासाग्र में या इच्छानुसार किसी दूसरे स्थान में यावत् पादांगुष्ठ में स्मृति को इस प्रकार स्थिर करना जिसमें वह मध्य में मणिसूत्रवत् धृत हो।—तिब्बती : मणिसूत्र के सदृश नासाग्र से लेकर यावत् पादांगुष्ठ स्थापित होकर यह स्थापना करना कि आश्वास-प्रश्वास अनुग्राहक हैं या अपकारक, शीत हैं या उष्ण।—व्याख्या (५२८,१०) कि अनुग्राहका एते यावदुष्णा इति स्थापनो (१) वेयं द्रष्टव्या कायप्रदेश एवानुग्राहकादि विशेष स्थापनतः।

५. मणिसूत्रवत्, ईस्टर्न मानेकिज्म २६९, दीघ, १.७६ से तुलना कीजिए।

एक संग्रह श्लोक है : 'यह उपदिष्ट है कि आनापानस्मृति षडाकार है—गणना, अनुगम, स्थान, लक्षणा, विवर्तना और परिशुद्धि ।[1]

गणनानुगमः स्थानं लक्षणाऽथ विवर्तना ।
परिशुद्धिश्च षोढेयमानापान स्मृतिर्मता ॥१३॥

१३ ए. आश्वास-प्रश्वास कायवत् हैं[2] ।

काय-प्रदेश होने से आश्वास-प्रवास उसी भूमि के होते हैं जिस भूमि का काय है ; यह आरूप्यगत, कललादिगत, अचित्त, और चतुर्थ ध्यान समापन्न सत्वों में नहीं होते : आश्वास-प्रश्वास काय सन्निश्रित होते हैं (आरूप्य में काय का अभाव है), काय-विशेष संनिश्रित होते हैं (सुषिरकाय जिसका अभाव कललादिगत सत्वों में होता है), चित्त संनिश्रित होते हैं (अचित्तों में चित्त का अभाव होता है), चित्त-विशेष संनिश्रित होते हैं (जिसका अभाव चतुर्थ ध्यान में जब सुषिरकाय होता है जब आश्वास-प्रश्वास भूमिचित्त होता है तब आश्वास-प्रश्वास होते हैं। (विभाषा, २६,२)

[१५७] उत्पत्तिकाल में और चतुर्थ ध्यान से व्युत्थान काल में आश्वास होता है, मरणकाल में और चतुर्थ ध्यान में प्रवेश करने के समय प्रश्वास होता है ।

१३ बी०. यह सत्वाख्य हैं ।[3]

यह सत्वाख्य है असत्वाख्य नहीं (१. १० बी०)

१३ बी०. यह अनुपपत्तिक है ।[4]

क्योंकि यह इन्द्रिय निर्विभागी हैं (इन्द्रिय-पृथग्वृत्ति) (१-३४ सी-डी),

१३ सी. यह नैष्यन्दिक हैं ।[5]

काम के उपभय से इसका अपचय होता है, अतः यह औपचारिक नहीं है (१-३७) ।

---

१. [गणनानुगमस्थानोपलक्षणाविवर्तनाः ।
परिशुद्धिः षडाकारा आनापानस्मृतिः स्मृता ॥]

२. आनापानौ यतः कायः (व्या० ५२८, १७)—विभाषा २६,४—कुछ का कहना है वह उस भूमि के होते हैं जिस भूमि का काय होता है। कामावचरसत्व में जब उसका कामावचर चित्त होता है कामावचर चित्त के साथ आश्वास-प्रश्वास प्रवृत्त होते हैं। जब उसका प्रथम ध्यान भूमिक चित्त होता है तब इनकी प्रवृत्ति प्रथमध्यानभूमिक चित्त के साथ होतीहै··· दूसरों का कहना है कि वह उस भूमि के होते हैं जिस भूमि का चित्त होता है···क्योंकि आश्वास-प्रश्वास काय-प्रदेश हैं इसलिए प्रथम मत सुष्ठु है ।

३. [सत्वाख्यौ] ।

४. [अनुपत्तिकौ] ।

५. २५७ सी. देखिये ।

उच्छिन्न आश्वास-प्रश्वास का पुनः प्रतिसंधान होता है, अतः यह विपाकज नहीं है, वास्तव में छिन्न होने के अनन्तर विपाकरूप का (१. अनुवाद पृ० ६६, टि० २)

१३ सी-डी. अधर-चित्त से इसका उपलक्षण नहीं होता।[१]

[१५८] स्वभूमिक-चित्त या ऊर्ध्वभूमिक-चित्त से आश्वास-प्रश्वास का उपलक्षण होता है, अधरभूमिक ऐर्यापथिक, नैर्माणिक चित्त से नहीं होता। [२३] हमने प्रवेश के दो द्वार कहे हैं। इन दो द्वारों से समाधि का लाभकर विपश्यना के सम्पादन के लिये,

आनापानौ यतः कायः सत्वाख्यावनुपात्तकौ।
नैष्यन्दिकौ नावरेण लक्ष्येते मनसा च तौ ॥१४॥

१४ ए-बी. निष्पन्न-शमथ स्मृत्युपस्थान की भावना करता है।[२]

किस प्रकार

१४ सी-डी. काय, वेदना, चित्त और धर्मों के द्विलक्षण की परीक्षा से।[३]

काय, वेदना, चित्त और धर्म के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण की परीक्षा से।[४] स्वलक्षण अर्थात् स्वभाव।

---

१ =[अधरमनसा नोपलक्षितौ।]

परमार्थ —"न अधरचित्त का आलम्बन, न अन्यचित्त का आलम्बन।" भाष्य इन दो को आश्वास और प्रश्वास को स्वभूमिक-चित्त या ऊर्ध्वभूमिक-चित्त आलम्बन के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, अधरचित्त नहीं और न ऐर्यापथिक या नैर्माणिक चित्त।"

व्याख्या (५२८,३१) नाधरेणैर्यापथिकनैर्माणिकेन इति। ऐर्यापथिकं नैर्माणिकं च चित्तमधरभूमिकं सम्मुखीभवति यावच्चतुर्थध्यानोपपन्नस्येत्यत आश्वासप्रश्वासौ नाधारभूमिकाभ्यां ताभ्याम् उपलक्षणम्।—२. अनुवाद पृ० ३२० देखिये।

२.=निष्पन्नशमथस्यैव स्मृत्युपस्थानभावना।]

स्मृत्युपस्थानो का अभ्यास सम्यक् प्रज्ञा का उत्पाद करता है, क्योंकि भगवत् ने कहा है कि "एकायनोऽयं भिक्षवो मार्गोयदुतस्मृत्युपस्थानानि। केवलोऽयं कुशलराशिः यदुतचत्वारि स्मृत्युपस्थानानि। (संयुत्त, ५.१६७,१४६ से तुलना कीजिये) निवेध भागीय (६ १७) स्मृत्युपस्थान है। दर्शन-मार्ग का स्वभाव धर्मस्मृत्युपस्थान है, किन्तु आचार्य यहाँ सास्रव स्मृत्युपस्थान का परीक्षण करते हैं। यह मार्ग प्रवेश का प्रयोग है स्मृत्युपस्थान बोधिपाक्षिकों में प्रथम है ६.६७ कोश ६.१८ ए, १६ डी, ६७ आदि ७.१५ आदि देखिये।—अंगुत्तर, १.४३, दीघ २.२६०, मज्झिम, १.५६, संयुत्त ५.१४१, विसुद्धिमग्ग, २३६—२६६; Fragments d' Idikutsari (पिशेल एकेदमी द बर्लिन, २८ जुलाई १६०४, पृ० ११४३) में अनुपश्यता के स्थान में चित्तानुपश्यता हैं।

३.=कायविच् [चित्तधर्माणां द्विलक्षणपरीक्षणात् ॥] (व्या० ५२६,८)

४. विभाषा ४२,५—२.७२, पृ० ३२५ देखिये।

[१५६] सामान्यलक्षण अर्थात् 'सब संस्कृत अनित्य है, सास्रवधर्म दु:ख है, सब धर्म शून्य और अनात्मक है" ।

काय का स्वभाव क्या है ? महाभूत और उपादायरूप (१.१२, २.६५), धर्म से काय वेदना, चित इन तीन से अन्य धर्म समझना चाहिये (विभाषा (१८७,२); सिद्धान्त के अनुसार कायस्मृत्युपस्थान निष्पन्न होता है, जब समाहित हो पुद्गल काय में परमाणु और उत्तरोत्तर क्षण देखता है।

स्मृत्युपस्थानों का क्या स्वभाव है ?

स्मृत्युपस्थान त्रिविध है—स्वभाव-स्मृत्युपस्थान, संसर्गस्मृत्युपस्थान, आलम्बन-स्मृत्युपस्थान :

स्वभावस्मृत्युपस्थान

निष्पन्नशमथः कुर्यात् स्मृत्युपस्थानभावनम् ।।
कायविच्चित्तधर्माणां द्विलक्षणपरीक्षणात् ।।१।५।

१५ ए. प्रज्ञा है[1] ।

कौन सी प्रज्ञा ?

१५ ए. श्रुतादिमयी[2] ।

श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी । स्मृत्युपस्थान भी त्रिविध हैं—श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय,

१५ बी. अन्य संसर्ग और आलम्बनवश[3] ।

---

विज्ञानवाद के निकाय में लक्षणों की परीक्षा लक्षणों के अभाव की परीक्षा में समाप्त होती है, जैसा बोधिसत्वभूमि १.१७; आगे १०० बी. से स्पष्ट है — कथं च बोधिसत्वो महायान नयेन सप्तत्रिंशत् बोधिपक्ष्यान् धर्मान् यथाभूतं प्रजानाति । इह बोधिसत्वः काये कायानुदर्शी विहरन्नैव कायं कायभावतो विकल्पयति नापि सर्वेण सर्वम् अभावतः । तां च कायनिरभिलाप्यस्वभावधर्मतां प्रजानाति । इयमस्य पारमार्थिकी काये कायानुपश्यना स्मृत्युपस्थानम् । संवृत्तिनयेन पुनर्बोधिसत्वस्याप्रमाणव्यवस्थाननयज्ञानानुगतं काये कायानुपश्यना स्मृत्युपस्थानं वेदितव्यम् । ...स नैव कायादीन् धर्मान् दुःखतो वा विकल्पयति समुदयतो वा नापि तत्प्रहाणं निरोधतः कल्पयति नापि तत्प्राप्तिहेतुं मार्गतः कल्पयति । निरभिलाप्यस्वभावधर्मतया च दुःखधर्मताम् ... प्रजानाति ।

१— [प्रज्ञा]—१.२ ए, २.२४, ७.१ देखिये । (व्या० ५२६, १७)

२=[श्रुतादिमयी] (व्या० ५२६, २०)

३. अन्य संसर्गालम्बनात् (व्या० ५२६, २४)

[१६०] प्रज्ञेतर अन्य धर्म जब वह प्रज्ञा के सहभू हैं, संसर्गस्मृत्युपस्थान है, जब वह प्रज्ञा और प्रज्ञा के सहभू धर्मों के आलम्बन है (दूसरे शब्दों में जब वह स्वभाव और संसर्ग-स्मृत्युपस्थान के आलम्बन हैं) तब वह आलम्बन-स्मृत्युपस्थान है। हम कैसे जानते हैं कि स्वभाव-स्मृत्युपस्थान प्रज्ञा है ?—क्योंकि सूत्र में उक्त है कि 'काये कायानुपश्यी स्मृत उपस्थित-स्मृतिः'[1]।

अनुपश्यना क्या है ?—यह प्रज्ञा है। वास्तव में प्रज्ञावश प्रज्ञावान् अनुपश्य होता है[2]। सूत्र में पुनः उक्त है "अध्यात्मं कायं कायानुपश्यी विहरति"—(व्या० ५३०,५)।—कायानुपश्यी शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : जो कायानुपश्य या दर्शन[3] से समन्वागत है वह अनुपश्यी कहलाता है; जो काय में अनुपश्यी है वह कायानुपश्यी है।

प्रज्ञा को स्मृत्युपस्थान की संज्ञा क्यों देते हैं ?—वैभाषिकों का कहना है कि स्मृति [जो आलम्बन को प्रज्ञा के सम्मुख करती है] अधिकत्व (उद्रेकत्व) के कारण यथा कील की वृत्ति काष्ठ-खण्डन में है।[4]

[१६१] उसी प्रकार स्मृति-बल के आधान से प्रज्ञा की वृत्ति आलम्बन में होती है[5]। किन्तु यह व्याख्यान युक्त है—स्मृति उससे उपस्थित होती है (उपतिष्ठते[6]), अतः प्रज्ञा स्मृत्युप-

१. मध्यम, २०, संयुक्त ५.३३१ से तुलना कीजिए।

२. तया हि प्रज्ञया तद्वान् प्रज्ञावान् अनुपश्यः क्रियत इति। अनुपश्यतीत्यनुपश्यः प्राघ्राध्माधेटदृश इति शप्रत्ययः (३.१,१३७) अनुपश्यं पुद्गलं करोति इति अनुपश्ययति प्रज्ञा। स्वाभावे त्वेवं विग्रहः। अनुपश्यस्यकरणं अनुपश्यनेति। तया हि प्रज्ञया तद्वान् प्रज्ञावान् अनुपश्यः क्रियते। यथा प्रज्ञायोगात् प्राज्ञः पुद्गल उच्यते। एवमनुपश्यनायोगाद् अनुपश्य पत्यतोऽनुपश्यना प्रज्ञेति सिद्धम्।

भामती २.३२ में और अन्यत्र अनुपश्यना के ढंग के रूपों का विवेचन है।

३. अनुपश्यमस्यास्ति। किं तत्। दर्शनम् (—ज्ञान ७.७)। दर्शनलक्षणं ह्यनुपश्यम्। अतोऽनुपश्यी पुद्गलो दण्डिवत्। ततःसप्तमीतत्पुरुषः कायेऽनुपश्यी कायानुपश्यीति। कायम् अनुपश्ययितुं शीलम् अस्येति कायेऽनुपश्यीति। णिनिर्वा यदि विधीयेत तथाप्येतद् रूपं सिद्ध्यतीति पश्यामः। (व्या० ५३०,७)

४. दारूपाटकीलसंधारणवत्। स्मृतिबलाधानवृत्तित्वात्…(व्या० ५३०,१५)। व्याख्या (५३०,१७) यदीह स्मृतिरालम्बनं धारयत्येवं प्रज्ञा प्रजानातीति। तदेवम् स्मृत्योपतिष्ठत इति स्मृत्युपस्थानं प्रज्ञा। शुआन चाङ्. यथा पाट (—प्रज्ञा) काष्ठ (—काय, वेदनादि) का खण्डन कील—(—स्मृति) संधारण से करता है।

५. प्रज्ञा स्मृत्युपस्थान कहलाती है, क्योंकि यह स्मृतिवश (स्मृत्या) उपस्थित होती है (उपतिष्ठते)।

६. कहाँ यह उपस्थित होती है (क्वपुनरुपतिष्ठते) ?—काय में धर्मों में।

स्थान है (स्मृतेरूपस्थानम्, व्या० ५३०,३२)। वास्तव में अर्थ प्रज्ञा से यथा दृष्ट होता है तथव उसका अभिलपन होता है (अभिलप्यते) अर्थात् स्मृति से उद्ग्रहण होता है।[१] आयुष्मान् अनिरुद्ध ने इस प्रकार कहा है—"काय में काय की अनुपश्यना रख कर विहार करता है (काये कायानुपश्यी विहरति), काय को आलम्बन बनाकर उसकी स्मृति व्यवस्थापित होती है, उपस्थित होती है" (संयुत्त, ५·२९४); और भगवत् ने कहा है "यदि वह 'काये कायानुपश्यी' विहार करता है तो उसकी स्मृति उपष्ठित, असंमुष्ट होती है" (संयुत्त, ५·३३१ देखिये)। दोष—किन्तु सूत्र में उक्त है: "हे भिक्षुओ! स्मृत्युपस्थानों का समुदय और अस्तंगम कैसे होता है? आहार के समुदय से काय का समुदय; आहार के अस्तंगम से काय का अस्तंगम; स्पर्श के समुदय से वेदना समुदय···; नामरूप के समुदय से ··; मनसिकार के समुदय से···"। (संयुक्त, २०,४) अतः स्मृत्युपस्थान कायादि है)।

उत्तर—इस सूत्र में स्वभाव-स्मृत्युपस्थान नहीं है, किन्तु आलम्बन-स्मृत्युपस्थान है: स्मृति कायादि में उपष्ठित होती है; अतः यह स्मृत्युपस्थान है। इनका यथा आलम्बन है तथा नाम है। (कायस्मृत्युपस्थानम्—कायः स्मृत्युपस्थानम्)।

प्रत्येक स्मृत्युपस्थान स्व, पर और उभय सन्तति आलम्बनवश त्रिविध है। (योगी ने स्वकाय, परकाय···देखा है)।

[१६२] १५ बी-सी. क्रम उनकी उपपत्ति के अनुसार है।[२]

यह इस क्रम से क्यों उत्पन्न होता है?—वैभाषिकों के अनुसार, क्योंकि औदारिक का पूर्व दर्शन होता है। अथवा काय (१) कामराग का आश्रय है जिसका समुदय वेदनाभिलाष में है (२) यह अभिलाष उत्पन्न होता है क्योंकि चित्त (३) अदान्त है: और चित्त है क्योंकि क्लेश (४) का प्रहाण नहीं हुआ है।

१५ सी-डी. चार, विपर्यास के विपक्ष,[३]

स्मृत्युपस्थान यथाक्रम चतुर्विध विपर्यास के—शुचि-विपर्यास, सुख-विपर्यास, नित्य-विपर्यास और आत्म-विपर्यास (५·९) के—प्रतिपक्ष कहे गये हैं, अतः यह चार हैं, न अधिक न कम।

चार स्मृत्युपस्थानों में से तीन अमिश्रालम्बन (असंभिन्नालम्बन) हैं। चतुर्थ दो प्रकार हैं; जब केवल धर्म इसके आलम्बन होते हैं तब यह असंभिन्नालम्बन होता है, जब यह कायादि

---

१. यथा दृष्टस्याभिलापनात् = यस्माद् यथा दृष्टोऽर्थः प्रज्ञया तथैवाभिलप्यते स्मृत्योद्गृह्यत इत्यर्थः (व्या० ५३०,२३)।

२. —[क्रमः। यथोपपत्ति]

३. —[चत्वारि विपर्यासविपक्षतः]।

स्मृत्युपस्थान अनेक हैं। केवल चार क्यों परिगणित है? (विभाषा ८७·५)।

में से दो, तीन या चार देखता है तब यह संभिन्नालम्बन या (समस्त) होता है। इस प्रकार कायादि-स्मृत्युपस्थानों की भावना कर

१६. प्रज्ञाश्रुतादिमय्यन्ये संसर्गालम्बनात् क्रमः।
यथोक्तोत्पत्तिचतुष्कं तु विपर्यासविपक्षतः ॥१६॥

सकलालम्बन धर्मस्मृत्युपस्थान में स्थित हो वह देखता है कि धर्म अनित्य, दुःख, शून्य, अनात्म है।[1]

संभिन्नालम्बन-स्मृत्युपस्थान में स्थित हो, काय-वेदनादि को अभिसमस्त कर वह उनको चतुर्विध आकार से, अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः, अनात्मतः देखता है।

सधर्मस्मृत्युपस्थाने समस्तालम्बने स्थितः।
अनित्यदुःखतः शून्यानात्मतस्तान् विपश्यति ॥१७॥

[१६३] १७ ए. उससे उष्मगत की उत्पत्ति होती है।[2]

धर्मस्मृत्युपस्थान के इस अभ्यास से क्रमेण[3] उष्मगत [३ बी] नाम का एक-एक कुशल-मूल उत्पन्न होता है, क्योंकि आर्यमार्ग का पूर्व-निमित्त[4] या पूर्वस्वभाव होने से यह उष्म प्रकार है, यह अग्नि है, जो क्लेश रूपी इन्धन को प्रदग्ध करती है।

---

१. —[सधर्म स्मृत्युपस्थाने] समस्तालम्बने स्थितः।
[तानेव पश्यत्यनित्यदुःखशून्यनिरात्मतः ॥]

यह दुःख-सत्य के चार आकार हैं, ७.१३ ए।

२. तत् उष्मगतोत्पत्तिः (४.१२५ डी की व्याख्या में उद्धृत) नीचे पृ० १६६ में देखिये। व्याख्या (५३२,१२) उष्मगतमित्युष्म प्रकार कुशलमूलम्।

कर्न, मैन्यूएल, ५६, टि० में जातक, ५, प० २०८ का उल्लेख है: ब्रह्मचारि ····· उष्मागतम् [=समणतेयम्] और मज्झिम, १.१३२, उस्मीकत=अतिकुशल, प्रभास्वर-उस्मागत-अतिउष्ण, अत्थसालिनी ३३८ पृ० १६६, टि० २ देखिये। सूत्रालंकार, १४.२६, अनुवाद पृ० १६६ की विवृति से यह परिणाम निकलता है कि उष्मगत=आलोक=धर्म-निध्यानक्षान्ति हैं।

संपादक मज्झिम, २.१७५ का उल्लेख करते हैं।

शरच्चन्द्रदास कोश ६५८, बोधिपथप्रदीप, ६९वां श्लोक; विमलदेवकृत न्याय-बिन्दु पृ० ४७।

३. शुग्रान-चाङ् धर्मस्मृत्युपस्थान के पुनः-पुनः अभ्यास से और प्रकर्षपर्यन्त को प्राप्त होने से······की उत्पत्ति होती है।

४. पूर्वरूपत्वादिति पूर्वनिमित्तत्वात् पूर्वस्वाभावत्वाद् वा (व्या० ५३२,१३)।

१७ बी. चतुः सत्य इसका गोचर है ।[1]

उष्मगत के प्राबन्धिक होने से (प्रकर्षकत्वात्=प्राबन्धिकत्वात्, व्या० ५३२,१४) चार सत्य इसके गोचर हैं ।

१७ सी. यह षोडशाकार है ।[2]

दुःखका दुःखतः, अनित्यतः, शून्यतः, अनात्मतः दर्शन ; समुदय का समुदयतः, प्रभवतः, हेतुतः, प्रत्ययतः दर्शन ; निरोध का निरोधतः, शान्ततः, प्रणीततः, निःसरणतः दर्शन ; मार्ग का मार्गतः, न्यायतः, प्रतिपत्तितः; नैर्याणिकतः दर्शन । इन त्रिविध आकारों का विशेषण हम पीछे (७,१३) कहेंगे ।

१७ सी-डी उष्मगत से मूर्धा

[१६४] उष्मगत की वृद्धि होती है ; मृदु, मध्य, अधिमात्र क्रमेण मूर्धा की उत्पत्ति होती है ।

१७ डी. यह भी तत्सम हैं ।[3]

उष्मगत के सदृश मूर्धा के आलम्बन चतुः सत्य हैं और यह भी षोडशाकार का ग्रहण करते हैं ; उत्कृष्टतर होने से इनका नामान्तर है ।

यह मूर्धा या शीर्ष कहलाते हैं, क्योंकि यह चल कुशल-मूल के, जिनसे परिहाणि संभव है, मूर्धगत या शीर्ष हैं । अथवा मूर्धा से पात होता है या क्षान्ति-संमुखीभाव से[4] मूर्धा से अतिक्रम होता है । [४ ए]

> तत् उष्मगतोत्पत्तिः तत् चतुःसत्यगोचरम् ।
> षोडशाकारमुष्मभ्यो मूर्धानस्तेऽपि तादृशाः ।।१८।।

१८ ए. इन दो का 'आकरण' धर्म से होता है ।[5]

---

१. =[तच्चतुः सत्यगोचरम् ।]

२. =[षोडशाकारम्]

३. =[उष्मात्तु मूर्धानः]

४. =[तेऽपितत्समाः]

५. यह धर्मचल कुशलमूलों में (उष्मगत और मूर्धाओं में) उत्कृष्ट है, यथा मनुष्य का शीर्ष उत्कृष्ट है । इसलिये इसे 'मूर्धा' कहते हैं । अथवा पर्वत-शिखर के समान इस धर्म से आगे बढ़ना या पीछे हटना नहीं हो सकता । इसलिये इसे 'मूर्धा' कहते हैं । मूर्धशब्दोऽयं प्रकर्षपर्यन्तवाची । तथा हि लोके वक्तारो भवन्ति मूर्धगता खलु अस्य श्रीरिति ।……एभ्यो हि पातोऽतिक्रमो वेति मूर्धभ्यः पातः परिहाणिरतिक्रमो वा क्षान्ति संमुखीभाव वा……।

[द्वयोर्धर्मेणाकरणम्] तिब्बती भाषान्तर=आकाराणां विन्यसनम् शुआन चाङ् पाद का प्रथम विन्यास; परमार्थ; आकार का विन्यास व्याख्या में पीछे 'आकरण' और 'आकारयति' रूप (२, पृ० १७७ टि० देखिये ।)

स्मृत्युपस्थान से उष्मगत और मूर्धा का 'आकरण' होता है। 'आकरण'[1] का क्या अर्थ है ? सत्यों में विविध आकारों का प्रथम विन्यसन।[1]

[१६५] १८ बी. दूसरों से भी इनकी वृद्धि होती है।[2]

उष्मगत और मूर्धा की वृद्धि चारों स्मृत्युपस्थानों से होती है—वृद्धि करने वाला (विवर्धवन्) योगी पूर्व प्रतिलब्ध कुशल-मूलों का संमुखीभाव नहीं करता, क्योंकि वह उनको न्यून समझता है और इसलिए उसका उनमें बहुमान नहीं होता (अबहुमानत्वात्)।

मूर्धाओं की वृद्धि मृदु, मध्य, अधिमात्र अवस्थाओं से गुजर कर होती है।

१८ सी. उससे क्षान्ति।[3]

'क्षान्ति' संज्ञा इसलिये है, क्योंकि इस अवस्था में अधिमात्र सत्य रुचते हैं, मूर्धावस्था में मध्य सत्य रुचते हैं—जैसा इससे स्पष्ट है कि क्षान्ति से परिहाणि नहीं होती, किन्तु इन प्रथम दो अवस्थाओं से होती है।

१८ सी. दो तद्वत् हैं।[4]

---

१. सत्येषु आकाराणां प्रथमतो विन्यसनम् = सत्येषु अनित्याद्याकाराणाम् आदित उपनिपातनम्। (व्या० ५३२, २७)

धर्मस्मृत्युपस्थान से धर्मों का विचार कर योगी उष्मगतावस्था और मूर्धावस्था के आरम्भ में उपादान स्कन्धों को अनित्यतः, दुःखतः आदि देखता है। वह सत्यों के अर्थात् दुःखभूत उपादान स्कन्धों के, समुदयभूत उपादान स्कन्धों के निरोध = निर्वाण, मार्ग के आकारों का विन्यसन करता है। यह आकारों का विन्यसन या आकरण है।

२. —[अन्यैरपि वर्धनम्] वर्धन—अभ्यासेनोत्तप्तीकरणम्।

[उत्तापना, ६.५७ सी से तुलना कीजिये]।

३. —[ततः क्षान्तिः] पृ० १६६,२ टिप्पणी २ देखिये।

यह 'क्षान्ति' क्षान्ति (बोधिसत्व की पारमिता ४.१११ सी-डी) से भिन्न है।

यह सत्यदर्शन मार्ग में संगृहीत (६ २५ डी) अनास्रव क्षान्तियों से सम्बन्धित है, किंतु यह सास्रव लौकिक है और इसलिए यह ज्ञान है, क्योंकि अमला क्षान्ति (७·१) ही ज्ञान नहीं है।

ललित के अनुसार कर्न सूचित करते हैं कि 'क्षान्ति' का अर्थ 'क्षमण' 'रुचि' है। पालि में भी क्षान्ति शब्द इस अर्थ में पाया जाता है :

सुत्तनिपात, ८९७, मज्झिम १·४८७, २ ४३ : अञ्ञदिट्ठिक अञ्ञखंतिक अञ्ञरुचिक (अन्य मत का श्रमण, अबौद्ध); संयुत्त २·११५, अञ्ञत्र समुदाय अञ्ञरुचिया · अञ्ञ च दिट्ठिनिज्झानखन्तिया अहमेतं जानामि···जातिपच्चया जरामरणन्ति ; मैं श्रद्धा से, रुचि से, दृष्टि-निध्यान-क्षान्ति से नहीं जानता कि जरा-मरण जाति से प्रवृत्त होता है।

विभंग, २४५,३२५ आदि—गौडपाद ४.६२ में क्षान्ति शब्द इस बौद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मृदु और मध्य (दिव्य, २७१) क्षान्ति मूर्धा के सदृश हैं, क्योंकि वह मूर्धा के समान धर्मस्मृत्युपस्थान से सर्वप्रथम आकरण करते हैं। किन्तु वह बर्धन में मूर्धा से भिन्न हैं।

१८ डी. सब क्षान्ति का वर्धन धर्म से होता है।[१]

[१६६]मृदु, मध्य, अधिमात्र का वर्धन धर्मस्मृत्युपस्थान से ही होता है, अन्य स्मृत्युपस्थानों से नहीं होता।[२]

उभयाकरणं धर्मेणान्यैरपि तु वर्धनम्।
तेभ्यः क्षान्तिर्द्विधा तद्वत् क्षान्त्या धर्मेण वर्धनम् ॥१६॥

१६ ए-बी. अधिमात्र का विषय कामाप्त दुःख है।[३]

अधिमात्र क्षान्ति का श्लेष अग्र-धर्मों से होता है (अग्रधर्म-श्लेषात्)। अतः इसका विषय केवल कामावचर-दुःख है।

पूर्व अवस्थाओं के लिये ऐसे नियम का वचन नहीं है, अतः उनका विषय त्रैधातुक-दुःख-समुदय आदि है। [४ बी] जब योगी रूपारूप्यालम्बन सोलहवें आकार निर्याणिका पर रुक जाता है और एक-एक सत्याकार और सत्यालम्बन का अपह्रास करता है, यावत् वह दो क्षण में कामावचर-दुःख का दो आकार में (अनित्य, दुःख) ही आकरण करता है, तो यह सब मध्य क्षान्ति है।

जब योगी एक चित्त-क्षण में कामावचर-दुःख को एक ही आकार में (अनित्य) देखता है, तो यह अधिमात्र क्षान्ति है। यह वैभाषिकों का व्याख्यान है।

१६ बी. एक-एक क्षण की है[४]।

यह एक क्षणिक है, इसकी सन्तति नहीं होती[५]।

---

बोधिसत्व भूमि के 'धर्मेषु सम्यक् सन्तीरणक्षान्ति' और महायान की २-३ क्षान्तियों का (ललित ३६,१६ (राजेन्द्र लाल), लोटस, बुरनुफ, ३८०) यहाँ विचार नहीं करना है; सुखावती व्यूह ५५, प्रज्ञा पारमिता, ३३१,४५१, ५·१७ दशभूमक अध्याय ६, सूत्रालंकार, ६,५२, १६,३६—धर्मनिध्यान-क्षान्ति के लिए ऊपर पृ० १६३ टिप्पणी १ देखिए।

द्वयं तद्वत्।

१. —सर्वस्याधर्मवर्धनम्।

२. वास्तव में दर्शन-मार्ग धर्मस्मृत्युपस्थानात्मक है।

अतः अग्रधर्म भी धर्मस्मृत्युपस्थान हैं, क्योंकि वह दर्शनमार्ग से आश्लिष्ट हैं। और क्षान्ति का अग्रधर्मों से श्लेष है।

३. =[कामाप्तदुःखविषयाधिमात्रा]।

४. अतः मृदु क्षान्ति के आलम्बन षोडशाकार दृष्ट त्रैधातुक चतुः सत्य हैं।

५. =[एकक्षणा तु सा]।

[१६७] १९ सी. इसी प्रकार अग्रधर्म हैं।

यह अधिमात्र क्षान्ति के सदृश कामावचर दुःख को आलम्बन बनाते हैं और एक क्षणिक (एक क्षण) हैं।

इनको लौकिक अग्रधर्म कहते हैं : क्योंकि सास्रव होने से यह लौकिक है; क्योंकि यह अग्रधर्म हैं; क्योंकि यह लौकिक धर्मों में अग्र हैं। यह लौकिकाग्रधर्म हैं, क्योंकि सभाग-हेतु के बिना अपने पुरुषकार से यह दर्शन-मार्ग का आकर्षण करते हैं।[१]

उष्मगतादि चार कुशलमूल का स्वभाव स्मृत्युपस्थान है, अतः वह प्रज्ञा है किन्तु,

१९ सी. सब पंचस्कन्धात्मक हैं।[२]

उष्मगतादि कुशलमूल का सपरिवार ग्रहण करने से सब पंचस्कन्ध हैं।

१९ डी. प्राप्तियों को वर्जित कर।[३]

प्राप्ति-अर्थात् उष्मगतादि की प्राप्ति—उष्मगतादि में संगृहीत नहीं है क्योंकि यह युक्त नहीं है कि,

[१६८] आर्य उष्मगतादि का पुनः सम्मुखीभाव करें, जो होता यदि वह प्राप्ति का संमुखीभाव करते।

१. जब सत्यालम्बन उष्मगत का आकरण होता है तब धर्मस्मृत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न होता है, अनागत चार स्मृत्युपस्थान पूर्व प्रतिलब्ध होते हैं [एक आकार प्रत्युत्पन्न में दृष्ट होता है, अनागत चार भावित हैं]। जब निरोध-सत्य इसका आलम्बन होता है तब अकेला वही प्रत्युत्पन्न धर्मप्रत्युपस्थान अनागत में भावित होता है। आकार सर्वत्र सभाग होते हैं, उसी सत्य के होते हैं, जिसको वह आलम्ब बनाते हैं। [जो सत्य प्रत्युत्पन्न नहीं है उनके अनागत आकार भावित नहीं होते।] विवर्धन-काल में जब उष्मगत का आलम्बन त्रिसत्य होता है कोई भी प्रत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न हो सकता है, अनागत चार भावित होते हैं। जब इसका आलम्बन

१. दर्शनमार्ग अनास्रव हैं, इसका सभागहेतु (२ ५२ ए.) नहीं है क्योंकि अब तक किसी अनास्रवधर्म का योगी की सन्तति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। अतः यह केवल अग्रधर्मों के प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। यह उसका पुरुषकार फल है, २.५६ डी. सूत्रालंकार के अनुसार (१४.२३) लौकिकाग्रधर्म अनास्रवमार्ग का समनन्तर उत्पाद करते हैं, पृथग्जनत्व का विनाश करते हैं : ६.२५ सी-डी के अन्त में और पृ० १६६, टि १. देखिये।

२. योगी रूपात्मक संवर (४.१७ बी) से अवश्य समन्वागत होता है। घोषक के मत से (विभाषा, ६,१४) निर्वेधभागीय या तो कामधातु के हैं (उष्मगत और मूर्धानः) चार स्कन्ध, क्योंकि कामधातु में रूप चित्तानुपरिवर्ती (४.१७ ए) नहीं होता या रूपधातु के हैं (क्षान्ति, अग्रधर्म) : ५ स्कन्ध। नीचे ६.२० डी देखिये।

३. मैं नहीं समझता कि यह कैसे ६.२१ सी. के अनुरूप हैं।

निरोध-सत्य होता है तब वह चतुर्थ प्रत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न होता है, अनागत चार भावित होते हैं। सब अनागत आकार भावित हैं क्योंकि गोत्र प्रतिलब्ध हैं।[१]

२. चतुःसत्यालम्बन मूर्धाकरण और निरोधालम्बन विवर्धन में भी अन्त्य स्मृत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न हैं, अनागत चार भावित होते हैं, सब अनागत आकार भावित होते हैं। त्रिसत्यालम्बन-विवर्धन में चार स्मृत्युपस्थानों में से कोई भी प्रत्युत्पन्न होता है, अनागत चार भावित हैं, सर्व आकार भी भावित हैं। [५ बी]

३. क्षान्तियों के आकरण और विवर्धन काल में सर्वत्र अन्त्य स्मृत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न होता है[२] अनागत चार भावित हैं, सब आकार भावित हैं।

४. अग्रधर्मों अन्त्य स्मृत्युपस्थान प्रत्युत्पन्न होता है, अनागत चार जो अनुत्पत्तिधर्मा हैं भावित होते हैं; दुःखसत्य के चार आकार ही भावित होते हैं क्योंकि अन्य सत्यों के आकार अग्रधर्म नहीं हैं ( अन्याभावात् ), क्योंकि अग्रधर्मों का दर्शन-मार्ग ऐसा दृश्य है।[२] जिसमें केवल उस सत्य के अनागत चार आकरण करता है।

आकार का लाभ होता है जिसका वह आकार में आकरण करता है।

**कामाप्तदुःखविषया त्वधिमात्रा क्षणं च सा।**
**तथाग्रधर्माः सर्वे तु पंचस्कन्धाविनाप्तिभिः ॥२०॥**

२० ए. बी. यह चतुर्विध निर्वेधभागीय हैं।[३]

---

१. लब्धत्वाद् गोत्राणाम् (व्या० ५३६,३) चतुः सत्यालम्बन चार जाति के स्मृत्युपस्थान की प्राप्ति पूर्व ही लब्ध है :—

शुम्रान-चाङ्, ३०, आगे ६ बी।

२. यह सादृश्य तुल्यभूमिकत्व में, तुल्यालम्बनत्व में (कायावचरदुःख) है। यह सादृश्य इस कारण भी है कि पृथग्जनत्व के घात के लिये अग्रधर्म प्रथम अनास्रव क्षान्ति के आनन्तर्य मार्गभूत हैं। (६.२५ सी-डी.)

३. [एवं निर्वेधभागं चतुर्धा]

पालि में निर्वेधभागीय (वही अर्थ जो कोश, ८.१७ में है, यह हानभागीयादि का प्रतिपक्ष है), ४.१२५, अनुवाद पृ० २५३, टिप्पणी, दीघ ३.२७७, अंगुत्तर, ३, २, ३२७, विभंग, ३३०।

गोत्रभू पुग्गलपञ्ञत्ति पृ० १२, लौकिकाग्रधर्मों से समन्वागत पुद्गल के अनुरूप हैं।

चार निर्वेधभागीय, वासिलीव (अत्युत्तम), १५० (१३६), २७६ (२४६); महाव्युत्पत्ति, ५५; धर्म शरीर; दिव्य ८०.१, जहाँ मूर्धगतानि पाठ उष्मगतानि के लिये भूल से है; जहाँ सत्यानुलोमाः क्षान्तयः है (जो कोश ६.२५ डी. की क्षान्ति हो सकती हैं), १६६, आदि; बोधिचर्यावतार, ६. ४१; सूत्रालंकार, १४.२३; बोधिसत्त्व भूमि।

यह चार उष्मगत, मूर्धा, क्षान्ति, अग्रधर्म—निर्वेधभागीय कुशल मूल हैं, प्रथम दो जो चल हैं क्योंकि योगी की उससे परिहाणि हो सकती है, मृदु निर्वेधभागीय हैं; क्षान्ति मध्य निर्वेधभागीय है; अग्रधर्म अधिमात्र निर्वेधभागीय हैं।

निर्वेधभागीय का क्या अर्थ है; (१) निर्वेध का अर्थ हैं 'निश्चित वेध।' अतः यह निश्चित है और सत्य का विभाजन[1] (वेध) होता है; 'यह दुःख है······ यह मार्ग है; (२) दर्शन-मार्ग मार्ग का भाग है, अतः यह निर्वेध भाग है। जो धर्म मार्ग के एक भाग में आवाहकत्वेन हित में हैं वह निर्वेधभागीय (छण्वद्धित के साथ) हैं।

[१७०] यह चारों निर्वेधभागीय,

२० बी. भावनामय हैं।[2]

श्रुतमय या चिन्तामय नहीं हैं।

२० सी-डी. उनकी भूमि अनागम्य, अन्तर और ध्यान हैं।[3]

उनकी भूमि अनागम्य (८·२२ सी) ध्यानान्तर (८.२२ डी) और चार ध्यान हैं, केवल इन ६ समापत्तियों में उनका लाभ होता है। वह ऊर्ध्व अर्थात् आरूप्यों में नहीं होते क्योंकि वह दर्शनमार्ग के परिवार हैं।[4] आरूप्यों में दर्शनमार्ग का अभाव होता है, क्योंकि कामधातु इसका आलम्बन है, क्योंकि योगी को दुःख रूप कामधातु को पूर्व जानना चाहिये (परिज्ञा) और समुदयरूप कामधातु का पूर्व प्रहाण करना चाहिये।

निर्वेधभागीयों का रूप धातु में पंचस्कन्धविपाक है (विभाषा, ६०, १५)।

वह परिपूरक कर्म हैं, आक्षेपक नहीं हैं (४.६५ ए-बी) क्योंकि वह भवद्वेषी हैं (भवद्वेषित्वात्)।

२० डी. अथवा दो अधोभूमि के भी हैं।[5]

'वा' शब्द परमत का द्योतक है, भदन्त घोतक के अनुसार प्रथम दो निर्वेधभागीय कामधातु को संगृहीत कर सप्तभूमिक है।

---

१. तिब्बती भाषान्तर में व्याकरण का व्याख्यान नहीं है जिसका पूर्व भाग व्याख्या में है—विध विभाग इति। पाणिनि ३। ३। १५ के अनुसार वेध रूप होता है।

२. =[ भावनामयम्। ]

३. =अनागम्यान्तरध्यानभूमिकम् (व्या० ५३७, १४)

४. दर्शनमार्गपरिवारित्वात् (व्या० ५३७, १७), क्योंकि वह दर्शनमार्ग के प्रयोग हैं।

५. =[ द्वे अधोऽपि वा। ]

**इति निर्वेधभागीयं चतुर्धा भावनामम् ।**
**अनागम्यान्तरध्यानभूमिकं द्वेत्वधोऽपि वा ॥२१॥**

२१ ए. चारों कामाश्रयों में होते हैं ।[1]

[१७१] तीन द्वीपों के मनुष्यों से ही तीन का उत्पाद हो सकता है, एक बार उत्पन्न होने से देवों में इनका संमुखीभाव हो सकता है । चतुर्थ का उत्पाद भी होता है ।

तीन जिनका लाभ स्त्री और पुरुष करते हैं उभय आश्रय में पाये जाते हैं[2] । २१ ए-बी० स्त्री उभयाश्रय अग्रधर्मों का लाभ करती है[3] ।

स्त्री से लब्ध होने पर अग्रधर्म स्त्री आश्रय में (तदानीन्तन आश्रय) पाये जाते हैं और पुरुषाश्रय में (वह आश्रय जिसे जन्मान्तर में स्त्री अवश्य लेगी) पाये जाते हैं, जब पुरुष इनका लोभ करता है तब यह पुरुषाश्रय में ही होते हैं, क्योंकि अग्रधर्मों के कारण स्त्रीत्वके अप्रतिसंख्यानिरोध (२.५५ डी.) होता है ।

निर्वेधभागीयों का त्याग कैसे होता है ?

२१ सी-डी. भूमित्याग से आर्य इनका त्याग करता है ।[4]

जब आर्य उस भूमि का त्याग करता है जिसमें उसने निर्वेधभागीय प्रतिलब्ध किये हैं तो वह निर्वेधभागीयों का त्याग करता है । वह अन्यथा मृत्यु या परिहाणि से उनका त्याग नहीं करता, भूमि-संचार से भूमि-त्याग होता है (उक्त भूमि से वैराग्य से नहीं)

२१ डी. अनार्य मृत्यु से ।[5]

---

१. [ कामाश्रयम् ] ४. अनुवाद, पृ० २०३ देखिये ।

विभाषा, ७, ११, : किस कार्य में चार निर्वेधभागीयों का उत्पाद होता है ? पुरुष या स्त्री के कार्य में—जो स्त्री उष्म का उत्पाद करती है क्या वह पुरुष कार्य में उससे समन्वागत होती है ?······संक्षेप में जो स्त्री प्रथम तीन का लाभ करती है वह स्त्री-कार्य या पुरुष-कार्य में इन अनागत से भावित होती है; इसी प्रकार पुरुष-कार्य में इन अनागत से भावित होता है ।

२. उभयाश्रयाणि स्त्रियः पुरुषाश्च लभन्ते (व्या० ५३८,७) जिस पुरुष ने प्रथम तीन निर्वेधभागीयों में से एक का लाभ किया है वह स्त्री-भाव में पुनरुपपन्न हो सकता है ।

३. =अग्रधर्मान् ह्याश्रयान् लभतेंऽगना । व्या० ५३८, १४.

४. भूमित्यागात् त्यजत्यार्यस्तानि । यह ४.४० में व्याख्यान नियमों के अनुसार है । —'भूमिसंचार' से अर्थ 'दूसरी भूमि में उपपत्ति' से है ।

५. =अनार्यस्तु मृत्युना ।।—अर्थात् अनार्य मृत्यु से निर्वेधभागीयों का त्याग उस समय भी करता है, जब वह उस भूमि में पुनरुपपन्न होता है, जहाँ उसने उनको प्रतिलब्ध किया

[१७२] भूमि-संचार हो या न हो पृथग्जन निकाय सभाग से ही उनका त्याग करता है।

> कामास्रवाण्यप्रथमान् द्व्याश्रयान् लभतेऽगता ।
> भूमित्यागात्त्यजत्यार्यस्तान्यनार्यस्तु मृत्युना ।।२२।।

२२ ए. वह पहले दो का त्याग परिहाणि से भी करता है।[१]

पृथग्जन प्रथम दो का त्याग मृत्यु और परिहाणि से करता है।

आर्य की पहले दो से परिहाणि नहीं होती।

२२ बी. जब वह मौलध्यान के होते हैं तब वह सत्य-दर्शन इसी जन्म में;[२] जिसने मौलध्यानों का अभ्यास कर निर्वेधभागीयों का उत्पाद किया है वह अवश्य इसी जन्म में सत्य-दर्शन करेगा क्योंकि उद्वेग अधिमात्र है।

२२ सी. विहीन होने पर अपूर्व का लाभ होता है।[३]

जब निर्वेधभागीय विहीन होते हैं और उनका अपूर्व लाभ होता है तब उनका अपूर्व लाभ प्रातिमोक्षसंवरवत् (४.३८) होता है; पूर्व त्यक्त निर्वेधभागीयों का लाभ नहीं होता।[४] क्योंकि वह अनभ्यस्त (अनुचित) हैं इस लिये वैराग्य-लभ्य नहीं हैं; क्योंकि वह यत्न-साध्य हैं इसलिये पूर्व त्यक्त होने पर प्रतिलब्ध नहीं होते। यदि योगी को प्रणिधिज्ञानलाभी (७.३७)[५] प्रतिसीमादैशिक का दर्शन होता है तब लब्ध-विहीन से अन्य-निर्वेधभागीयों का उत्पाद करता है

---

है (४. अनुवाद, पृ० १०० देखिये) ।—व्याख्या (५३६,४) में वसुमित्र के मत व्याख्यात हैं जो अयथार्थ हैं (उनका कहना कि पृथग्जन कभी केवल मृत्यु से, कभी मृत्यु और भूमि-संचार से त्याग करता है)। किन्तु संघभद्र ने यह प्रदर्शित किया है कि पृथग्जन केवल मृत्यु से निर्वेधभागीयों का त्याग करता है।

१. =[आद्ये द्वे परिहाण्या च]

२. =[मौलेभ्य इह सत्यदृक् ।।]

हमने (६. सी-डी) देखा है कि योगाचार मौलध्यानों से भिन्न समापत्ति की अवस्था में निर्वेधभागीयों का उत्पाद कर सकता है।

३. =[विहीनं लभ्यतेऽपूर्वम्]

४. न पूर्वत्यक्तानि लभ्यन्ते (व्या० ५३६, २०) अर्थात् जो योगी अपूर्व निर्वेधभागीयों का सम्मुखीभाव करता है वह पूर्व त्यक्त निर्वेधभागीयों का पुनः लाभ नहीं करता।

५. सति प्रतिसीमादैशिके=व्याख्या (५३६, २०) : सति [······] प्रतिसीमा नाम मर्यादा तस्या दैशिको देशयिता प्रणिधिज्ञानलाभी शुग्रान चाङ् : यदि उसको एक धर्माचार्य के दर्शन होते हैं जो अवस्थाओं को जानता है और उनकी देशना करता है—···।

यदि प्रतिसीमा दैशिक का दर्शन नहीं होता तो उसको मूल से निर्वेधभागीयों का उत्पाद करना चाहिये।

[१७३] हमने देखा है कि आर्य निर्वेधों का त्याग करता है (त्यजति) और पृथग्जन परिहाणि से उनका त्याग करते हैं।

यह विहानि और परिहाणि है: यह हानि के दो प्रकार हैं।

यह क्या हैं ?

२२ डी० दो हानि असमन्वय हैं [१]।

परिहाणि तो क्लेश कृत है, यह अवश्य नहीं है कि विहानि क्लेश-कृत हो। वह गुण-कृत भी होता है, यथा मार्गादि की उत्पत्ति पर पृथग्जन की विहानि।[२] जो कोई अष्मगत का लाभ करता है वह निर्वाणधर्मा है यद्यपि वह परिहाणि से उसका त्याग करता है।

---

१. =[द्वे हानी असमन्वयः ।।]

असमन्वय (अप्राप्ति, असमन्वागम असमन्वय) का व्याख्यात २.३६ सी आदि में हैं। प्रत्येक परिहाणि विहानि है; इसका विपर्यय नहीं है,

२. यहाँ चीनी अनुवादकों का भेद है। शुआन् चाङ्: इन कुशलमूलों के लाभ का क्या उपयोग है ?

२३२३ ए[१] उष्मगत अवश्य निर्वाण का लाभ करेगा। यदि चार निर्वेधभागीयों में से कोई उष्मगत का लाभ करता है तो वह चाहे परिहाणि हो चाहे कुशलमूल का समुच्छेद करे, दीर्घकाल तक संसरण नहीं करता क्योंकि वह अवश्य निर्वाणलाभी होगा। यदि ऐसा है तो उष्मगत और मोक्षभागीयों में क्या अन्तर है ?—यदि कोई आवरण नहीं है तो उष्मगत सत्यदर्शन के सन्निकृष्ट है, क्योंकि उसके तुल्य उसमें सत्य के [षोडश] आकार के दर्शन है

२३ २३ ए[२]—जो मूर्धा का लाभ करता है······

परमार्थ:

जिसने उष्मगत का लाभ किया है वह निर्वाणधर्मा है; यद्यपि वह उसका परिहाणि से त्याग करता है। यदि ऐसा है तो उष्मगत और मोक्षभागीय में क्या अन्तर है ? – क्योंकि यह चतुःसत्यदर्शन की सन्निकृष्टावस्था है, यदि कोई आवरण नहीं है। पुनः श्लोकोक्ति है :

२३ ए ? उष्मगत पाषण्डिक शिक्षा का ग्रहण नहीं करता। जिसने उष्मगत का लाभ लिया है और जिसको उससे परिहाणि हुई है वह इस अवस्था में पाषण्डिक शिक्षा का ग्रहण नहीं करता (महाव्युत्पत्ति, १७८, १२=पाषण्डिक)—यदि वह पाषण्डिक शिक्षा का ग्रहण नहीं करता तो वह उससे किस बात में भिन्न है जिसने 'मुर्धा,' का लाभ किया है ?

२३ ए[२] जो मूर्धा का लाभ करता है।

[१७४] किन्तु इस अवस्था में उष्मगत और मोक्षभागीय में (४·१२५ सी-डी, ६.२४·७. ३०) क्या भेद है ? वास्तव में जो कोई निर्वाणभागीय कुशल-मूल का आरोपण करता है वह भी निर्वाण का लाभ करेगा ।—यदि कोई आवरण नहीं है तो उष्मगत सत्यदर्शन के अतिसन्निकृष्ट है ।

> आद्ये द्वे परिहाण्या च मौलैस्तत्रैव सत्यदृक् ।
> अपूर्वाप्तिविहीनेषु हानी द्वे असमन्वितः ।।२३।।

२३ ए. मूर्धलाभी मूल का छेद नहीं करता ।[१]

जिसने मूर्धाओं का लाभ किया है वह अकुशलमूल (४.७९) का छेद नहीं करता, यद्यपि वह परिहाणि से उनका त्याग करता है । किन्तु वह दुर्गतियों में पतित हो सकता है और आनन्तर्यकारी (४·९६) हो सकता है ।

२३ बी जो क्षान्तिलाभ है वह अपाय में गमन नहीं करता, ( केवल जो विहानि से ) क्षान्ति लाभ का त्याग करता है वह उपायों में नहीं जाता क्योंकि वह अपायभागीय कर्म और क्लेशों से दूरीभूत है । क्षान्तिलाभी के लिये गतिविशेष, योनिविशेष, उपपत्ति-विशेष, आश्रय-विशेष, भव-विशेष और क्लेश-विशेष अनुत्पत्तिधर्मता का प्रतिलाभ करते हैं । गतियों में अपाय-गति; योनियों में अण्डज, संस्वेदजयोनि; उपपत्तियों में असंज्ञिसत्व उत्तरकुरु और महाब्रह्मोपपत्ति; आश्रयों[४] में षण्ड, पण्डक और उभय व्यंजनों के आश्रय; भवों में अष्टम, नवमादिभव;[५] क्लेशों में दर्शनहेयक्लेश ( विभाषा ३३,९९ ) ।

क्षान्ति को अवस्था के अनुसार प्रहाण होता है : मृदु क्षान्ति में अपाय अनुत्पत्तिधर्मता का प्रतिलाभ करते हैं ।

---

१.—मूर्धलाभी न मूलच्छिद्

२.—क्षान्तिलाभ्यनपायगः ।

३.— दूसरे शब्दों में उसके लिये उन गत्यादि का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है ।— ।।.२.५५ डी देखिये ।

४. ४.९६, पृ२०३, टि० १ देखिये ।

५. वह सातवें भव में निर्वाण का लाभ करेगा :

६. मृद्व्यां क्षान्त्यां अपायगतीनाम् अनुत्पत्तिधर्मतां प्रतिलभते । मध्यायाम् अण्डज-संस्वेदजयोन्योः । अधिमात्रायाम् असंज्ञिसत्वोत्तरकुरुमहाब्रह्मोपपत्तीनाम् । मृद्व्यां षण्ढपण्ड-कोभयव्यंजनाश्रयणाम् अधिमामायाम् (?) (व्या० ५४०, ८) = अष्टमादिभवानाम् । दर्शनहेय-क्लेशानां चाधिमात्रायाम् ।

[१७५] अधिमात्रक्षान्ति में पूर्वोक्त सब अकुशलधर्म अनुत्पत्तिधर्मता का प्रतिलाभ करते हैं।[1]

निर्वेधभागीय गोत्रत्रय भेद से तीन प्रकार के हैं।[2] योगीश्रावक प्रत्येक बुद्ध या बुद्धगोत्र का है। उष्मगत, मूर्धादि वह गोत्र होता है जो उस योगी का है जो उनका अभ्यास करता है।

२३. सी-डी. श्रावक गोत्र से निर्वेधभागीयों का व्यावर्तन कर बुद्ध हो सकता है[3]। जो पुद्गल श्रावक गोत्र का है उसके लिये उस गोत्र से उष्मगत और मूर्धा का व्यावर्तन करना और बुद्ध होना संभव है। किन्तु एक बार क्षान्ति के लाभ से यह संभव नहीं है (विभाषा, ६८, ६,) क्योंकि अनागत अपाय क्षान्ति की प्राप्ति से विनष्ट हो जाते हैं। किन्तु बोधिसत्व प्रतिवेशी के हित के लिये अपायों का अवगाहन करता है।[4]—यह वैभाषिकों का व्याख्यान

---

१, चीनी अनुवाद का यहाँ एक पाद जोड़ते हैं। शुआनचाङ्: २३, बी २ अग्रधर्म न्याय (पृ० १८०) में प्रवेश करते हैं यद्यपि अग्रधर्मलाभी पृथग्जन की अवस्था में हों तथापि सम्यक्त्वनियाय में प्रवेश करता है। यद्यपि कारिका में यह नहीं कहा है कि इन धर्मों का प्रहाण मृत्यु से नहीं होता तथापि इस कारण कि इन धर्मों से सम्यक्त्वन्याय में अनन्तर ही प्रवेश होता है, यह गमित होता है कि उनका प्रहाण मृत्यु से नहीं होता।—केवल अग्रधर्मा से समन्वागत ही क्यों न्याय में प्रवेश कर सकता है?—क्योंकि उसने पूर्व ही पृथग्जनत्व के अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ किया है; क्योंकि अग्रधर्म आनन्तर्य मार्ग (६.२८) के सदृश पृथग्जनत्व से बहिष्कृत करने में समर्थ हैं, (नीचे पृ० १८१-१८३).

परमार्थ:

२३२ बी. अग्रधर्म पृथग्जनत्व का प्रहाण करते हैं।

जिसने अग्रधर्म कुशलमूल का प्रहाण कर लिया उसने पूर्व ही पृथग्जनत्व के अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ किया है क्योंकि वह परिहाणि या मृत्यु से इस कुशलमूल का त्याग नहीं करता: वह इस भाव में पुनः पतित न होगा—क्यों?—क्योंकि अग्रधर्म के समनन्तर काल में बिना यत्न के दुःखसत्य का दर्शन करेगा।

२. विभाषा, ७, ६—एक दूसरी दृष्टि से परिहाणधर्मन्, चेतनाधर्मन्, आदि।—योगी एक से दूसरे में जा सकता है।

३. शैक्षगोत्राद् विवर्त्य द्वे बुद्धः स्यात्।

४. बोधिसत्व स्वेच्छा से अपायों में उत्पन्न होते हैं इस पर कथावत्थु २३.३ देखिये; वसुमित्र और मव्य (एक व्यवहारिकादि); महावस्तु. २, २७८ हूवर सूत्रालंकार, ४०८, जातक में, हापकिन्स की बिबलिओग्राफी, जे ओ एस. १०६, ४५८.—देखिए ४। १०८ सी.

है। हमारा मत है कि श्रावक-गोत्र क्षान्ति का लाभ कर बुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि क्षान्ति-परिभावित श्रावक-गोत्र अविकर्म है।[१]

[१७६] २३ डी. वह तीन का व्यावर्तन कर इतर हो सकता है।[२]

बुद्ध से इतर प्रत्येक बुद्ध है श्रावक-गोत्र इसी चित्त से प्रथम तीन निर्वेधभागीयों का व्यावर्तन कर प्रत्येक हो सकता है।[३]

[१७७] बुद्धगोत्र और प्रत्येक गोत्र के निर्वेधभागीय अविवर्त्य हैं।

मूर्धलाभी न मूलच्छित् क्षान्तिलाभ्यनपायगः।
शिष्यगोत्राद् विवर्त्य द्वे बुद्धः स्यात् त्रीण्यपीतरः ॥२४॥

२४ ए. बी. शास्ता और खड्गविषाण अन्त्यध्यान में एक आसन से बोधिपर्यन्त जाते हैं।[४]

---

१. व्याख्या की सहायता से मैं भाष्य के संक्षिप्त वाक्य का अर्थ देता हूं।

२. =त्रीण्यपीतरः ॥ (व्या० ५४०,१५)।

विभाषा के अनुसार : श्रावक (अर्थात् श्रावकगोत्र का पुद्गल) उष्म और मूर्धा की अवस्था में प्रत्येक यान में जा सकता है; लोकोत्तर की अवस्था में अविवर्त्य होता है। —(ए.) वर्गचारी प्रत्येक जो पहली ही अवस्थाओं में है बुद्धयान में जा सकता है; जो अन्तिम दो में है वह अविवर्त्य है; (बी.) खड्गविषाणकल्प प्रत्येक अविवर्त्य हैं, चाहे जिस अवस्था का उसने लाभ किया हो।

बसुवन्धु ३.९५ मानते हैं कि वर्गचारिन् पूर्व से श्रावक हैं किन्तु विभाषा इस मत का समर्थन नहीं करती कि श्रावक-गोत्र फल का लाभकर (=श्रावक होकर) प्रत्येक हो सकता है। यह इस वाद के अनुकूल है कि यह पुद्गल लोकोत्तर का लाभ कर अविवर्त्य होता है फुकुआङ्ग वसुबन्धु के मत को युक्त बताते हैं।

३. परमार्थ के अनुसार।

प्रत्येक बुद्धगोत्र अविवर्त्य है। क्यों?—कारिका में उक्त है :

२३ ई. एफ. क्योंकि वह परार्थान्वेषी नहीं है; अन्यथा गोत्र-विवर्तन का प्रतिषेध नहीं है।

यदि योगी ने पूर्व ही प्रत्येक होने का प्रणिधान किया है और पश्चात् वह उष्मगत और मूर्धाओं की भावना करता है तो इन दो कुशल-बोधिसत्व के कुशलमूलों में विवर्तन नहीं होता।— क्यों?—क्योंकि उसका प्रणिधान परार्थ-संपादन के लिए नहीं है……। इसका प्रतिषेध नहीं है कि प्रत्येक बुद्ध श्रावकगोत्र में विवर्तन करे।—पुनः कारिका का कहना है (२४ ए. बी.)।

४. =[आबोधिम् एकासनतो ध्यानान्त्येशास्तृखड्गिनौ]—

शास्ता अर्थात् बुद्ध, खड्गी, जो खण्डकल्प है अर्थात् प्रत्येकबुद्ध ।—दोनों चतुर्थध्यान का आश्रय लेते हैं क्योंकि यह ध्यान आनिज्य और पटु-समाधि है ।[१]—एक आसन में, विना उठे, वह निर्वेधभागीय से बोधि के उत्पाद तक जाते हैं ।[२] हम पश्चात् (६.६७) देखेंगे कि बोधि क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान है, दूसरों के अनुसार (विभाषा, ६८,७) 'आसन' का आरम्भ अशुभा से होता है ।

जिन आभिधार्मिकों के मत में खण्ड से अन्य में भी एक प्रत्येकबुद्ध उनके लिए इनके अन्य प्रत्येकों के गोत्र के व्यावर्तन का प्रतिषेध नहीं है ।[३]

[१७८] क्या निवेधभागीयों का प्रयोग और निवेधभागीयों का उत्पाद एक ही जन्म में होता है ?

यह संभव नहीं है । अवश्य ही उत्पाद करना चाहिये ।

२४ सी. तत्पूर्व मोक्षभागीयों का ।[५]

सब में

२४ डी. क्षिप्र तीन भव में मोक्ष का लाभ करता है ।[६]

बीजारोपण, शस्याभिवृद्धि, फलोत्पत्ति; यह तीन भिन्न अवस्था है । इसी प्रकार इस

---

परमार्थ के दो शब्दों के क्रम का अनुसरण कर ।

खड्गविषाण पर सुत्तनिपात, ३५, विसुद्धिमग्ग, २३४

१. अष्टापक्षालमुक्तत्वाद् आनिज्यः समाधिरत एव पटुरुत्तमतीक्ष्णेन्द्रियत्वाद् वा (४.४६,८.११ देखिये) ।

२. इस आसन में बोधिसत्व के लिए ३४ चित्त या क्षण होते हैं : दर्शनमार्ग के १६, अन्त्य आरूप्य (भवाग्र) से वैराग्य के १८ (२.४४, अनुवाद पृ० २०६ देखिये) फुकुआङ्क के अनुसार प्रत्येक के लिये १६० चित्त (प्रायः दर्शनमार्ग के १६ और ४ रूप-वैराग्य चार आरूप्य-वैराग्य के १४४) (१८ × ८) ।

३. यह प्रत्येक वर्गचारी हैं—व्याख्या (५४०,२१) : उत्पादितनिर्वेधभागीयमात्रोऽपि वर्गचारी प्रत्येकबुद्ध इत्यभिप्रायः ।

४. शुआनचाङ्क—प्रथम दो निर्वेधभागीयों का उत्पाद कर वह दूसरे यान की ओर व्यावर्तन कर सकते हैं ।

५. =[तत्पूर्वं मोक्षभागीयम्]—३.४४ सी-डी, ४.१२४, ७.३०, ३४—मोक्षभाग =मोक्षस्य प्राप्तिः, जो इस प्राप्ति का आवाहक है वह मोक्षभागीय है ।

६. =क्षिप्रं मोक्षार्थिभिर्भवैः (व्या० ५४०, २४)—विभाषा, १०१, १६, १७५, ११ आदि अनेक मत हैं; प्रत्येकादि की चर्या का काल, आगम में ।

धर्मता में[1] क्रमेण सन्तति का अवतार, परिपाक और विमुक्ति होते हैं; प्रथम जन्म में मोक्षभागीय कुशलमूल का अवरोपण, द्वितीय जन्म में निर्वेधभागीयों का उत्पाद, तृतीय में आर्यमार्ग का उत्पाद।[2]

सिद्धान्त का मत है (विभाषा, ७, १५) विमोक्षभागीय,

**आबोधेः सर्वमेकत्र ध्यानेऽन्त्येशास्तृखड्गयोः।**
**प्राक् तेभ्यो मोक्षभागीयं क्षिप्रं मोक्षस्त्रिभिर्भवैः ॥२५॥**

२५ ए. श्रुतमय और चिन्तामय है।[3]

भावनामय नहीं—कितने प्रकार के कर्म मोक्षभागीय हैं ?

[१७९] २५ ए. तीन कर्म।

प्राधान्येन मानस कर्म। किन्तु काय-वाक् कर्म भी मोक्षभागीय हैं, जब उनका मोक्ष-प्रणिधान से परिग्रहण होता है। प्रणिधान चेतना-विशेष (२·२४) [९वी] एक भिक्षा भी देकर जो कायकर्म है, एक शिक्षा का भी आदानकर जो वाक् कर्म है, एक मोक्षभागीय एक मोक्ष-भागीय का आक्षेप होता है, (आक्षिपति) यदि मोक्षाभिलाष केवल का इन कर्मों में आधान होता है।[3]

२५ बी. मनुष्यों में आक्षेप होता है।[4]

---

१. अस्यां धर्मतायाम् अर्थात् प्रवचन-धर्मता में (व्या० ५४०, ३०), शुआन-चाङ् का अर्थ : इसी प्रकार धर्मता में अवतार, परिपाक, विमुक्ति, यह तीन अवस्थायें एक साथ नहीं होतीं। परमार्थ : यह क्रम क्यों ?

इस धर्म में, युक्ति और आगम में सन्तति का अवतार परिपाक और विमुक्ति आवश्यक है।

२. जब मोक्षभागीयों के अवरोपण के अनन्तर के जन्म में निर्वेधभागीयों का उत्पाद होता है तब उसी जन्म में निर्वेधभागीयों के साथ मार्ग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। "किन्तु जो पूर्व जन्म में मोक्षभागीय और आर्यमार्ग का उत्पाद कर सकता है" (व्या० ५४०,२९)।

३. =[श्रुतचिन्तामयम्]।

दूसरों के वह भावनामय भी हैं।

१. =[कर्मत्रयम्]।

२. जोड़िये : "चारपाद के एक श्लोक का अध्ययन कर।"

३. मोक्षाभिलाषबलाधानात् (व्या० ५४१,३) ४·१२५ अनुवाद पृ० २५२ टि० ५ देखिये।

४. =[आक्षिप्यते नृषु ॥]

केवल तीन द्वीपों के मनुष्य मोक्षभागीयों का आक्षेप या अवरोपण करते हैं, वास्तव में देवों में, उपायों में, उत्तर कुरु के मनुष्यों में निर्वेद था प्रज्ञा या निर्वेद और प्रज्ञा का यथायोग अभाव होता है।[१]

हमने प्रसंगवश मोक्षभागीयों का उपन्यास किया है किन्तु हमको सत्याभिसमय-क्रम का व्याख्यान करना है और हमने इस क्रम का अनुसरण यावत् अग्रधर्म किया है। शेष का व्याख्यान करना है।

२५ सी-डी. लौकिक अग्रधर्मों से एक अनाश्रव धर्मक्षान्ति की उत्पत्ति होती है।[२]

यथार्थ में एक धर्मज्ञानक्षान्ति[३] लौकिकाग्रधर्मों के अनन्तर होती है। उसका आलम्बन क्या है?

**श्रुतचिन्तामयं त्रीणि कर्माण्याक्षिप्यते त्रिषु।**
**लौकिकेभ्योऽग्रधर्मेभ्यो धर्मक्षान्तिरनास्रवा ।।२६।।**

२६ ए. काम दुःख इसका आलम्बन है।[४]

[१८०] उसका आलम्बन काम धात्ववचर दुःख है। अतः उसे 'दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति' कहते हैं।[५]

यह प्रदर्शित करने के लिये यह अनास्रव है उसके निष्यन्द (२.२६ सी.-डी.) धर्मज्ञान से[६] उसे विशेषित करते हैं। अतः 'धर्मज्ञानक्षान्ति' पद का यह अर्थ है: वह क्षान्ति जो धर्म-

---

१. शुआन-चाङ् में इतना अधिक है: बुद्धदर्शन के कारण वह मोक्षभागीयों का अवरोपण करता है; दूसरों के अनुसार (विभाषा, ७, १५) प्रत्येकबुद्ध के दर्शन से भी (४.१२५ पृ० २५३ देखिये।)

२. =[लौकिकेभ्योऽग्रधर्मेभ्यः] धर्मक्षान्तिरनास्रवा। (व्या० ५४१, १३) 'अनास्रव' सर्वसास्रव से, राग, मोहादि से विनिर्युक्त।

३. कारिका में 'धर्मज्ञानक्षान्ति' के लिये 'धर्मक्षान्ति' है, यथा देवदत्त के लिये 'दत्त' कहते हैं।

४. कामदुःखे = योगी दुःखादि आकारों से केवल कामधातु के उपादानस्कन्धों का आकरण करता है।

५. जब वह ऊर्ध्व धातुओं के दुःख को आलम्बन बनाती है तब यही अनास्रव क्षान्ति अन्वयज्ञान क्षान्ति होती है, ६.२७ बी.-सी.।

६. ६.२६ ए-बी. धर्मज्ञान का लक्षण ६.२६, ७.२ आदि में है—संयुक्त २.५८, विभंग २९३, ३२ सी. धम्मञाण, दुःखे ञाण, दुःख-समुदये ञाणु······। धम्मे ञाण वह प्रज्ञा है जिसका आलम्बन चार भाग और चार फल, तथा चार सत्य हैं जो प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादश

ज्ञान का उत्पाद करती है, जिसका उद्देश्य और फल धर्मज्ञान है (धर्मज्ञानार्थम्), यथा पुष्प देने वाला वृक्ष 'पुष्पवृक्ष' कहलाता है, फल देने वाला वृक्ष 'फलवृक्ष' कहलाता है। यह क्षान्ति नियाम में अवक्रमण है, क्योंकि यह सम्यक्त्व के नियम में अवक्रमण है। सम्यक्त्व क्या है? सूत्र में उक्त है कि यह निर्वाण[1] है।—सम्यक्त्व में नियम (या एकान्तीभाव) को नियाम[2] और नियम[3] भी कहते हैं।

---

अङ्ग में प्रयुक्त होते हैं; 'अन्वयेज्ञाण' 'अन्वयेज्ञान' से भिन्न है। ६.२८,४६, ७.१ में धर्मक्षान्ति और धर्मज्ञान के सम्बन्ध में अवधारित हैं।—अनास्रवक्षान्ति या धर्मक्षान्ति सर्व विचिकित्सा का प्रहाण करती है। अतः जब इसका उत्पाद होता है तब विचिकित्सा प्रहीण नहीं होती। अतः यह ज्ञान नहीं है। क्षान्ति क्लेश का प्रहाण करती है: अतः यह आनन्तर्यमार्ग का प्रहाण मार्ग है (४.८७); यह एक ज्ञान का उत्पाद करती है, जिसमें तत्क्लेश-विसंयोग की प्राप्ति का ग्रहण, दूसरे शब्दों में तत्क्लेश के प्रति संख्यानिरोध (२.५५ डी) का ग्रहण होता है। अतः ज्ञान विमुक्तिमार्ग है।

१. सम्यक्त्वं कतमत्। यत् तत् पर्यादाय राग प्रहाणमिति विस्तरः।—(व्या० ५४१, १९) सम्यक्त्व मिथ्यात्व पर, ३.४४ सी-डी., ४.८० डी।

२. तत्र नियमो नियाम इति। व्याख्या (५४१, २०) तत्र सम्यक्त्वे नियम एकान्तीभवो नियाम इति।

अपितु नियम इति व्याख्या यमः समुपनिविषु चेत्यम्प्रत्ययस्य (३.३.६३) विभाषितत्वात्।

(५४१,२०) तत्र नियमो नियाम एकान्तीभवः।

३. ५ ए. तीन भिन्न शब्द महाव्युत्पत्ति २४५, ९८-१०१.

नियम (अविपरिणाम), नियाम (विनिश्चय),

न्याम (अपक्षाल का अभाव), न्यामावक्रान्ति (अपक्षाल के अभाव में अवक्रमण); वही ४८,४६ नियाम प्रतिपन्न। वोगीहारा (असंगकृत बोधिसत्वभूमि, लाइपजिक १९०८, पृ० ३१) ने नियम-नियाम पर विभाषा के पाँच मतों का संक्षेप दिया है और श्रमपूर्वक पालि और संस्कृत के हवाले एकत्र किये हैं।

नियाम और सम्मतनियामावक्कान्ति, संयुत्त, १,१९६, सुत्त नियम ५५,३७१, संयुत्त ३.२२५, अंगुत्तर १.१२१, कथावस्तु, ५.४,६.१,१३.४ और इं. अनुवाद, पृ० ३८३ की टिप्पणी (नियम पर पृ० २७५, टिप्पणी) भी। नियाम और न्याय-ललित ३१,२०,३४,१०, अष्टसाहस्रिका, ३३,१८,३२२,५,३३१,१०,३३७,५, बोधिसत्वभूमि।

नियाम निकायों पर वसुबन्धु के ग्रन्थ में; (शुआन चाङ्) चीनी इं. का अर्थ उत्पत्ति-प्रहाण नहीं है किन्तु आम (कच्चा) का प्रहाण है, नि आम यह न्याय का विचित्र निर्वचन है; न्याय = नियाम, जो नियम का एक दूसरा रूप है

[१८१] सम्यक्त्व-लाभ के इस एकान्ती भाव का आक्रमण अभिगमन है, उसकी प्राप्ति है। इस प्राप्ति के एक वार उत्पन्न होने पर योगी आर्य- पुद्गल होता है।

---

बी. विभाषा, ३,६ में कई मत—पुनः दर्शन हेयक्लेशों के कारण सत्वों का अपाय में विनिपात होता है वह तीव्र दुःख सहते हैं, जैसे श्राम, अजीर्ण आहार के शरीर में दीर्घकाल तक रहने से बहु प्रकार के तीव्र दुःख उत्पन्न होते हैं। अतएव इन क्लेशों को 'आम' कहते हैं। दर्शनमार्ग जो इनको विनष्ट करता है 'नियाम' (जो आम का प्रहाण करता है) कहलाता है।—पुनः सत्काय दृष्टि अत्यन्त सप्रतिघ (अवस्थान करने वाली) और तोक्ष्ण होती है: उसका दमन अरण्य-पशु के समान कठिन है: अतः उसे 'आम' (अकृतावस्था में अदान्त) कहते हैं। दर्शनमार्ग जो उसका नाश करता है 'नियाम' कहलाता है।—पुनः 'आम' शब्द से यहाँ पृथग्जनत्व प्रज्ञप्त है। सी. शुआन चाङ् (१० ए ४) इस क्षान्ति को 'सम्यक्त्वन्यायावक्रमण' भी कहते हैं, क्योंकि इससे पहली बार सम्यक्त्वन्याय और सम्यक्त्व नियम में अवक्रमण होता है। सूत्र में उक्त है कि सम्यक्त्व निर्वाण है अथवा सम्यक्त्व से मार्ग प्रज्ञप्त हैं। 'आम' का अर्थ क्लेश या कुशलमूल और इन्द्रियों का प्रकृत रूप है। मार्ग अतिक्रामण में समर्थ है और इस लिये 'नि-आम' है। क्योंकि यह निर्वाण-प्राप्ति को विनिश्चित करता है, इसलिये आर्यमार्ग को 'नियम' कहते हैं। इस अवस्था के लाभ को 'अवक्रमण' कहते हैं। परमार्थ : (७ ए. १०) इस क्षान्ति को 'सम्यक्त्वनियमावक्रमण' कहते हैं, क्यों?—इस क्षान्ति के कारण योगी सम्यक्त्व नियम में अवक्रमण करता है।—कौन धर्म सम्यक्त्व है? सूत्र में उक्त है। कि निर्वाण 'सम्यक्त्व' कहलाता है, उसमें 'नियम' अर्थात् एकान्तीभाव, एकान्तरूपेण विनिश्चय। इस नियम का लाभ 'अवक्रमण' कहलाता है।

डी. अभिसमयालंकारालोक—सर्वधर्मनिःस्वभावतासाक्षात्कारि स्फुटतरं ज्ञानमुत्पद्यते। तदा बोधिसत्वः सम्यक्त्वन्याभावक्रान्तियो दर्शनमार्गं प्रतिलभते। अत्र च रागप्रतिघमानाविद्या-विचिकित्साः सत्कायान्तग्राह-मिथ्यादृष्टिदृष्टिपरामर्श-शीलव्रतपरामर्शश्च कामधातौ चतुःसत्य-भेदेन चत्वारिंशद् भवन्ति। एवं रूपधातौ [आरूप्यधातौ च] त एव चतुःदर्शनप्रहातव्य-अष्टप्रकारप्रतिघवर्जिता द्वासप्ततिः। समुदायेन द्वादशोत्तरं क्लेशशतं दर्शनप्रहेयं प्रहीयते सत्या लोकाभिसमयाद् अतः प्रमुदिताया भूमेः प्रथमक्षणे दर्शनमार्गः।

५. ३ अनुवाद पृ० ६ और २१ देखिये; नीचे पृ० १६०, टि० १

१. २४० बी-सी देखिये, अनुवाद का पृ० १६१।—विभाषा, ३, ६; लौकिकाग् धर्म पृथग्जनत्व के प्रहाण, आर्यत्व के लाभ, मिथ्यात्व के प्रहाण, सम्यक्त्व के लाभ समनन्तर प्रत्यय हैं (२·६२)।

क्योंकि वह सम्यक्त्व नियाम के अवक्रमण में समर्थ हैं, इसलिये उन्हें लौकिकाग्रधर्म कहते हैं।—"पृथग्जनत्व का प्रहाण': जो चित्त चैत्त लौकिकाग्रधर्म हैं वह पृथग्जनत्व को प्रहीण करते हैं। प्रश्न : वह क्या है जो प्रत्युत्पन्न में इस भाव को प्रहीण करता है?......"।

[१८२] अनागत अवस्था में अर्थात् उत्पद्यमान अवस्था में यह शान्ति पृथग्जनत्व का व्यावर्तन करती है [1] क्योंकि यह स्वीकृत है कि अनागतावस्था में इसमें यह सामार्थ्य होता है जो किसी दूसरे धर्म में नहीं होता, यथा अनागतप्रदीप का तम-विनाशन में सामर्थ्य होता है उसी प्रकार अनागत जाति (जातिलक्षण, २,४५ सी-डी) का जन्य-जनन में सामर्थ्य होता है।

अन्य आचार्यों के अनुसार लौकिकाग्रधर्मों से पृथग्जनत्व का व्यावर्तन होता है। यह मत आयुक्त है, क्योंकि यह धर्म पृथग्जनत्व के विरोधी हैं (विरोधित्व)। यह ऐसा है जैसे कोई शत्रु-स्कन्ध पर आरूढ हो उसका घात करे। दूसरों के अनुसार [2] पृथग्जनत्व का व्यावर्तन लौकिकाग्रधर्मों से जिनका आनन्तर्य-मार्ग से साधर्म्य है (६.२८ ए-बी) होता है।

[१८३] २६ ए-बी उससे एक तदालम्बन धर्मज्ञान [3]।

दुःखेधर्म ज्ञानक्षान्ति के अनन्तर ही एक धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिसका आल-

---

कुछ वादियों का उत्तर है कि यह सामर्थ्य प्रत्युत्पन्न में लौकिकाग्रधर्मों में होती है।—प्रश्न: 'यह धर्म पृथग्जन के धर्म हैं ऐसा होते हुए यह कैसे पृथग्जनत्व का प्रहाण करते हैं?—उत्तर: कोई विरोध नहीं है। यथा हस्तिपक हाथी पर बैठ कर हाथी का दमन करता है, अश्वरोही अश्व का, यथा नाविक नौका का संचालन करता है, सारथि (?) का···यथा काष्ठ-हारक वृक्ष पर चढ़कर वृक्ष काटता है उसी प्रकार लौकिकाग्रधर्म······। अन्यवादियों का कहना है कि दुःखेधर्म ज्ञानक्षान्ति (प्रथम अनास्रव क्षण) प्रत्युत्पन्न में पृथग्जनत्व का प्रहाण करती है, उत्पद्यमान अवस्था में यह क्षान्ति उक्त भाव का प्रहाण करती है; निरुद्ध्यमान अवस्था में यह समाप्त दुःख दर्शन-हेय दस प्रकार के अनुशयों का प्रहाण करती है।···अन्य वादियों का कहना है कि पृथग्जनत्व लौकिकाग्रधर्म और दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के अन्योन्य साहाय्य से प्रहीण होता है: लौकिकाग्रधर्मों का पृथग्जनत्व का विरोध है, किन्तु वह मृदु है और स्वयं प्रहाण में समर्थ नहीं हैं। किन्तु यह धर्म दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति की उत्पत्ति के आवाहक हैं। दोनों के संयुक्त बल से पृथग्जनत्व का त्याग होता है।

विभाषा, ४५, १—कुछ का कहना है कामाप्तदुःखदर्शन-हेय १० अनुशय-ही पृथग्-जनत्व है। यह वात्सीपुत्रीय हैं जिनके अनुसार पृथग्जनत्व कामावचर, क्लिष्टस्वभाव है और···दर्शन हेय-है। दूसरों का कहना है कि पृथग्जनत्व द्रव्यसत् नहीं है। यह दार्ष्टान्तिक हैं (२. अनुवाद, पृ० १६१ देखिये)। इन मतों का प्रतिषेध करने के लिये कि पृथग्जनत्व द्रव्यसत् है······आभिधार्मिक कहते हैं कि यह पृथग्जनत्व कहलाता है, क्योंकि यह पृथक् उत्पन्न होता है, क्योंकि यह पृथग्जन का स्वभाव है।

१. विभाषा का प्रथम मत—ऊपर पृ० १६७, टिप्पणी २.पृ० १६६, टिप्पणी १, पृ० १७५, टिप्पणी १ देखिये।

२. विभाषा का तृतीय मत।

३. [ततोऽ त्रैव धर्मज्ञानम्।] (व्या० ५४२, १०)

म्बन कामगत दुःख है। उसे 'दुःखे धर्मज्ञान' कहते हैं। 'अनास्रव' विशेषण का सर्वत्र अधिकार है। अतः यह ज्ञान अनास्रव है यथा-कामधातु के दुःख के लिए धर्मज्ञानक्षान्ति और एक धर्म-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[१]

[१८४] २६ बी-सी. शेष दुःख के लिये एक अन्वयक्षान्ति और एक अन्वय-ज्ञान। 'दुःखे धर्मज्ञान के समनन्तर एक समतालम्बना अन्वय-ज्ञान-क्षान्ति उत्पन्न होती है, जिसका आलम्बन रूपारूप्यावचर दुःख होता है। इसे 'दुःखेऽन्वयज्ञानक्षान्ति' कहते हैं।—इस क्षान्ति से एक अन्वय-ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे 'दुःखेऽन्वयज्ञान' कहते हैं।

धर्मज्ञान नाम का व्यवहार इसलिये है, क्योंकि प्रथमतः दुःखादि धर्मत्व का ज्ञान योगी को होता है। 'अन्वय-ज्ञान' नाम का व्यवहार इसलिये है, क्योंकि धर्मज्ञान इसका हेतु है, (तदन्वय=तद्धेतुक) क्योंकि यथा धर्मज्ञान से सत्य अनुगत होता है तथैव इससे इष्ट सत्य अनुगत, परिज्ञान होता है। (तथैवानुगमात्, व्या० ५४२, १४); यथा दुःख-सत्य के लिये चारधर्म दो क्षान्ति और दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं,

२६ डी. तथैव अन्य तीन सत्यों के लिये।[२] [११ ए]

जब 'दुःखेऽन्वयज्ञान' के समनन्तर कामावचरसमुदय को आलम्बन बनाने वाली धर्मज्ञान क्षान्ति उत्पन्न होती है तब इस क्षान्ति से 'समुदये धर्मज्ञान' की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार समनन्तरोत्पत्ति-क्रम से शेष समुदय के आलम्बन बनाने वाली एक अन्वय-ज्ञान-क्षान्ति और समुदयेऽन्वयज्ञान उत्पन्न होते हैं।

कामावचर-दुःख निरोध को आलम्वन बनाने वाली एक धर्मज्ञान-क्षान्ति और निरोध धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। शेष निरोध को आलम्बन बनाने वाली एक अन्वय-ज्ञान-क्षान्ति और निरोधेन्द्रन्वयज्ञान उत्पन्न होते हैं।

[१८५] कामावचर दुःख के प्रतिपक्ष मार्ग को आलम्बन बनाने वाली एक धर्मज्ञान क्षान्तिऔर 'मार्गधर्मज्ञान' की उत्पत्ति होती है। शेष मार्ग को आलम्बन बनाने वाली एक अन्वयज्ञानक्षान्ति और 'मार्गेऽन्वयज्ञान' उत्पन्न होते हैं।[४]

**कामदुःखे ततोऽत्रैव धर्मज्ञानं तथा पुनः।**
**शेषे दुःखेऽन्वयक्षान्तिज्ञाने सत्यत्रये तथा।।२७।।**

---

१. तद् दुःखे धर्मज्ञानमुच्यत इति। शास्त्रे तेन नाम्ना व्यवहार इति दर्शयति।

२. तथा पुनः। शेषदुःखेऽन्वय क्षान्तिज्ञाने

३. =सत्यत्रये तथा।।

४. एवं षोडशचित्तोऽयं सत्याभिसमयः

२७. ए-बी. इस प्रकार यह सत्याभिसमय १६ चित्त का है।

इस प्रकार, इस क्रम से, सत्याभिसमय १६ चित्त का है।

निकायान्तरियों[1] के अनुसार सत्याभिसमय एक है। इनकी दृष्टि की परीक्षा करनी चाहिये[2]। हमने [यह कहकर कि यह १६ चित्त का है] बिना भेद किये (अभेदेन) अभिसमय का वर्णन किया है। यदि भेद करें तो[3]

---

ऊपर पृष्ठ १२२ में 'अभिसमय' शब्द का व्याख्यान है।

१. व्याख्या (५४३, १६) के अनुसार धर्मगुप्तप्रभृति,—फुकुआङ् के अनुसार महासांघिक प्रभृति।—विभाषा, १०३, ८; ऐसे वादी हैं जिनके अनुसार चतुः सत्य का अभिसमय युगपत् होता है। यह विभज्यवादी हैं जो इस सूत्र का प्रमाण देते हैं: "भगवत् कहते हैं: यदि दुःख सत्य के विषय में कोई विचिकित्सा, कोई कांक्षा नहीं है तो अन्य तीन सत्यों के विषय में और विचिकित्सा तथा कांक्षा नहीं होती।" क्योंकि चार सत्यों के विषय में एक ही काल में विचिकित्सा और कांक्षा अन्तर्हित होती हैं इसलिए अभिसमय युगपत् होती है, क्रमशः नहीं।—इस मत का प्रतिषेध करने के लिए यह प्रदर्शित करने के लिए कि अभिसमय आनुपूर्विक होता है, युगपत् नहीं कहते हैं कि यदि अन्यथा होता तो यह इस सूत्र के विरुद्ध होता जिसमें उक्त है कि "अनाथपिडक भगवत् के समीप गये, उनका अभिवादन किया और कहा: भगवत्! योगाचार चार सत्यों का अभिसमय क्रमेण करता है जैसे क्रमेण······अवरोहण करते हैं। (पृ०१८८ देखिये) थेरवादी अन्धक, सब्बत्थवादी, सम्मितीय और भद्रयानिक के विरुद्ध अनुपूर्वाभिसमय का प्रतिषेध करता है, कथावत्थु, १.४ और २.६ (पृ० ३८२ से तुलना कीजिये); पूर्वाचार्यों का मत देखिये, विसुद्धि, पृ० ६६० आदि और उल्लिखित सूत्र जिनमें संयुक्त ५.४३६ है: यो दुःखं पस्सति दुःखं समुदयं पिसो पस्सति······। बुद्धघोष इसका व्याख्यान वसुबन्धु की तरह करते हैं: इति······एकं सच्चमारम्मणं कत्वा सेसेसुपि किच्चनिप्फत्तिवसेनापि वुत्तं।

२. एक; शुआन चाङ्: युगपत्; परमार्थ: निकायान्तरीय के अनुसार सत्याभिसमय चित्तमात्र है।

३. (kiokuga saeki) यहाँ विभाषा, ७८, १२ उद्धृत करते हैं—सत्याभिसमय का क्रम बताते हैं। प्रश्न: सत्याभिसमय में (सत्यों के) स्वलक्षण या सामान्य लक्षणों का दर्शन होता है?—उत्तर: सामान्य लक्षणों का दर्शन होता है।—प्रश्न: यदि ऐसा है तो सत्याभिसमय युगपत् क्यों नहीं होता? (यदि दुःख का दर्शन करते हुए कोई उसके एक सामान्य लक्षण को देखता है उदाहरण के लिए, यदि वह हेतु प्रत्ययवश उत्पाद के लक्षण को देखता है, तो वह दुःख सत्य के साथ समुदय सत्य को भी देखता है)। उत्तर: यद्यपि सत्याभिसमय में सामान्य लक्षणों का दर्शन होता है तथापि सब सामान्य लक्षणों का नहीं, केवल उसके एक प्रदेश का अभिसमय होता है···। कामधातु के दर्शन और ऊर्ध्व धातुओं के दर्शन में क्या भेद

[१८६] २७. बी. यह त्रिविध है : दर्शन, आलम्बन, कार्य ।[1]

दर्शनाभिसमय अनास्रव प्रज्ञा से सत्यों का अभिसमय है। आलम्बनाभिसमय इस प्रज्ञा से और तत्संप्रयुक्त धर्मों से भी सत्यों का अभिसमय है।[2] कार्याभिसमय इस प्रज्ञा से,-तत्संप्रयुक्त धर्मों से और शील-जात्यादि (२.४५ सी.) विप्रयुक्त धर्मों से भी जो उसके सहगत हैं, सत्यों का अभिसमय है[3] जब योगी दुःख दर्शन करता है तब [१८७] उस दुःख का त्रिविध अभिसमय होता है; तृतीय अभिसमय अन्य सत्यों का होता है क्योंकि समुदय प्रहीण है, निरोध साक्षात्कृत है—और मार्ग भावित[4] है। यदि इस पर एकाभिसमयवादी कहता है कि वह दर्शनाधिसमय की बात करता है तो उसका वाद आकार-भेद से (७.१० सी०) अयुक्त है।

दुःखाकार से समुदयादि का दर्शन युक्त नहीं है।—किन्तु वह कहेगा कि अनात्माकारेण सब सत्यों का दर्शन होता है।—यदि ऐसा होता तो सत्यों का दुःखादितः दर्शन न होता और यह पक्ष सूत्र के विरोध में है, सूत्र में उक्त है कि "जब आर्यश्रावक दुःख का दुःखतः मनस्कार या समुदयतः या निरोध का निरोधतः या मार्ग का मार्गतः करता है

---

है ?—वही जो स्थूल और सूक्ष्म में है दो ऊर्ध्व धातुओं के सत्य का दर्शन युगपत् क्यों होता है ?—क्योंकि दोनों का गोचर समाधि है।—यदि सत्याभिसमय में प्रवेश करने वाले पुद्गल ने अभी दो ऊर्ध्व धातुओं के दुःख का अभिसमय नहीं किया है तो यह कैसे कह सकते हैं कि वह इनका अभिसमय करता है ?—अभिसमय दो प्रकार का है : १. ग्राह्य (?) भिसमय, २. परिशुद्धि (?) अभिसमय। जो पुद्गल अभिसमय में प्रविष्ट होता है वह कामावचर दुःख के द्विविध अभिसमय से समन्वागत होता है; वह ऊर्ध्व धातुओं के दुःख के प्रति केवल द्वितीय से समन्वागत होता है।

१. [त्रिधा दृगालम्बनकार्याख्यः]

२. यथा प्रज्ञा से संप्रयुक्त वेदना सत्यों को आलम्बन बनाती है (आलम्बते), उनका ग्रहण करती है (गृह्णाति)।

३. सत्याभिसमय का कार्य दुःख-परिज्ञान, समुदय-प्रहाण आदि है। यह कार्य चित्त विप्रयुक्तधर्मों के कारण भी होता है (भवति) यथा सत्यों का दर्शन करने वाले योगी के अनास्रव संवर से (४.१३ सी०)।

४. यह प्रज्ञा से दृष्ट है; यह इस प्रज्ञा से सहगत वेदना का आलम्बन है; कार्य (दुःख-परिज्ञान) सब विप्रयुक्त धर्मों से प्राप्त होता है।

५. वास्तव में दुःख दर्शन से दुःख दर्शन-हेय क्लेशों का प्रहाण होता है, निरोध प्राप्ति के उत्पाद से निरोध का साक्षात्करण होता है और यह उत्पाद 'मार्ग की भावना' से होता है।

(मनसि करोति) तब उसके लिए इस अनास्रव-मनसिकार से संप्रयुक्त धर्म-विचय होता है।"[1]

(किन्तु यदि वह कहे कि सूत्र का यह वाक्य अभिसमय से पूर्व की प्रयोगावस्था के सम्बन्ध में है तो यह अयुक्त है क्योंकि प्रयोगावस्था में अनास्रव-मनसिकार नहीं होता) किन्तु यदि वह कहे कि यह वाक्य भावना-मार्ग के सम्बन्ध में है, उस अवस्था के सम्बन्ध में है जिसमें योगी पूर्व दृष्ट सत्यों की भावना करता है, उनका ध्यान करता है तो यह अयुक्त है क्योंकि यथा सत्यों का दर्शन होता है वैसे ही पश्चात् भावना होती है। यदि एकाभिसमयवादी का कहना है कि अभिसमय एक है क्योंकि जो योगी एक सत्य का दर्शन करता है वह शेष में वशित्व का लाभ करता है, अर्थात् दुःख सत्य के दर्शन से प्रयोग के बिना ही (अन्तरेण प्रयोगम्) योगी समुदयादि दर्शन के सम्मुखीभाव की शक्ति का लाभ करता है [१८८] तो यह अदोष है। यह सदा विचार्य है कि बीच में व्युत्थान होता है या[2] नहीं किन्तु यदि एकाभिसमयवादी अभिसमय के एकत्व की प्रतिज्ञा करता है क्योंकि दुःख के परिज्ञात होने पर (परिज्ञाते) समुदय प्रहीण होता है, निरोध साक्षात्कृत होता है, मार्ग भावित होता है तो यह अदोष है क्योंकि हमने कहा है कि एक सत्य के दर्शन पर शेष का कार्याभिसमय होता है[3]।

दोष—यदि इस मत को आप अदोष मानते हैं तो आपका उस सूत्र से विरोध है जिसमें सत्यों का क्रमेण अभिसमय कहा है।—दर्शनाभिसमय के प्रति सूत्र में सत्यों का क्रमेण अभिसमय कहा है : "गृहपति, अभिसमय एक नहीं है किन्तु अनुपूर्व है···"इत्यादि, तीन सदृष्टान्त सूत्र[4]।

---

१. आर्यश्रावकस्य दुःखं वा दुःखतो मनसि कुर्वतः···अनास्रवेण मनसिकारेण संप्रयुक्तो धर्माणां विचयः (संयुक्त, १५, १८) (व्या० ५४३, २०)।

२. अन्तरा तु व्युत्थानमस्ति नास्तीति विचार्यस्यादिति। शेषेषु वशित्वलाभादन्तरा-व्युत्थानं प्राप्नोतीति दोषः स्यादित्यभिप्रायः। उभयथापि विचार्यमाणे बहूनां सूत्राणां विरोधः। यथा च तेषां विरोधस्तथागमेषु श्रोतव्यः (व्या० ५४३, २०)।

महासांघिक प्रभृति मानते हैं कि अभिसमयावस्था में व्युत्थान होता है।

विभाषा के बहुत-से आचार्य इसका प्रतिषेध करते हैं।

३. ऊपर पृ० १८६ टि० ३ : बुद्धघोष, १८८, टि० २ में उद्धृत।

४. व्याख्या (५४३, २६) तीन सदृष्टान्त सूत्रों को उद्धृत करती है। यह संयुक्तागम में पठित है : १. कूटागारसूत्र (संयुक्त, ५·४५२), हमारे संस्करण में मूलपद, भित्ति, तलक और छेदन में भेद किया है; २. चतुष्क डेवर सोपानसूत्र; ३. चतुष्पादिका निश्रेणीसूत्र। प्रश्न कर्त्ता : अनाथपिण्डद एक भिक्षु, आनन्द। सदृष्टान्तानि त्रीणि सूत्राणीति संयुक्तकागमे पठ्यन्ते। कथम्। अनाथपिण्डद आह। किं नु भदन्त चतुर्णाम् आर्यसत्यानाम् अनुपूर्वाभिसमयः।

[१८६] किन्तु वह कहेगा कि सूत्र में उक्त है कि "जो कोई दुःख के विषय में निष्कांक्ष और निर्विचिकित्स है वह बुद्ध में भी निष्कांक्ष निर्विचिकित्स है।" अतः अभिसमय अनुपूर्व नहीं है किन्तु एक है[1]।

आक्षेपयुक्त नहीं है क्योंकि इस सूत्र वचन का अभिप्राय यह है कि जब दुःख परिज्ञात होता है तब बुद्ध के विषय में कांक्षा और विचिकित्सा का समुदाचार नहीं होता और उनका अवश्य प्रहाण होता है (अवश्यं प्रहाण) हमने देखा है कि अभिसमय षोडश चित्त है।

२७. डी. इसकी वही भूमि है जो अग्रधर्मों की है[2]।

---

आहोस्विद् एकाभिसमय इति। चतुर्णां गृहपते आर्यसत्यानाम् अनुपूर्वाभिसमयो न त्वेकाभिसमयः। यो गृहपते एवं वदेद् अहं दुःखम् आर्य-सत्यम् अनभिसमेत्य समुदयम् आर्यसत्यम् अभिसमेष्यामीति विस्तरेण यावद् दुःखनिरोधगामिनीं प्रतिपदम् आर्य-सत्यम् अभिसमेष्यामीति, मैवं वोच इति स्याद् वचनीयम्। तत् कस्य हेतोः। अस्थानम् अनवकाशो यद् दुःखम् आर्यसत्यम् अनभिसमेत्य समुदयम् आर्यसत्यम् अभिसमेष्यति···तद्यथा गृहपते य एवं वदेद् अहं कूटागारस्य वा कूटागारशालाया वा मूलपदम् अप्रतिष्ठाप्य भित्तिं प्रतिष्ठापयिष्यामि। भित्तिम् अप्रतिष्ठाप्य तलकं प्रतिष्ठापयिष्यामि। तलकम् अप्रतिष्ठाप्य छदनं प्रतिष्ठापयिष्यामीति मैवं वोच इति स्याद् वचनीयम्। तत् कस्य हेतोः···(संयुक्त, १६,१४) अथान्यतरो भिक्षुराह। किं नु भदन्त चतुर्णाम् आर्यसत्यानाम् अनुपूर्वाभिसमयः। आहोस्विदेकाभिसमय इति। भगवानाह। चतुर्णाम् आर्यसत्यानामिति पूर्ववद् यावत् तद्यथा भिक्षो य एवं वदेद् अहं चतुःकडेवरस्य सोपानस्य प्रथमसोपानकडेवरम् अनभिरुह्य द्वितीयम् अभिरोक्ष्यामि। द्वितीयमनभिरुह्य······मैवं वोच इति स्याद्वचनीयम्। तत्कस्य हेतो। अस्थानमनवकाशो यच्चतुःकडेवरस्य सोपानस्य प्रथम सोपानकडेवरमनभिरुह्य द्वितीयकडेवरमभिरोक्ष्यति······। एवमिहापि नेदं स्थानं विद्यते यद्दुःखसत्यमदृष्ट्वा समुदयसत्यं द्रक्ष्यति·····तथा आयनिन्द आह। किं नु भदन्त चतुर्णाम् आर्यसत्यानाम् अनुपूर्वाभिसमयः।······पूर्वसूत्रवद् यावत्। तद्यथानन्द य एवं वदेदहं चतुष्पादिकाया निःश्रेण्याः प्रथमं निःश्रेणीपादम् अनभिरुह्य प्रासादमभिरोक्ष्यामीति······इन सूत्रों पर संघभद्र 'निर्वाण' (१६२४) पृ० २४ में।

१. विभाषा, १०३,८—यो दुःखे निकांक्षो निर्विचिकित्सो बुद्धेऽपि सइति।

२. अशैक्षा धर्मा बुद्धः (४.३२, अनुवाद, पृ० ७८) त एवाशैक्षा धर्मा मार्गः। तस्माद् दुःखाभिसमयान्मार्गोऽपि तेनाभिसमितो यस्माद् दुःखवद् बुद्धेऽपि निष्कांक्षो निर्विचिकित्स इति। (व्या० ५४४,३०) कांक्षा=विचिकित्सा या कांक्षा=निश्चयाभिलाष और विचिकित्सा-विमति।

३. [सोऽग्रधर्मैकभूमिकः]

महायान के अनुसार ध्यानान्तर को वर्जित कर पाँच भूमि।

इन १६ चित्तों की वही भूमि है जो अग्रधर्मों की है। हम पूर्व कह चुके हैं यह षड्भूमिक हैं (२० सी.-डी.)

क्षान्ति और ज्ञान अवश्य क्यों होते हैं ?

[१९०] क्षान्तिज्ञानान्यानन्तर्यमुक्तिमार्गा यथाक्रमम्
अदृष्टदृष्टेर्दृङ्मार्गस्तत्र पंचदशक्षणाः ॥२॥

२८. ए.-बी. क्षान्ति और ज्ञान यथाक्रम आनन्तर्यमार्ग और विमुक्ति मार्ग हैं[१]।

क्लेश-प्राप्ति के विच्छेद में क्षान्ति को अन्तरित करना शक्य नहीं है (अन्तरयितुमशक्यत्वात्, व्या० ५४५, ९)। अतः यह पाणिनि, ३·३, १७१.२ के अनुसार आनन्तर्यमार्ग है। (१३ ए.)।

क्लेश-प्राप्ति से इस प्रकार विमुक्त पुद्गलों में क्लेश-विसंयोग (१·६ ए. २. ५५ डी) की प्राप्ति के साथ ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः यह विमुक्तिमार्ग हैं[२]। अतएव क्षान्ति और ज्ञान दोनों हैं यथा दो में से एक चौर-निष्कासन दूसरा कपाट को बन्द करता है[३]।

---

१. (क्षान्तिज्ञानान्यानन्तर्यमुक्तिमार्गा यथाक्रमम् ॥१)

२. अनुवाद पृ० २७६ और नीचे ६.६५ देखिये।

सुत्तनिपात, २२६ में एक आनन्तरिक समाधि है। अंगुत्तर, में एक 'दण्ड आनन्तरिक' है जो क्लेशों का विनाश करता है। विसुद्धिमग्ग, ६७५ में इसका व्याख्यान है : "क्योंकि लोकोत्तर कुशल धर्मों का अनन्तर विपाक होता है (अनन्तर विपाक)।" अभिसमयालंकारालोक के अनुसार दर्शनमार्ग प्रमुदिता भूमि (पृ० १८१, टि० डो०) के प्रथम क्षण में समाप्त होता है। पश्चात् भावनामार्ग है जो वज्रोपमाख्य आनन्तर्य में समाप्त होता है : ततोऽन्ये द्वितीयादयः क्षणा यावद् वज्रोपमाख्य आनन्तर्यमार्गो यस्माद् अनन्तरं समन्तप्रभा बुद्धभूमिरवाप्यते······

२. विमुक्तिमार्गा इति विमुक्तौ मार्गा विमुक्तिमार्गाः। क्लेशविमुक्तावस्था मार्गा इत्यर्थः।

विभाषा, ९०,११ : आनन्तर्य मार्ग क्लेशों का छेद करता है क्योंकि यह क्लेश-प्राप्ति का अतिक्रम इस प्रकार करता है जिसमें उसका एक और प्रवर्तन न हो। यह निरोध का भी सम्मुखीभाव करता है क्योंकि यह विसंयोग-प्राप्ति को इस प्रकार आकृष्ट करता है कि उसका प्रादुर्भाव होता है। विमुक्तिमार्ग निरोध को सम्मुख करता है क्योंकि यह विसंयोग प्राप्ति के साथ होकर उत्पन्न होता है।

३. यथा द्वाभ्याम् एकेन चौरो निष्कास्यते द्वितीयेन तदप्रवेशाय कपाटः विधीयते। एवमानन्तर्यमार्गेण क्लेशचौरो निष्कास्यते तत्प्राप्तिछेदत विमुक्तिमार्गेण च विसंयोग प्राप्तिकपाट विधीयते वर्तमानीकरणतः।—प्रथम मार्ग से क्लेश-प्राप्ति का समुच्छेद, चौर-निष्कासन, द्वितीय से विसंयोग-प्राप्ति, कपाट-विधान।—प्राप्तियों के लाभ और त्याग पर, २.४०।

यदि द्वितीय क्षान्ति या द्वितीय आनन्तर्यमार्ग (दुःखेऽन्वयज्ञान-क्षान्ति) ही के साथ विसंयोग-प्राप्ति उत्पन्न हो तो प्रहीण—विचिकित्स (७·१)।

[१६१] ज्ञान प्रथम आनन्तर्य-मार्ग के आलम्बन में, अर्थात् कामावचर दुःख में उत्पन्न न हो।

किन्तु यदि क्लेशों का प्रहाण क्षान्तियों (५·६) से होता है तो क्या इस शास्त्र-पाठ से विरोध नहीं है कि "६ संयोजन निकाय हैं"?[1] नहीं, क्योंकि क्षान्ति ज्ञान के परिवार हैं, शास्त्र क्षान्ति-कृत को ज्ञान कृत कहता है यथा राज-परिवार का राज-कृत ऐसा व्यपदेश होता है।[2] क्या इस कारण कि यह सब सत्य दर्शन करते हैं—अभिसमय के १६ क्षण दर्शन मार्ग हैं?

२८ सी-डी० क्योंकि इनका उत्पाद उसमें होता है जो अदृष्ट का दर्शन करता है इसलिए १५ क्षण दर्शन-मार्ग है।[3]

---

१. आठ संयोजन निकाय आठ ज्ञानों से प्रहातव्य हैं (दुःखे धर्मज्ञान, दुःखेऽन्वयज्ञान, समुदये धर्मज्ञान·········मार्गेऽन्वयज्ञान) और ६ वां भावना प्रहातव्य है।

सूत्र में भी कहा है : इति हि भिक्षवो ज्ञानवध्याः क्लेशाः। विद्युदपमं चित्तम्।

२. भावनाप्रहातव्य संयोजन निकाय ज्ञान से प्रहीण होता है : दर्शनमार्ग के अनन्तर जो मार्ग होता है उसमें क्षान्तियों के लिए स्थान नहीं है। विमुक्ति मार्ग के समान आनन्तर्य-मार्ग वहाँ ज्ञान है।

हम अब ५.६, पृ० १३-१४ और ११२ को समझ सकते हैं। दर्शनमार्ग में क्लेश क्षान्ति-वध्य हैं; अनास्रव भावनामार्ग में जो केवल सत्यों का पुनःदर्शन है और जहाँ क्षान्तियों को स्थान नहीं है क्लेशज्ञान वध्य हैं। ८८ अनुशय-दर्शनमार्ग से ही आत्यन्तिक रूप से प्रहीण होते हैं और इसलिए वह क्षान्ति वध्य हैं। अन्य दस अनास्रव (आर्य के लिए) या सास्रव (पृथग्जन के लिए) भावनामार्ग से प्रहीण होते हैं। दोनों अवस्थाओं में वह ज्ञान-वध्य है (७.६)।

[सदा अनास्रव भावनामार्ग से ही भवाग्र के अनुशय-प्रहीण होते हैं]

३. अदृष्टदृष्टेर्दृङ्मार्गस्तत्र पंचदशक्षणाः ॥

अत्थसालिनी, ४३ : "स्रोत आपन्न का मार्ग 'दस्सन' कहलाता है क्योंकि यह प्रथम निर्वाण-दर्शन है······। अनन्तर के मार्ग किञ्चित् अदृष्ट पूर्व को नहीं देखते (अदिट्ठ-पुब्बं किञ्चि न पस्सति) और इसलिए भावना कहलाते हैं।"

[१९२] 'दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति' से लेकर 'मार्गेऽन्वयज्ञानक्षान्ति' पर्यन्त १५ क्षण दर्शनमार्ग हैं—क्यों ?— क्योंकि अदृष्ट दर्शन प्रवर्तित रहता है।[1]

१६वें क्षण में [१३ बी.] दर्शन के लिए ऐसा कुछ नहीं है जो पूर्व-दृष्ट न हो। यह क्षण यथादृष्ट सत्य की भावना का है[2] और इसलिए यह भावना मार्ग में संगृहीत है।

किन्तु यह कहा जायगा कि १६वाँ १५वें क्षण को अर्थात् अदृष्टमार्गेऽन्वयज्ञान-क्षान्ति को देखता है[3]।—निस्सन्देह। किन्तु [मार्ग] सत्य के प्रति चिन्ता है कि वह दृष्ट है या नहीं, [उक्त सत्य के] क्षण के प्रति चिन्ता नहीं है कि क्षण दृष्ट है या नहीं, एक क्षण के अदृष्ट होने से सत्यदर्शन अदृष्ट नहीं होता, यथा एक लुंग के न काटे जाने से केदार अलून नहीं होता[4]।

पुनः १६ क्षण, मार्गेऽन्यज्ञान, भावना मार्ग में संगृहीत है :

ए. क्योंकि यह एक फल एक श्रामरायफल (६·५१) है; बी. क्योंकि इस क्षण में [दर्शनमार्ग के विपक्ष में, ७·२१] अष्टज्ञान और षोडश आकार भावित होते हैं (भाविताष्टज्ञान षोडशाकारत्वात्, व्या० ५४६, ३०); सी. क्योंकि इसमें प्रतिपन्न के मार्ग की विहानि होती है; डी. क्योंकि प्रावन्धिक है[5]।

---

१. प्रथमज्ञान प्रथमक्षान्ति द्वारा पूर्वदृष्ट कामावचरदुःख का दर्शन करता है किन्तु यह 'अदृष्ट दृष्टि' पुद्गल में होता है क्योंकि समुदयादि के प्रति अदृष्टदर्शन प्रवृत्त रहता है (प्रवर्तते)।

२. तिब्बती के अनुसार : यथादृष्ट भावनात्—परमार्थः "यथा वह पूर्व दृष्ट का पुनः अभ्यास करता है······"। शुआन् चाङ् : यथा "दृष्टाभ्यास के सदृश है······"।

३. १५वाँ क्षण अपने को छोड़कर शेष मार्ग का आलम्बन बनाता है, यह मार्ग में संगृहीत है और १६वें क्षण में इसका दर्शन होता है। अतः यह उसका है जो अपूर्व दृष्ट को देखता है।

४. लौकिक दृष्टान्तमाह। यथा नैकलुंगेन एकशस्यशलाकया बालेण अलूनेन अच्छिन्नेन केदारम् अलूनं भवति। किं तर्हि लूनमेवेत्यर्थः। तथाहि केचित् प्रमादादलूनेऽप्येकलुंगे वक्तारो भवन्ति लूनमस्माभिः केदारमिति, (व्या०, ५४६,२४) लुंग और केदार (नपुंसक) कोष के लिए रोचक शब्द हैं।

५. १७वाँ क्षण केवल १६वें आदि की आवृत्ति है—प्रारब्धिक, प्रकर्षक, ६.१७ बी, ४२ ए.

[१६३] आक्षेप—१६वें क्षण को दर्शनमार्ग में संगृहीत समझना चाहिये क्योंकि इसका अपरिहाणित्व आवश्यक है। और इसकी अपरिहाणि (अपरिहाणिस्तु)। इसलिए है क्योंकि यह दर्शन हेय क्लेशों के प्रहाण का संधारण करता है। यदि आपका मत है कि इस कारण १६वाँ क्षण दर्शन-मार्ग में है तो इससे अतिप्रसंग होता है : १७वाँ क्षण और उसके अनन्तर के क्षण तथा द्वितीय-तृतीयादि दिवस में जो सत्य दर्शन होता है वह भी दर्शनमार्ग होंगे क्योंकि वह दर्शन हेय क्लेशों के प्रहाण का संधारण भी करते हैं। यह कैसे है कि प्रथम सात ज्ञान दर्शन मार्ग हैं और आठवाँ नहीं है? वास्तव में पूर्वक्षान्ति से दृष्ट का दर्शन आठों ज्ञान करते हैं, क्योंकि सत्य-दर्शन असमाप्त है : इसकी समाप्ति १५वें क्षण में होती है। प्रथम सात ज्ञान दर्शनमार्ग के हैं क्योंकि सत्य-दर्शन के असमाप्त होने से वह अन्तराल में (तदन्तराल) उत्पन्न होते हैं, अर्थात् दर्शन मार्ग की अवस्था में या दो क्षान्तियों के अन्तराल में। हमने बतलाया है कि कैसे दर्शनमार्ग और भावनामार्ग की उत्पत्ति होती है। अब पुद्गल के लक्षणों का व्याख्यान करना है जिसमें आर्य-मार्ग की उत्पत्ति होती है। दर्शनमार्गात्मक १५ क्षणों में,

**मृदुतीक्ष्णेन्द्रियौ तेषु श्रद्धाधर्मानुसारिणौ।**
**अहीन भावना हेयो फलाद्यप्रतिपन्नकौ ॥३०॥**

२९ ए-बी० इन क्षणों में मृद्विन्द्रिय और तीक्ष्णेन्द्रिय योगी यथाक्रम श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी होते हैं।[1]

इन क्षणों में स्थित मृद्विन्द्रिय योगी श्रद्धानुसारी कहलाता है; तीक्ष्णेन्द्रिय धर्मानुसारी कहलाता है। इन्द्रियों से श्रद्धेन्द्रियादि यहाँ अभिप्रेत[2] है श्रद्धानुसारी का निर्वचन इस प्रकार है : श्रद्धया अनुसारः=श्रद्धानुसार (व्या० ५४८.९) जिसमें यह अनुसरण है या जिसका शील श्रद्धा से अनुसरण करता है वह 'श्रद्धानुसारी' कहलाता है क्योंकि पूर्व (पूर्वम्[3]) उसने पर-प्रत्यय वश अर्थ का अनुसरण (अर्थानुसेवन) किया है [अर्थात् दुःखादिसत्य की प्रतिपत्ति की है। (६.६३ देखिये)।

---

१. **मृदुतीक्ष्णेन्द्रियौ तेषु श्रद्धाधर्मानुसारिणौ।**

**विभाषा, ५४,५; इसे श्रद्धानुसारी क्यों कहते हैं?......६.६३ ए० सी० देखिये।**

**इन दो आर्यों का अकालमरण नहीं होता, २,४५ ए-बी० अनुवाद, पृ० २२०, ३.८५ सी०।**

**अभिधम्म के लक्षण (सद्धानुसारिन्-सद्धाविमुक्त, धम्मानुसारिन्-दिट्ठिपत्त) यही हैं (यथा पुग्गलपञ्ञत्ति पृ० १५) विसुद्धि मग्ग, ६५९ भी देखिये।**

२. २.२ ए-बी०, पृ० १०९।

३. **अर्थात् पृथग्जन की अवस्था में।**

धर्मानुसारी का निर्वचन भी इसी प्रकार है : धर्मैरनुसार:=धर्मानुसार···।

इस योगी ने पूर्व स्वतः सूत्रादि धर्मों (६·६३ ए-सी) से अर्थानुसरण किया है। इन दो योगियों ने—

२६ सी-डी. यदि भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण नहीं किया है तो यह आद्यफल के प्रतिपन्नक हैं।[1]

आद्यफल अर्थात् फलों में आद्य, स्रोत-आपन्न का फल, जो वास्तव में लाभ-क्रम से पहला फल है।

यदि श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी ने लौकिक मार्ग से (६·४९) भावनाहेय किसी एक क्लेश-प्रकार का पूर्व प्रहाण नहीं किया है और इसलिये वह सकलबन्धन (२, पृ० १८०, टि० २) हैं तो वह दर्शन-मार्ग में प्रवेश करने के समय से प्रथम फल (स्रोत-आपन्न) प्रतिपन्नक होते हैं।

[ १९५ ] **यावत् पंचप्रकारघ्नो द्वितीयोऽर्वाग् नवक्षयात्।**
**कामाद् विरक्ताद ऊर्ध्वं वा तृतीयप्रतिपन्नकौ ॥३०॥**

३० ए., यावत् पंच प्रकार का प्रहाण[2],

यदि उन्होंने लौकिक मार्ग से भावनाहेय कामावचर क्लेश के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ या पंचम प्रकार का प्रहाण किया है तो वह भी उसी प्रकार दर्शन-मार्ग में प्रवेश कर प्रथमफल प्रतिपन्नक होते हैं।

३० बी. द्वितीयफल प्रतिपन्नक नवम प्रकार के प्रहाण से अर्वाक्।[3] किन्तु यदि उन्होंने छठे, सातवें या आठवें प्रकार (भूयोवीतराग) का पूर्व प्रहाण किया है तो वह द्वितीय फल अर्थात् सकृदागामि-फल के प्रतिपन्नक होते हैं।

३० सी-डी. तृतीयफल प्रतिपन्नक, काम से विरक्त या ऊर्ध्व धातुओं से विरक्त[4]।

(१) जो भावना हेय कामावचर क्लेश के नवम प्रकार के प्रहाण से कामधातु के विरक्त हैं, यह तृतीय फल अर्थात् अनागामि-फल के प्रतिपन्नक हैं (२·१६ सी, अनुवाद पृ० १३५, ६, पृ० २३२ देखिये)

**षोडशेतु फलस्थौ तौ यत्र यः प्रतिपन्नकः।**
**श्रद्धाधिमुक्तदृष्ट्याप्तौ मृदुतीक्ष्णेन्द्रियौ तदा ॥३१॥**

---

१. [अहीनभावनाहेयौ फलाद्यप्रतिपन्नकौ ॥]

**लौकिक मार्ग से क्लेश-प्रहारण, सकलबन्धन (२.३६ सी, पृ० १८०; ६.६३ डी) भूयोवीतराग, वीतराग, आनुपूर्वक पर २.१६ सी-डी. अनुवाद, पृ० १३८; पालि के हवाले, पृ० १३५, न० ३।**

२. **यावत् पंचप्रकारघ्नी (व्या० ५४९,१४)।**

३. **द्वितीयेऽर्वाग् नवक्षयात् (व्या०, ५५०, २६)।**

४. **कामाद् विरक्तावूर्ध्वं वा तृतीये प्रतिपन्नकौ ॥ (व्या० ५५०, ३०)**

३१ ए-बी. १६वें क्षण में योगी ३ सकल में फलस्थ हो जाता है जिसका वह प्रतिपन्नक था ।[1]

१६वें क्षण में यह दो योगी श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी नहीं कहलाते, वह प्रति-पन्नक भी नहीं कहलाते । वह 'फलस्थ' हैं : स्रोतआपन्न, सकृदागामिन्, अनागामिन् फल के प्रतिपन्नक होते हैं ।

[१९६] स्रोतआपन्न-फल, सकृदागामि-फल, अनागामि-फल में स्थित होते हैं । अर्हत्व का आदित, अर्थात् अनागामि-फल को प्राप्त किये बिना प्राप्त करना शक्य नहीं है क्योंकि एक ओर भावनाहेय क्लेश दर्शन-मार्ग से प्रहीण नहीं होते (विभाषा, ५१, १०) और दूसरी ओर लौकिक मार्ग से भवाग्र-वैराग्य (नैवसंज्ञाना संज्ञायतन से वैराग्य) पूर्व संभव नहीं है । (ऊपर पृ० १६, १९१) ।

३१ सी-डी. इस क्षण में मृद्विन्द्रिय तीक्ष्णेन्द्रिय योगी यथाक्रम श्रद्धाधिमुक्त दृष्टि-प्राप्त होते हैं ।[2]

मृद्विन्द्रिय योगी जो श्रद्धानुसारी या श्रद्धाधिमुक्त की संज्ञा का लाभ करता है (६·५६, ६३) । तीक्ष्णेन्द्रिय योगी जो धर्मानुसारी था, दृष्टिप्राप्त की संज्ञा का लाभ करता है । जब श्रद्धा का आधिक्य होता है ( मृद्विन्द्रिय योगी ), तब योगी अधिमोक्ष से प्रभावित होता है : अतः उसे श्रद्धाधिमुक्त कहते हैं । जब प्रज्ञा का आधिक्य होता है (तीक्ष्णेन्द्रिय योगी) तो योगी दृष्टि से प्रभावित होता है : इसलिए वह दृष्टिप्राप्त कह-लाता है (६'६१; ५७, ६१, ६३ ए-सी) जिस योगी ने भावनाहेय कामावचर क्लेशों के प्रथम प्रकारों का (एक से पूत करा) प्रहाण किया है, वह १६वें क्षण में किस कारणवश स्रोत-आपन्न फलस्थ होता है और सकृदागामि-फल प्रतिपन्नक नहीं होता ।

[१९७] जिस योगी ने छठे, सातवें, आठवें प्रकार का प्रहाण किया है और जो १६वें क्षण में सकृदागामि-फलस्थ होता है, अनागामि-फल-प्रतिपन्नक नहीं होता, उसके लिए भी यही प्रश्न है और उसके लिए भी जिसने क्लेशों के ऊर्ध्व प्रकारों का प्रहाण किया है और जो १६वें क्षण में अनागामि-फलस्थ होता है, अर्हत् फल-प्रतिपन्नक नहीं ।

---

१. **[प्रतिपन्नको यो यत्र फलस्थस्तत्र षोडशे]**

२. **श्रद्धाधिमुक्तदृष्ट्याप्तौ मृदुतीक्ष्णेन्द्रियौ तदा ॥** अभिधम्म का पाठ **'सद्धाविमुत्त' है—अधिमोक्ष पर कोश,** २.७२,६.७ ६ सी; ८·३० ।

**व्याख्या** (५४९,६) **श्रद्धाप्रज्ञाधिकत्वेनाधिमोक्ष दृष्टिप्रभावितत्वादिति, श्रद्धाधिकत्वे-नाधिमोक्ष प्रभावितत्वाच्छ्रद्धाधिमुक्तः । श्रद्धाधिको मुक्तः श्रद्धाधिकोमुक्त इति कृत्वा । न तु तस्य प्रज्ञा नैवास्ति । तया न तु प्रभावित इति न तन्नाम लभते । प्रज्ञाधिकत्वेन दृष्टि प्रभावितत्वाद् दृष्टिप्राप्तः । न तु तस्य श्रद्धा नास्तीति पूर्ववद् वाच्यम् । अपरे तु पुनर्नैरुक्तं विधिमालम्ब्य व्याचक्षते । श्रद्धाधिपत्येन दर्शनहेयेभ्यो मुक्तः श्रद्धाधिमुक्तः । दृष्ट्याधिपत्येन प्राप्तफलो दृष्टिप्राप्त इति ।**

**फले फलविशिष्टस्य लाभो मार्गस्य नास्त्यतः ।
नाप्रयुक्तो विशेषाय फलस्थः प्रतिपन्नकः ॥ ३२ ॥**

३२. फल-प्राप्ति के काल में योगी ऊर्ध्वफल के मार्ग का लाभ नहीं करता । अतः फलस्थ विशेष के लिए प्रयोग नहीं करता; वह प्रतिपन्नक नहीं है ।[1]

फल-प्राप्ति से इससे विशिष्ट मार्ग (फलविशिष्टो मार्गः फलाद् विशिष्टो मार्गः, ६. ६५ बी-डी) का लाभ नहीं होता, यथा स्रोत-आपन्न फल की प्राप्ति से सकृदागामि-मार्ग का लाभ नहीं होता । ऐसा नियम है । इसी प्रकार अन्य फलों को जानना चाहिए । अतएव फलस्थ जब तक विशेष के लिए, फलान्तर की प्राप्ति के लिए प्रयोग नहीं करता (प्रयुज्यते), अर्थात् जब तक वह उस प्रयोग का अभ्यास नहीं करता जिससे अप्रहीण क्लेशों का प्रहाण होता है और जो फलान्तर की प्राप्ति में हेतु है, तब तक यह फलस्थ इस फलान्तर का प्रतिपन्नक नहीं है ।

जो योगी [पूर्व] [लौकिक मार्ग से] तृतीय ध्यान से वीतराग हो अधरभूमि का निश्रय ले [अर्थात् अनागम्य, प्रथम-द्वितीय ध्यान या ध्यानान्तर का निश्रय लेकर] नियाम (६. २६ ए) या दर्शन-मार्ग में अवक्रान्त होता है, वह अवश्य फल विशिष्ट मार्ग को सन्मुख करता है, अन्यथा वह उससे ऊर्ध्व भूमि में उपपन्न हो (चतुर्थ ध्यान या आरूप्य में) ।

[१९८] सुखेन्द्रिय से समन्वागत ( ८६ ) न हो[2] (विभाषा, ६०, ६; ज्ञान-

---

१. [फलाप्तः फलविशिष्टं मार्गं न लभते यतः ।] अप्रयुक्तो विशेषाय फलस्थोऽप्रतिपन्नकः ॥

२. विभाषा, ६०,६; ज्ञानप्रस्थान, ६,५—यह निश्चय है कि यह योगी दर्शन-मार्ग से तृतीयध्यानभूमिक एक अनास्रव सुखेन्द्रिय का लाभ करता है क्योंकि चतुर्थ ध्यान में या ऊर्ध्व उपपन्न हो वह सुखेन्द्रिय से समन्वागत होता है (इस नियम के अनुसार : सुखेन्द्रियेण चतुर्थध्यानारूप्योपपन्नः पृथग्जनो न समन्वागतः। आर्यस्तु समन्वागतः, (व्या० ५५.६); क्योंकि यदि उसकी सुखेन्द्रिय सास्रव थी (यथा तृतीय ध्यान था जिससे वह दर्शन-मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व समन्वागत था) तो उसने भूमि-संचार से अन्य भूमि में (चतुर्थ ध्यान में) उपपन्न हो उसे त्यक्त किया । यदि वह अब दर्शन-मार्ग से तृतीयध्यानभूमिक अनास्रव सुखेन्द्रिय का लाभ करता है तो वह फल विशिष्ट मार्ग से भावित होता है । यह उस भूमि का अनागामि फल है जिसमें वह दर्शन-मार्ग का अभ्यास करने के लिए प्रविष्ट है ।—यह पक्ष विभाषा में लिखित है (अस्त्येष विभाषायां लिखितः पक्ष, व्या० ५५०, १०), किन्तु यह स्थापना-पक्ष नहीं है (सतु न स्थापना पक्षो लक्ष्यते, व्या० ५५०, १०) : वास्तव में विभाषा में इसके आगे है : 'अपरे आहुः' । यह दूसरे कहते हैं कि एक ध्यान-लाभी जो उस ध्यान से अधर किसी भूमि का निश्रय लेकर नियाम में अवक्रमण करता है, वह १६वें क्षण में तद्-ध्यानभूमिक अनागामि-फल से और सब अधरभूमिक अनागामि-फल से भी समन्वागत होता है ।

प्रस्थान ६, ५) । हमने उन पुद्गलों की व्यवस्था बनायी है जो भूयोवीतराग होकर या कामवीतराग होकर नियाम में अवक्रान्त होते हैं । भूयोवीतराग वह है जो कामाप्त क्लेशों के छठे, सातवें और आठवें प्रकार से विरक्त है । कामवीतराग वह है जो काम से सर्वथा विरक्त है (२.१६ सी, अनुवाद, पृ० १३५) । अब हम उस योगी का विचार करते हैं जो अनुपूर्व हैं । इस स्थान में निम्न वस्तु व्यवस्थापित होनी चाहिए । जैसे कामधातु में ९ प्रकार के क्लेश उपदिष्ट हैं :

**नव प्रकारादोषा हि भूमौ भूमौ तथा गुणाः**
**मृदुमध्याधिमात्राणां पुनर्मृद्वादिभेदतः ॥ ३३ ॥**

३३. ए. बी. उसी प्रकार प्रत्येक भूमि में ९ प्रकार के दोष होते हैं ।[1] प्रत्येक भूमि यावत् नैव सञ्ज्ञानासंज्ञायतन––यथा प्रत्येक भूमि में ९ प्रकार के दोष होते हैं ।

३३ बी. उसी प्रकार ९ प्रकार के गुण होते हैं ।[2]

[ १९९ ] प्रत्येक भूमि में ९ प्रकार के गुण हैं जो उतने ही आनन्तर्य और विमुक्ति मार्ग हैं जो उक्त दोषों के प्रतिपक्ष हैं ।—यह कैसे ?

३३ सी. डी. मृदु आदि का मृदु, मध्य और अधिमात्र प्रकारों में भेद करने से ।[3]

तीन मूल प्रकार हैं—मृदु, मध्य, अधिमात्र । प्रत्येक मृदु, मध्य, अधिमात्र में विभक्त है । इससे ९ प्रकार होते हैं । मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र, मध्य-मृदु, मध्य-मध्य, मध्य-अधिमात्र, अधिमात्र-मृदु, अधिमात्र-मध्य, अधिमात्र-अधिमात्र ।

मृदु-मृदु मार्ग अधिमात्र-अधिमात्र क्लेश के प्रहाण करने में समर्थ हैं । इसी प्रकार यावत् अधिमात्र-अधिमात्र मार्ग मृदु-मृदु क्लेश के प्रहाण में समर्थ हैं । क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि अधिमात्र-अधिमात्र मार्ग आदितः उत्पन्न हो; क्योंकि यह असंभव है कि अधिमात्र-अधिमात्र क्लेश हो जब अधिमात्र-अधिमात्र मार्ग है ।

---

१. **नव प्रकारा दोषा हि भूमौ भूमौ ।**

२. **तथा गुणा : ।**

३. **[मृदुमध्याधिमात्राणां [मृदु] मृद्वादिभेदतः ॥]**

**३३ सी-डी का भाष्य । अभिसमयालंकारालोक में उद्धृत है : भावनामार्गस्येदानीं प्रकारभेदो द्रष्टव्यः । त्रयो हि मूलप्रकारा मृदुमध्याधिमात्रास्तेषां पुनः प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदे क्रियमाणे नव प्रकारा भवन्ति······शुक्लाश्च धर्मा बलवन्तो दुर्बलास्तु कृष्णाः । क्षणिकमृदुकेनाप्यार्यमार्गेणानादिसंसारपरंपराप्यायितानां अधिमात्र क्लेशानाम् उन्मूलनात् । बहुकालसंवर्धितदोषाणां त्रिवृत्कर्षनिष्कर्षणावत् क्षणिकाल्पप्रदीपमहातमोघातवच्चेत्याचार्य वसुबन्धुः ।**

यथा जब एक वस्त्र का प्रक्षालन करते हैं, तो स्थूल धब्बे पहले और सूक्ष्म धब्बे पश्चात् प्रक्षालित होते हैं; यथा महातम का घात अल्पप्रदीप से होता है और अल्पतम के विनाश के लिए महानदीप की आवश्यकता है। यह दृष्टान्त-योग है।[1]

एक क्षणिक, मृदुक आर्यमार्ग भी अधिमात्र क्लेशों के उन्मूलन में समर्थ है जो अनादि संसार में स्वहेतुपरम्परा से आप्यायित होते हैं।

[२००] यह मार्ग मूल सधर्मिणी क्लेश-प्राप्ति का छेद करता है—क्योंकि शुक्ल धर्म बलवान् और इसके विपक्ष कृष्ण धर्म दुर्बल होते हैं।[2]

यथा बहुकाल से संवर्धित वातपित्तादि दोष का एक वर्ष त्रिवृत् (त्रिवृत्कर्ष) मे निष्कर्षण होता है, यथा एक क्षणिक और अल्पप्रदीप से महातम का घात होता है।

अतः भावनाहेय क्लेशों के ६ प्रकार हैं :

**अक्षीणा भावनाहेयः फलस्थः सप्तकृत्परः।**
**त्रिचतुर्विधमुक्तस्तु द्वित्रिजन्मा कुलं कुलः॥ ३४॥**

३४ ए-बी. फलस्थ जिसके भावनाहेय अक्षीण हैं, सप्तकृत् परम है।[3] जिस फलस्थ ने भावनाहेय क्लेशों के एक प्रकार का भी प्रहाण नहीं किया है—वह स्रोत-आपन्न है। क्योंकि उसका अधिक से अधिक सात बार जन्म हो सकता है, इससे आगे नहीं—इसलिए 'सप्तकृत्-परम' है। क्योंकि कोई ऐसा आत्यन्तिक नियम नहीं है कि उसके सात जन्म होते हैं, इस लिए 'परम' कहते हैं। —सूत्र के इस वाक्य सप्तकृत: परमः' का अर्थ इस प्रकार है : "उसका अधिक से अधिक सात बार जन्म होता है।" 'परमः' शब्द अर्थ-प्रकर्षण है।

---

१. एष दृष्टान्तयोगः—अर्थात्, : दृष्टान्तयुक्तिर्दृष्टान्तयोगः दृष्टान्तसकार इत्यपरे। तदेवम् अनयायुक्त्या अनेन वा प्रकारेणान्योऽपि दृष्टान्तो वक्तव्य इति सूचयति। अन्यथा ह्येष दृष्टान्त इत्येव ब्रूयात् (व्या० ५५०, ३३) तिब्बती अनुवाद : एषदृष्टान्तप्रकारः, ह्वेनत्संगः—दोष और गुणों का ऐसा सम्बन्ध है।

२. मिलिन्द, ८३, २९० से तुलना कीजिये।

३. [अक्षीणभावनाहेय फलस्थः सप्तकृत्परः।]

महाव्युत्पत्ति ४६,२;=सप्तकृद्भवपरमः। इस सूत्र के पद 'सप्तकृत्वः परमः' का अनुवाद हमारे भाष्य में है। 'सत्तक्खत्तु परम' = पर अंगुत्तर, १.२३३; ४.३८१; विसुद्धिमग्ग ७०९; नेत्तिकरण, १६८, १८९; नीचे, पृ २०२, टि०४।

सप्तकृत्वः परमं जन्मास्येति सप्तकृत्वो जन्म प्रकर्षेणास्य। नातः परमित्यर्थः (व्या० ५५१, १०)।

स्रोत-आपन्न : नदी (स्रोतस्), निर्वाण-नदी, मार्ग, क्योंकि नदी से जाना होता है (गम्यते)[१]। जो योगी वहाँ प्रविष्ट है, वहाँ पहुँच गया है, उसे 'स्रोत-आपन्न' कहते है।[२]

[ २०१ ] दोष—वहाँ प्रवेश कैसे करते हैं ? क्या आद्य मार्ग के लाभ से ? उस अवस्था में अष्टमक आर्य भी स्रोत-आपन्न होगा। क्या आद्य फल के लाभ से ? उस अवस्था में भूयोवीतराग और कामवीतराग भी स्रोत-आपन्न होंगे जब वह आद्य फल का लाभ करते हैं। किन्तु आपने कहा है कि यह यथाक्रम सकृदागामी और अनागामी हैं। (६. ३० बी-डी)।

हमारा परिहार है कि "आद्यफल के लाभ से योगी स्रोत-आपन्न होता है। किन्तु यहाँ वह फल अभिप्रेत नहीं है जिसका कोई योगी प्रथम लाभ कर सकता है, किन्तु उस फल से आशय है जिसका प्रथम लाभ सर्व प्राप्त करता है।"

किन्तु, किस कारण वही स्रोत-आपन्न कहलाता है, अष्टमक नहीं; वह भी आर्यमार्ग के स्रोत में आपन्न है।

क्योंकि १६वें क्षण में योगी मार्गऽन्वयज्ञान क्षण में वह (१) प्रतिपन्नक मार्ग जो पंचदशक्षण स्वभाव है और फलमार्ग दोनों का लाभ करता है; (२) दर्शन-मार्ग और भावना-मार्ग दोनों का लाभ करता है और [१७ बी] (३) उसका सकल 'स्रोत', अर्थात् सकल मार्ग जिसमें १५वाँ क्षण संगृहीत है, अभिसमय होता है।

वैभाषिकों[४] का कहना है : सांप्रतिक भव से अन्य स्रोत-आपन्न के मनुष्यों में सात उपपत्तिभव, सात अन्तराभव (३ १०) होते हैं। इसी प्रकार उसकी उत्पत्ति देवों में होती है। अर्थात्, २८ भवों में उसकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि सर्वत्र भवसप्तक है (भवसप्तक सामान्यात्)।

१. तेन मार्गेण निर्वाणगमनादित्यर्थः। स्रोतसा हि लोके गम्यते।

२. शुआनचाङ्: 'आपन्न' का अर्थ है जो प्रथम बार लाभ करता है।

परमार्थ : यदि एक पुद्गल-स्रोत को प्राप्त होता है तो उसे 'स्रोत-आपन्न' कहते हैं।

३. अष्टमक—फुकुआङ् दो अर्थ देते हैं : १. स्रोत-आपन्न-फल-प्रतिपन्नक, २. दुःखे धर्मज्ञान क्षान्ति से समन्वागत पुद्गल। महावस्तु, १.१२०, ६; १६५, ८ (अष्टमकादिका पुद्गला यावदर्हत्-पुद्गला)।

'अट्ठमक' पर विवाद, कथावत्थु, ३.५-६।

४. महीशासकों का विचार है कि स्रोत-आपन्न (अधिक से अधिक) सात बार उत्पन्न होता है; Tcheng-cha-luen (नञ्जियो १२७४) १४ जन्म मानते हैं : वह अन्तराभव नहीं मानते। सर्वास्तिवादी और महायान के अनुसार २८ जन्म।

उत्तरापथिकों का मत है कि स्रोत-आपन्न अवश्य बार जन्म लेता है, कथावत्थु १२.५।

[२०२] इसलिए योगी को 'सप्तकृत परम' कहते हैं। यथा—एक भिक्षु 'सप्तस्थान कुशल'[1] कहलाता है यदि वह 'सप्तकों' को जानता है; यथा—एक वृक्ष 'सप्तपर्णी' कहलाता है क्योंकि उसकी पत्रिका-पत्रिका में सात पत्ते होते हैं।[2]

आक्षेप—किन्तु सूत्र में उक्त है कि "यह सर्वथा असम्भव है कि दृष्टि-सम्पन्न[3] पुद्‌गल ८वें भव का उत्पाद करे।"[4] और यह वचन वैभाषिक-नय के विरुद्ध है।

इनका उत्तर है कि नहीं, क्योंकि इस वचन का यह अर्थ होना चाहिए : "वह एक ही गति (एकस्यां गतौ, व्या० ५५२, १७) में ८वें भव का उत्पाद नहीं करता" अथवा यदि इस सूत्र को अक्षरशः लेना है (यथा रुतं वा कल्प्यमाने, व्या० ५५२,१७) "देव और मनुष्यों में सात बार संसरण, संधावन कर वह दुःख का अन्त करता है" तो सूत्र में केवल देव मनुष्य का वचन होने से यह परिणाम होगा कि देव और मनुष्य उपपत्ति के पूर्व अन्तराभव भी न होंगे।

[२०३] किन्तु चोदक कहता है—यदि अर्थ यह है कि "वह एक ही गति में आठवें

---

१. कथं च भिक्षवो भिक्षुः सप्तस्थानकुशलो भवति। रूपं यथाभूतं प्रजानाति रूपसमुदयं रूपनिरोधं रूपनिरोधगामिनीं प्रतिपदं रूपस्यास्वादम् आदीनवं निःसरणं यथाभूतं प्रजानाति—इसी प्रकार अन्य चार स्कन्ध। किन्तु सप्त कुशल गिने जाते हैं, ३५ नहीं।

हम संयुत्त, ३.१६०-१ से तुलना कर सकते हैं यद्यपि बहुत अन्तर है।

२. नीचे ६.५४ डी. देखिये।

३. पुग्गलपञ्ञत्ति, २६।

४. अष्टमं भवम् अभिनिर्वर्तयति; सुत्तनिपात, २३०; खुद्दक पाठ, ६.६ से तुलना कीजिये : ये अरियसच्चानि विभावयन्ति······न ते भवं अट्ठममादियन्ति —कोश ४, अनुवाद, पृ० २०३।

विभाषा, ४६,१६—"स्रोत-आपन्न के केवल सात भव क्यों होते हैं?···न कम, न अधिक। – पार्श्व कहते हैं : यदि कम हो, यदि अधिक हो तो सन्देह उत्पन्न होगा, उसके सात भव होते हैं, यह धर्मलक्षण के विरुद्ध नहीं है और इसमें कोई दोष नहीं है।······पुनः कर्म के बल से उसके सात भव होते हैं; आर्य-मार्ग के बल से वह अष्टम भव का ग्रहण नहीं करता। यथा सत्यपदाशीर्विष से दष्ट पुद्‌गल महाभूतों के बल से सात पद चलता है और विष के बल से ८वाँ पग नहीं रखता। पुनः यदि उसके ८ भव होते तो अपने आठवें भव में वह आर्य-मार्ग से समन्वागत न होता क्योंकि मार्ग की धर्मता ऐसी है कि यह कामधातु के ८वें काय को निश्रय नहीं बन सकता"।

५. संयुक्त, ६, १६ : सप्तकृत्वो देवांश्च मनुष्यांश्च संसृत्य संधाव्य दुःखस्यान्तं करोति ५.४३ सी. पर व्याख्या। नीचे, पृ० १०४-५।

भव का उत्पाद नहीं करता" तो भवाग्रपरम (६.३८)[1] प्रकार का ऊर्ध्व-स्रोतस् एक ही गति में ८ बार कैसे उपपन्न होता है ? वैभाषिक उत्तर देता है कि जो वचन अष्टम भव का प्रतिषेध करता है, उसकी अभिसन्धि केवल कामधातु के अष्टम भव से है।

किन्तु, यहाँ कौन सूत्र और कौन युक्ति ज्ञापक है जिससे इस वचन की अभिसन्धि केवल कामधातु से होती है ? और कौन-सा ज्ञापक है जिससे सिद्ध होता है कि आर्य सात बार देवों में, सात बार मनुष्यों में, न कि दोनों में मिलाकर सात बार संसरण करता है। सूत्र के ये शब्द हैं : 'देवों में और मनुष्यों में सात बार संसरण कर।"

काश्यपियों का पाठ इस प्रकार है : "सात बार देवों में, सात बार मनुष्यों में संसरण कर (सप्तकृत्वो देवान् सप्तकृत्वो मनुष्यान्)।" अतः इसमें अभिनिवेश न होना चाहिए। (नात्राभिनिवेष्टव्यम्, व्या० ५५३,२०)।[2] जो मनुष्य-भाव में स्रोतापन्न होता है, वह निर्वाण के लाभ के लिए मनुष्यों में उत्पन्न होता है। जो देवभाव में स्रोत-आपन्न होता है, वह निर्वाण के लाभ के लिए देवों में उत्पन्न होता है। स्रोत-आपन्न आठवें बार क्यों नहीं उत्पन्न होता ?—क्योंकि उतने काल में, भवों में, सन्तति-परिपाक अवश्य होता है। तज्जातीय मार्ग है। यथा—सप्तपदाशीविष के विष की ऐसी जाति है कि दृष्ट पुरुष सप्त पद जाकर मृत होता है; यथा—चातुर्थक-ज्वर की ऐसी रोग-जाति है कि यह चौथे दिन ही होता है। (पृ० २०२, टि० ४ देखिए)।

[ २०४ ] वह कम काल में निर्वाण का लाभ नहीं करता, क्योंकि सात संयोजन अवशिष्ट हैं; दो अवरभागीय, अर्थात् कामच्छन्द और व्यापाद, ५ ऊर्ध्वभागीय, अर्थात् दो राग (रूप धातु और आरूप्य धातु) औद्धत्य, मान, मोह (५.४३)।

क्योंकि यद्यपि वह [सकृदागामिन् के अनागामिन् के] आर्य-मार्ग को सम्मुख करता है, तथापि वह इस अन्तर में, भवसप्तक में विपच्यमान कर्मों के बल से निर्वाण नहीं प्राप्त करता है। जिस काल में उसे निर्वाण प्राप्त करना है, यदि उस काल में बुद्ध का अनुत्पाद हो तो वह गृह में अर्हत्व की प्राप्ति करता है, किन्तु वह पश्चात् गृह में नहीं रहता : धर्मता

१. अकनिष्ठग प्रकार के ऊर्ध्वस्रोतस् के लिए भी ऐसा ही है, ६.३७ बी.

२. यह भी स्पष्ट है कि वचन की अधिसन्धि कामधातु से है क्योंकि इसमें मनुष्य-गति का उल्लेख है।—भगवत् में आनन्द की अधिभुक्ति और श्रद्धा होने के कारण वह सात बार देवों का अधिराज और सात बार जम्बुद्वीप का राजा होता है—अंगुत्तर, १.२२८, किन्तु वह स्रोत-आपन्न नहीं है।

३. यह हेतु विभाषा में नहीं है (जापानी संपादक की टिप्पणी) और संघभद्र इसे अहेतु मानते हैं। (व्याख्या, ५५३,२६)

के बल से अर्थात् अशैक्ष मार्ग के सामर्थ्य से वह भिक्षु लिंग से युक्त होता है।[1] दूसरों के अनुसार वह बाह्यक भिक्षु के लिंग से युक्त होता है।

स्रोत आपन्न को अविनिपातधर्मा जो अपाय में पतित होने के अभव्य है क्यों कहा है ?[2]

[ २०५ ] क्योंकि वह अपायगामिक कर्म उपचित नहीं करता; क्योंकि अपायगामिक पूर्व उपचित कर्म के विपाक-दान में उसकी सन्तति का वैगुण्य है—इसका कारण यह है कि प्रयोग-शुद्धि और त्रिरत्न के प्रति आशय-शुद्धि के कारण उसकी सन्तति बलवान् कुशल मूलों से अधिवासित है।[3]

जिस पुद्गल ने नियतवेदनीय अपायगामिक कर्म उपचित किये हैं वह क्षान्ति का भी उत्पाद नहीं करता (६.१८) अनास्रवमार्ग का क्या कहना ?[4] इसे एक श्लोक में उप-

---

१. विभाषा में इसका उल्लेख नहीं है (जापानी संपादक की टिप्पणी)—कदाचित् यह आर्य ऋषि होता है (इसिपब्बज्जा)।

वासिलीफ, २४८, एवं तत्पश्चात् मिनयेफ, Recherches, २२०, ने वसुमित्र को ठीक नहीं समझा है : "सर्वास्तिवादियों के अनुसार यह नहीं कह सकते कि फलचतुष्टय का लाभ [केवल] भिक्षु लिंग से होता है······"। अनुवाद इस प्रकार होना चाहिये : "कोई आत्यन्तिक नियम नहीं है कि चार श्रामण्य फल का लाभ एक-दूसरे के अनन्तर हो, जो लौकिक मार्ग से वैराग्य लाभ कर न्याय में अवक्रान्त होता है वह सकृदागामी या अनागामी [स्व-वैराग्य के स्वभाव के अनुसार] होता है।" (यथा ६.३० बी-डी. में व्याख्यान है)। गृही और फल-लाभ पर, कोश ४. अनुवाद पृ० ६६, टि० देखिये; रीज़ डेविड्स, डायलाग्स, ३.५ (बिबिलिओग्राफी)

२. दीघ, ३.१०७ : अयं पुग्गलो यथानुसिट्ठं तथा पटिपज्जमानो तिण्णं संयोजनानं परिक्खया सोतापन्नो भविस्सति अविनिपात-धम्मो नियतो बोधिपरायणोति।—अंगुत्तर, १.२३३ : सो तिण्णं संयोजनानं परिक्खया सत्तक्खत्तु परमो होति। सत्तक्खत्तु परमं देवे च मनु से च सन्धावित्वा संसारित्वा दुक्खस्स अन्तं करोति। अन्यत्र 'दुक्खस्सन्तकरो होति' (पुग्गलपञ्ञत्ति)। व्याख्या (५५४,५) के अनुसार संस्कृत सूत्र में पठित है : स्रोत आपन्नो भवत्यविनिपातधर्मा नियतं संबोधिपरायणः। सप्तकृत्वः परमः सप्तकृत्वो देवांश्च मनुष्यांश्च संधाव्य संसृत्य दुःखस्यान्तं करोति।

३. तद्गामिककर्मानुपचयात् प्रयोगाशयशुद्धितो बलवत् कुशल-मूलाधिवासनादुपचित-विपाकदानवैगुण्याच्च सन्ततेः। चरित-विशुद्धि (प्रयोग); आर्यकान्त शील ( शीलानि ); आशय-विशुद्धि० : अवेत्य प्रसाद (६.७३ बी)।

४. 'क्षान्ति' का अर्थ प्रयोग के विपक्ष में 'चित्त' भी हो सकता है (व्या० ५५४, २०)।

उर्शित करते हैं : "अबुध अल्प पाप भी करके अधोगति को प्राप्त होता है, बुध महापाप भी करके अपाय का त्याग करता है। थोड़ा भी लोहा पिण्ड रूप में जल में डूब जाता है, और वही लोहा प्रभूत भी क्यों न हो, पात्र के रूप में तैरता रहता है।"[1]

सूत्र में इस वाक्य का व्यवहार है : "स्रोत आपन्न दुःख का अन्त करता है (दुःखस्यान्तं करोति)।" 'दुःख के अन्त' से क्या आशय है?—जिस दुःख के परे दुःख नहीं हैं।[2] इसका अर्थ है कि आर्य दुःख को अप्रतिसन्धिक करता है (अप्रतिसन्धिकं दुःखे करोति, व्या० ५५५, २३) अथवा दुःख का अन्त निर्वाण है। निर्वाण को कैसे 'करता है' (करोति)?[3] निर्वाण-प्राप्ति के विवन्ध के [२०६] अपनयन से (तत्प्राप्तविवन्धापनयनात्, व्या० ५५५, २४) : [यह विवन्ध क्लेश प्राप्ति या उपाधि है]। यथा लोक में कहते हैं : "आकाशं कुरु, मण्डपं पातय।"

स्रोत आपन्न से अन्य ऐसे पुद्गल है जो अधिक-से-अधिक एक बार जन्म लेंगे : वह पृथग्जन जिसका सन्तान परिपक्व है (परिपक्वसन्तानः) किन्तु नियत नहीं है : यह पृथग्जन इसी जन्म में या अन्तराभवादि में निर्वाण का लाभ कर सकता है। अतः यहाँ उसके सम्बन्ध में नहीं कहा है।

---

१. व्याख्या की सहायता से श्लोक का उद्धरण हो सकता है :

कृत्वाबुधोऽल्पमपि पापमधः प्रयाति।
कृत्वा बुधो महदपि प्रजहात्यनर्थम्।
लोहं जलेऽल्पमपि मज्जति पिण्डरूपं।
पात्रीकृतं महदपि प्लवते तदेव।। (व्या० ५५४,२५)

४.५० पर टिप्पणी देखिये—ऐसी ही उपमा मिलिन्द में है, अंगुत्तर १.२५० में : एक लवण-खण्ड कोड जल को खारा कर देता है किन्तु गंगा को नहीं करता।

२. यस्मात् परेण दुःखं नास्तीति यस्माद् दुःखात् परेण दुःखं नास्ति भवान्तरसंगृहीतं स दुःखस्यान्तो दुःखावसानमित्यर्थः। (व्या० ५५५,२०)।

३. विभाषा, २८,१८—इसे निर्वाण कहते हैं (१) क्लेशों के निरोध से (क्लेश निरोधात्), (२) अग्नित्रय (राग, द्वेष, मोहाग्नि) के उपरम (निर्वापन) से, (३) लक्षण-त्रय के निरोध से (निःसंदेह ३ संस्कृत लक्षण, कोश—२.४५), (४) मल-विसंयोग (वियोग) से, (५) गति-विसंयोग से, (६) क्योंकि वन=घना जंगल, निस्=निःसरग......, (७) क्योंकि वन=सर्वसंसार-दुःख, निस्=अतिक्रम, निर्वाण सर्वसंसार-दुःख का अतिक्रम। और भी ६ व्याख्यान हैं। निर्वाण शब्द का निर्वचन ई० सेनार्ट, निर्वाण (अलबम कर्न, १९०३, पृ० १०१) : पाणिनि ८.२ ५० गोल्डस्टूकर, २२६,); धम्मपद, २८३, ३४४; विसुद्धिमग्ग, २९३; कम्पेण्डियम, १६८।

जिस फलस्थ ने भावनाहेय क्लेशों का एक प्रकार भी विनष्ट नहीं किया है वह जैसा हमने देखा है 'सप्तकृत्वः परम' है।

३४ सी-डी. तीन या चार प्रकार से विमुक्त, जिसके दो या तीन जन्म और होंगे, कुलं कुल है।[1]

स्रोत आपन्न कुलं कुल होता है : (१) क्लेश प्रहाण की दृष्टि से, कामधातु के क्लेशों के तीन या चार प्रकार के प्रहीण होने से, (२) श्रद्धेन्द्रियादि की दृष्टि से, इन क्लेशों के प्रतिपक्षभूत अनास्रव दृष्टियो के लाभ से; (३) भवों की दृष्टि से,

[ २०७ ] क्योंकि उसके केवल दो या तीन जन्म और हैं।[2]

कारिका में इनमें से केवल दो हेतु का ग्रहण है, क्योंकि स्रोत आपन्न फल-लाभ के पश्चात् क्लेशों का प्रहाण करता है। इससे बिना कहे ही यह सिद्ध होता है कि तत्प्रतिदक्ष अनास्रव इन्द्रियो का उसको लाभ होता है। किन्तु जन्म-संख्या सूचित है : वास्तव में स्रोत आपन्न फल के लाभ के पश्चात् आर्य सकृदागामित्व, अनागामित्व, अर्हत्व के लिए भव्य है और इस कारण उसकी जन्म-संख्या कदाचित् बहु, कदाचित् अल्प होती है।

जो स्रोत आपन्न पाँचवें प्रकार का प्रहाण करता है वह कुलंकुल क्यों नहीं ?—क्योंकि जब पाँचवां प्रकार प्रहीण होता है तो छठें प्रकार का भी अवश्य प्रहाण होता है और इसलिए आर्य सकृदागामी होता है। वास्तव में एक क्लेश-प्रकार उसके फल-लाभ में विघ्न उपस्थित करने में समर्थ नहीं है, यथा एक वीचिक (६.३६ ए-सी.) का होता है : इसका कारण यह है कि यह आर्य अपूर्व फल का लाभ कर धातु का अतिक्रम नहीं करता[3]।

---

१. [प्रकारत्रिचतुर्मुक्तो] द्वित्रिजन्मा कुलंकुलः।

पाठभेद: द्वित्रजन्मा, पाणिनि, २.२.२५, ५.४.७३ के अनुसार, 'कोलंकोल' पर अंगुत्तर, १.२३३, ४.३८१, पुग्गलपञ्ञत्ति, १६ (तिण्णं संयोजनानं परिक्खया कोलं कोलो होति द्वे वा तीणि वा कुलानि संधावित्वा······)। - नेत्तिपकरण, १८६ के अनुसार 'कोलं कोल, दर्शनमार्ग में है।—विसुद्धिमग्ग, ७०६ (अभिसमय और मध्येन्द्रिय)

२. व्याख्या (५५६, १५) के अनुसार : "जो स्रोत आपन्न एक या दो प्रकार से मुक्त है वह क्या होता है ?—कुछ का कहना है कि वह कुलंकुल होता है। कारिका में 'त्रि-चतुर्विधमुक्त' का ग्रहण उदाहरणार्थ है अथवा पांचवें प्रकार के प्रहाण को वर्जित कर परिमाण सूचित करने के लिए है।—दूसरों का कहना है कि वह पञ्च-षट्जन्मा होता है।"

३. 'एक वीचिक' जिसने अष्टम क्लेश-प्रकार को प्रहीण किया है नवम प्रकार का अवश्य प्रहाण नहीं करता जो अनागामि-फल का प्रदान करने वाला है और जिसमें : काम धातु का अतिक्रम (धात्वति-क्रम) होता है। नवां प्रकार फल में विघ्न उपस्थित करने में समर्थ है (फलं विघ्नयितुं समर्थ)। छठें प्रकार का ऐसा नहीं है क्योंकि सकृदागामिन्, स्रोत आपन्न के समान काम धातु का अतिक्रम नहीं करता।

कुलंकुल दो प्रकार का है[1] : (१) देवकुलंकुल, वह आर्य जो देवों के दो या तीन कुलों मे संसरण कर उसी देव-निकाय में या अन्यत्र परिनिर्वृत्त होता है[2]; (२) मनुष्य कुलंकुल, वह

[ २०८ ] आर्य जो मनुष्यों में दो या तीन कुलों में संसरण कर इस द्वीप में या किसी अन्य द्वीप में परिनिर्वृत्त होता है।

यही फलस्थ

**आपचम प्रकारघ्नो द्वितीय प्रतिपन्नक: ।**
**क्षीणषष्ठप्रकारस्तु सकृदागाम्यसौ पुनः ॥३५॥**

३५ ए-बी. जिसने यावत पाँच प्रकार का घात किया है द्वितीय में प्रतिपन्नक है।[3]

जिस फलस्थ ने एक से यावत् पाँच क्लेश-प्रकार का प्रहाण किया है वह द्वितीय फल में प्रतिपन्नक है।

३५. सी-डी. छठें प्रकार का क्षय कर वह सकृदागामी है।[4]

वह द्वितीय फल का लाभ करता है। सकृदागामिन् देवों में उपपन्न हो मनुष्यों में पुनरुपपन्न होता है और उसका कोई उत्तर जन्म नहीं होता इसलिए उसकी यह संज्ञा है।

सूत्र वचन है कि राग-द्वेप-मोह के तनुत्व से सकृदागामिन् होता है क्योंकि केवल तीन मृदु-क्लेश-प्रकार अवशिष्ट रह जाते है। (मृद्वधिमात्र, मृदुमध्य, मृदुमृदु)।[5]

यह सकृदागामि-फल में स्थित,

---

१. इन दो प्रकारों का उल्लेख धर्म संग्रह, ऽऽ १०३ में है।

२. अर्थात् "त्रायस्त्रिंश देवों में सत्य-दर्शन कर, दो या तीन कुलों में संसरण कर (संसृत्य) वह त्रायस्त्रिंशों में या चातुर्महाराज-कायिकादि में परिनिर्वृत्त होता है।"

३. यावत् पंचप्रकारघ्नो द्वितीये प्रतिपन्नक: ।

४. =[क्षीणषष्ठप्रकारस्तु सकृदागाम्यसौ भवेत् ।।]

५. संयुक्त, २६,१ : त्रयाणां संयोजनानां प्रहाणाद् राग-द्वेष-मोहानां च तनुत्वात् सकृदागामी भवति (अंगुत्तर,१.२३३, ४.३८० पुग्गलपञ्ञत्ति, १६ से तुलना कीजिये।— नीचे ६.५३ सी-डी. में उद्धृत सूत्र सत्य दर्शन से सत्कायदृष्टि, शीलव्रत, और विचिकित्सा का प्रहाण; भावनाहेयक्लेशों का तनुत्व।

**क्षीणसप्ताष्टदोषांश एकजन्मैक वीचिकः ।**
**तृतीय प्रतिपन्नश्च सोऽनागामिनवक्षयात् ॥३६॥**

३६ ए-सी. सात या आठ दोषांश का क्षय-कर, एक जन्म; एक वीचिक् है; यह तृतीय फल में प्रतिपन्न भी है ।[1]

[ २०६ ] यह सकृदगामी तीन कारण से एक वीचिक होता है (१) क्योंकि वह सात-आठ क्लेश-प्रकार का प्रहाण करता है; (२) क्योंकि वह तत्प्रतिपक्ष इन्दियों का लाभ करता है; (३) क्योंकि वह एकजन्मा है ।

इसका एक क्लेश-प्रकार नवम प्रकार, क्यों फलान्तर के लाभ में विघ्न उपस्थित करता है ? क्योंकि इस फल के लाभ मे अन्य धातु (रूप धातु) मे समतिक्रम होता है । हमने पूर्व कहा है (४.१०७) कि तीन अवस्था में कर्म विघ्न उपस्थित करते हैं, वह क्षान्ति और अनागामिता और अर्हत्व के लाभ में आवरण है । जैसे कर्म की वैसे क्लेश की योजना है क्योंकि अक्रम से अभिप्राय है जहाँ-जहाँ कर्म के विपाक-फल और क्लेश के निष्यन्द-फल (२.५६) का सम्मुखीभाव होता है ।

'वीचि' का अर्थ अन्तरा, व्यवधान है । —इस आर्य का निर्वाण एक जन्म से व्यवहित है । अथवा इसका अनागामि-फल एक क्लेश-प्रकार से व्यवहित है । इसलिए इसे एक वीचिक कहते हैं । सात या आठ क्लेश-प्रकार का प्रहाण कर वह तृतीय फल में प्रतिपन्नक है । जो पूर्व लौकिक मार्ग से तीन या चार प्रकार से मुक्त है अथवा जिसके सात या आठ [काम के] प्रकार क्लेश-क्षीण हैं और जिसने फल का [यथायोग स्रोत आपन्न या सकृदागामी फल का ] लाभ किया है वह भी उस समय तक कुलंकुल नहीं होता, एक वीचिक नहीं होता जब तक वह फल विशिष्ट मार्ग का सम्मुख नहीं करता (यावत् फलविशिष्टो मार्गो न सम्मुखी कृतः, व्या० ५५७,२३) : जब तक तत्प्रतिपक्ष अनास्रव इन्द्रियों का उसमें अभाव होता है (६.३२ बी-सी.) ।

३६ डी. ९वें प्रकार के क्षय से वह अनागामी होता है ।[2]

यह फलस्थ कामावचर-क्लेश के नवें प्रकार मृदु-मृदु क्लेश के प्रहाण से अनागामी होता है क्योंकि

[ २१० ] उसकी कामधातु में पुनः उपपत्ति नहीं होगी सूत्र वचन है कि पाँच अवर-

---

१. क्षीणसप्ताष्टदोषांश एकजन्मैक वीचिकः। [प्रतिपन्नकस्तृतीये] व्या, ५५७,६:
'एक वीचिक' पालिसूचियों का 'एक बीजिन्' है । यह सकृदागामिन् से अधर है ।— विसुद्धिमग्ग, ७०६ (अभिसमय और तीक्ष्णेन्द्रिय) ।

२.—[सोऽनागामी नवक्षयात् ।।] (व्या ५५७,२८)

भागीय संयोजनों के प्रहाण से अनागामी होता है (५.६५ ए-सी.) अनागामी से प्रहीण सब संयोजनों का एकत्व व्यवस्थापित कर पूरी संख्या होती है (प्रहाण संकलनात्), (५.७० ए-बी.)। उसने यथायोग दो या तीन संयोजन पूर्व प्रहीण किये हैं।[1]

सोऽन्तरोत्पन्नसंस्कारा संस्कारपरिनिर्वृतः।
ऊर्ध्वस्रोताश्च स ध्याने व्यवकीर्णोऽकनिष्ठगः ॥३७॥

३७ ए-सी. इस अनागामी की परिनिर्वृत्ति अन्तरा में, उत्पन्न होकर संस्कार से, संस्कार के विना और ऊर्ध्वस्रोतस् होती है।[2]

अन्तरा परिनिर्वृत्ति का अर्थ है जिसका निर्वाण (परिनिर्वृत्ति) अन्तरा में, अन्तराभव में; (३.१०,१२) होता है। अन्य आख्याओं का भी इसी प्रकार व्याख्यान है: जिसका निर्वाण उत्पन्न होकर (उत्पन्नस्य)[3] संस्कार [ से ][4], संस्कार के विना, होता है। अनागामी पंच प्रकार का है: अन्तरापरिनिर्वायी, उपपद्यपरिनिर्वायी, साभिसंस्कार-परिनिर्वायी, अनभिसंस्कारपरिनिर्वायी, ऊर्ध्व-स्रोतस्।

---

१. जो योगी आनुपूर्विक फल-लाभ करता है वह सत्काय दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श और विचिकित्सा इन तीन संयोजनों का दर्शन-मार्ग से प्रहाण कर स्रोत आपन्न होता है: पश्चात् भावनामार्ग से कामच्छन्द और व्यापाद का प्रहाण कर अनागामी होता है। काम-वीतराग अर्थात् जिसने नियाम में अवक्रान्त हो भावना के लौकिक मार्ग से कामच्छन्द और व्यापाद का प्रहाण किया है वह दर्शन मार्ग से सत्कायदृष्टि शीलव्रतपरामर्श और विचि-कित्सा का प्रहाण कर अनागामी होता है।

२. =[सोऽन्तरोत्पन्नसंस्कारा संस्कारपरिनिर्वृत्तिः। ऊर्ध्वस्रोताश्च]

अंगुत्तर ४.७०,३८० देखिये (संस्कृत संस्करण के लिए व्याख्या, ३.१२ डी० कॉसमालोजी बुद्धीक, १३८) संयुत्त, ५.२०१ पुग्गल पञ्ञत्ति १६-१७, ७० विसुद्धिमग्ग, ६७१, कम्पेण्डियम, ६६,१४६।

'उपपद्यपरिनिर्वायिन्' (=कारिका का उत्पन्न परिनिर्वृत्ति) पालि 'उपहच्च' 'उपपज्ज परिनिब्बायिन्' के अनुरूप है: कथावत्थु, ४.२ कॉसमालोजी बुद्धीक, २३५ देखिये।

३. उत्पन्नस्येति (व्या ५५८,४) यशोमित्र इस पाठ का 'अन्यपदार्थे बहुव्रीहिः' इस नियम के अनुसार विरोध करते हैं। लेखक ने यहाँ ए-कार को छोड़ दिया है (लेख के नैकारोऽत्र विनाशितः, व्या० ५५८,६)

शुद्धपाठ 'उत्पन्नेऽस्य' होना चाहिये। उत्पन्ने जन्मनि परिनिर्वृत्तिरस्येति उत्पन्नपरि-निर्वृत्तिः।—इसके अनन्तर एक लम्बा विवाद है।

४. तिब्बती भाषान्तर में नहीं है; परमार्थ ने दिया है।

पहला वह है जो अन्तराभव में [ रूपधातु में वर्तमान होकर] निर्वाण का लाभ करता है (परिनिर्वाति) ।[1]

[ २११ ] दूसरा उत्पन्न मात्र हो शीघ्र ही[2] सोपधिशेष निर्वाण से निर्वाण प्राप्त करता है क्योंकि वह अभियुक्त [वीर्यबल] है और मार्गवाही है अर्थात् अभिसंस्कार के बिना उसका सम्मुखी भाव होता है। (अभियुक्त बहिमार्गत्वात्, व्या०, ५५८, १८), अन्य आचार्यों के अनुसार वह निरुपधिशेष निर्वाण से प्रथम अनागामी के सदृश परिनिर्वृत्त होता है, (परिनिर्वाति) अर्थात् अर्हत्व प्राप्त कर आयु की परिसमाप्ति के बिना वह परिनिर्वृत्त होता है। यह मत अयुक्त है क्योंकि इस द्वितीय अनागामिन् का आयुरुत्सर्ग में वशित्व नहीं है और इसका कारण यह है कि यह वशित्व केवल उसी को होता है जो प्रान्त प्रान्तकोटिक चतुर्थ ध्यान से (२.१० ए, ७:४१ ए-सी) समन्वागत होता है।[3] इस प्रकार का ध्यान केवल तीन द्वीप के मनुष्यों में होता है किन्तु यह अनागामी रूपधातु में उपपन्न है।[4] तीसरा अनागामी उत्पन्न होकर प्रयोग को प्रतिप्रश्रब्ध किये बिना (अप्रतिप्रश्रब्ध प्रयोग, व्या०, ५५९,५) परिनिर्वृत्त होता है क्योंकि वह वीर्यवान् है; वह अभिसंस्कार के साथ परिनिर्वृत्त होता है क्योंकि मार्गवाही नहीं है।[5]—चतुर्थ अनागामी बिना अभिसंस्कार के परिनिर्वृत्त होता है क्योंकि उसमें अभियोग का अभाव है और मार्गवाही नहीं है।—वैभाषिकों के अनुसार इन दो अनागामियों के यह लक्षण हैं।

---

१. परिनिर्वाति अर्थात् सर्वास्रव का क्षय करता है (सर्वास्रवक्षयं करोति, व्या० ५५८,२२)

२. परमार्थ और शुआनचाङ् "दीर्घ काल में नहीं"=न चिरात्; किन्तु तिब्बती भाषान्तर में="बिना मरे" है।

३. विभाषा, ३२,१७ में 'सोपधिशेषनिर्वाण' का लक्षण यदि अर्हत् की जिसने आस्रवों का सर्वथा क्षय किया है, आयु समाप्त नहीं होती (आयुः पर्यन्तः आयु का पर्यन्त सुरक्षित है) महाभूत और उपादाय रूप की सन्तति का छेद नहीं होता तो चित्त-सन्तति पंचेन्द्रिय समन्वागत काय के कारण प्रवृत्त होगी : क्योंकि उपधि अवशिष्ट होती है, इसलिए जिस संयोजन-क्षय का अर्हत् लाभ करता है जिसे स्पृष्ट करता है, जिसका सम्मुखी भाव करता है उसे 'सोपधिनिर्वाण धातु' कहते हैं। दो निर्वाणों पर ६.६४ ए-बी. (अंगुत्तर, ४.७७), ६.६५ डी०, ६.७८ हमने "निर्वाण" पेरिस, १९२४ (Beauchesne) पृ० १७१ में हवाले दिये हैं।

४. प्रथम अनागामी भी इस वशित्व से समन्वागत नहीं होता किन्तु जिस कर्म-वश अन्तराभव की स्थिति होती है वह उस कर्म से भिन्न है जिसके कारण द्वितीय अनागामी की स्थिति होती है : इसीलिए पहले का निर्वाण अनुपधिशेष है।

५. अंगुत्तर २,१५५ में (१-२) ससंखारपरिनिब्बायिन् का जो दृष्ट-धर्म या मृत्यु के पश्चात् 'संखार' के साथ परिनिर्वृत्त होता है। और (३-४) 'असंखारपरिनिब्बायिन्' का

[ २१२ ] एक दूसरे मत के अनुसार साभिसंस्कारपरिनिर्वायिन् और अनभिसंस्कारपरिनिर्वायिन् का भेद यह है कि प्रथम का परिनिर्वाण संस्कृतालम्बन—(=संस्कार) मार्ग से अर्थात् दु:ख-समुदय-मार्गालम्बन मार्ग से होता है और दूसरे का असंस्कृतालम्बन अर्थात् निरोधालम्बन-मार्ग से होता है। यह मत अयुक्त है क्योंकि इससे अतिप्रसंग होता है (अतिप्रसंगात्) : प्रथम दो प्रकार के अनागामियों में भी यही भेद है।

सूत्र मे (संयुक्त २७,२३) अनभिसंस्कारपरिनिर्वायी साभिसंस्कारपरिनिर्वायी से पूर्व पठित है। यह क्रम युक्त है तथा (तथा च युज्यते, व्या०, ५५६,२५) :[1] वास्तव में प्रथम अभिसंस्कार के बिना (अयत्न-प्राप्ति) मार्ग को सम्मुख करता है क्योंकि उसकी प्राप्ति बिना यत्न के है इसलिए मार्ग 'वाही' है। किन्तु द्वितीय अभिसंस्कार से मार्ग को सम्मुख करता है क्योंकि वह अभिसंस्कार-साध्य है। अत: यह 'प्रवाही' है। उपपद्यपरिनिर्वायी का मार्ग वाहितर् (=जिततर), अधिमात्रतर है और अनुशय मृदुतर है।

पाँचवाँ अनागामी ऊर्ध्वस्रोता[2] वह आर्य है, जिसका स्रोत, जिसकी गति ऊर्ध्व है। स्रोत और गति का एक अर्थ है। काम धातु का त्याग कर जहाँ वह उपपन्न होता है—वहाँ वह परिनिर्वृत्त नही होता किन्तु उसका ऊर्ध्वगमन होता है।

[ २१३ ] ३७-सी-डी. जब वह ध्यानो को व्यवकीर्ण करता है तब वह अकनिष्ठग है।[3]

---

जो 'संखार' के बिना दृष्ट धर्म में या मृत्यु के पश्चात् यदि निर्वृत्त होता है लक्षण है। और अनागामी तीक्ष्णेन्द्रिय है; २ और ४ मृद्विन्द्रिय हैं। ३ और ४ ध्यानो का अभ्यास करते हैं; १ और २ ध्यान के उल्लेख के बिना, असुभानुपस्सी······आहारे पटिकूल सञ्ञी सब्बलोके अनभिरसञ्ञी, सब्बसंखारेसु अनिच्चानुपस्सी वर्णित हैं और मरण-चित्त रखते हैं। संखार=वुव्वपयोग, विसुद्धि, ४५३।

१. सौत्रान्तिकों का मत—पुण्य के अपह्लास के क्रम से और रूप धातु में आयु की वृद्धि के क्रम से अनागामी परिगणित हैं।

२. 'ऊर्ध्वं स्रोतस्' भी पाठ हो सकता है यथा ऊर्ध्वंदायिक, ऊर्ध्वंदेहिक या चिरन्तन।

३. =[स ध्यानं व्यवकीर्याकनिष्ठग: ।।] —'अकनिष्ठ--परम' भी है। ध्यान के व्यवकीर्ण होने पर, ६'४२।

अकनिष्ठ देव निकायों पर ३.७२ सी., ६.४३ ए. यह रूपधातु का शोर्षस्थान है यह शुद्धावासों का आठवां देव निकाय है। जिस अनागामी ने पांचवें ध्यान का अभ्यास किया है वह कर्मवैचित्र्य के अनुसार शुद्धावासों तक अवरोहण करता है। जिसने पहले चार का अभ्यास किया है वह नीचे ही रह जाता है। [पृ० ६६, १४ सी. देखिये]।

ऊर्ध्व स्रोतस् दो प्रकार का है—या वह ध्यान को व्यवकीर्ण करता है और इसलिए वह अकनिष्ठग देव-निकाय तक अवरोहण करता है और परिनिर्वृत्त होता है अथवा वह ध्यान को व्यवकीर्ण नहीं करता और इसलिए यावत् नैवसंज्ञानासंज्ञायतन या भवाग्र अवरोहण करता है।[1]

स प्लुतोऽर्द्धप्लुतः सर्वश्च्युतश्चान्योभवाग्रगः ।
आरूप्यगश्चतुर्धान्यः इह निर्वापकोऽपरः ॥३८॥

३८ ए-बी. अकनिष्ठग प्लुत अर्द्धप्लुत या सर्वच्युत है।[2] जो आर्य वहाँ निर्वाण-लाभ के लिए अकनिष्ठपर्यन्त अवरोहण करता है वह तीन प्रकार का है, वह प्लुत, अर्द्धप्लुत या सर्वप्लुत है।

जिसे प्लुत कहते हैं वह इष्ट धर्म में ध्यानों का व्यवकीर्ण करता है; उसने प्रथम ध्यान का आस्वाद किया है (८-६) और इसलिए ऊर्ध्व ध्यानों से परिहीण हो वह ब्रह्मकायिकों में उपपन्न होता है; वहाँ अपने पूर्व अभ्युत्साह के बल से वह चतुर्थ ध्यान का व्यवकिरण करता है : ब्रह्मकायिकों में मृत होकर वह देव-निकाय (ब्रह्मकायिक) और अन्तिम देव-निकाय (अकनिष्ठ) के मध्य में १४ अन्तरा देव-निकायों में से किसी में भी 'निमज्जन' नहीं करता, इसलिए उसे प्लुत कहते हैं।

जिसे अर्द्ध-प्लुत कहते हैं, वह वह आर्य है जो एक स्थानान्तर[3] को लाँघ कर शुद्धावासों में उपपन्न हो अकनिष्ठों में प्रवेश करता है (६. ४३ ए-बी)।

[ २१४ ] आर्य महाब्रह्मों में कभी नहीं उपपन्न होता क्योंकि यह देव-निकाय दृष्टि-स्थान है : यहाँ ब्रह्मा में निर्मापक का अभिमान होता है[4] क्योंकि वहाँ केवल एक नायक हो सकता है किन्तु आर्य महाब्रह्म से विशिष्ट है।[5]

१. उसे 'भवाग्र' या 'भवाग्रपरम' कहेंगे। 'नैवसंज्ञानासंज्ञ' चतुर्थ आरूप्य है अतः भव का अग्र है।

२. स प्लुतोऽर्द्धप्लुतः सर्वच्युतश्च।—धर्म संग्रह, § १०३ प्लुतोऽर्द्धप्लुतः सर्वास्तानप्लुतः [ शुद्धपाठः सर्वस्थानच्युतः]।

३. एवमपि स्थानान्तरं विलंघ्य (व्या० ५६०,२०) – परमार्थ : प्रथम ध्यान (=ब्रह्मकायिक) से वह शुद्धावासों में उत्पन्न होता है और 'स्थानान्तर' को लाँघ कर वह अकनिष्ठों में उपपन्न होता है। शुआन चाङ् ' वहाँ से वह क्रमेण अधर शुद्धावासों में उपपन्न होता है और अन्तरा में एक स्थान का विलंघन कर वह अकनिष्ठों में उपपन्न होता है।"

४. संयुत्त ४४, २५; मध्यम, ४६, १। (विभाषा, ५२, १६) : एक ब्रह्मदेव विचार करता है : "यह स्थान शाश्वत है, विपरिणामधर्मा नहीं है······यहाँ कभी किसी को आते किसी ने नहीं देखा है; अतः और भी कारण है कि इसके परे कोई नहीं जाता ···" दीघ, १.१७ से तुलना कीजिए और ४.४४ बी-डी, ६६ (अनुवाद पृ० २०३ टि० देखिए)।

५. अतः काश्मीरक प्रथम ध्यान के केवल दो देव-निकाय गिनते हैं (२.४१ डी, ३.२ डी)

जिसे सर्वच्युत कहते है वह अकनिष्ठों में प्रवेश करने के पूर्व महाब्रह्म को वर्जित कर सब स्थानान्तरों में संसरण करता है।

एक ही उपपत्यायतन में अनागामी विशेष गमन के कारण कभी दो जन्म ग्रहण नहीं करता, इस प्रकार उसका अनागामित्व पूर्ण होता है।

जहाँ वह उपपन्न होता है वहाँ और उससे अधर स्थान में उसका अत्यन्त अनागमन होता है।

यह ऊर्ध्व स्रोता है जिसने ध्यान को 'व्यवकीर्ण' किया है; दृश्य अकनिष्ठग है।

३८ बी. अन्य भवाग्रग है।[1]

जिस ऊर्ध्वस्रोता ने ध्यान को 'व्यवकीर्ण' नहीं किया है वह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र) तक जाता है। अन्य समापत्तियों का आस्वाद लेकर वह सर्व स्थानान्तरों में उपपन्न होता है किन्तु शुद्धावासों में प्रवेश नही करता। आरूप्यों में संसरण कर वह भवाग्र में आता है और वहाँ परिनिर्वृत्त होता है। वास्तव में यह आर्य शमथ चरित (समाधि-प्रिय, व्या० ५६०,३२) है। हम इसे युक्त समझते हैं यद्यपि शास्त्रकारों ने इस वस्तु को निश्चित नही किया है कि दो प्रकार के ऊर्ध्वस्रोताओं का अकनिष्ठ या भवाग्र पहुँचने के पूर्व अन्तरा परिनिर्वाण होता।

[ २१५ ] अकनिष्ठपरमत्व और भवाग्रपरमत्व का अर्थ इतना ही है कि इस आर्य के लिए अकनिष्ठ और भवाग्र से ऊर्ध्व गति का अभाव है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका इन्ही देव-निकायों में जन्म होता है। यथा स्रोत आपन्न जिसका अधिक-से-अधिक सात बार जन्म होता है (सप्तकृत्वः परम) सात से कम जन्म ले सकता[2] है। यह पाँच अनागामी हैं क्योंकि यह रूप-धातु में (अतिक्रम के लिए नहीं) जाते हैं। रूपधातूपग पाँच प्रकार का है : अन्तरापरिनिर्वायी, उपपद्यं, साभिसंस्कारं, ऊर्ध्वस्रोतस्।

३८ सी. एक अन्य आरूप्यग है जो चतुर्विध है[3]।

एक दूसरा अनागामी है। यह आरूप्यग है। रूपधातु से विरक्त हो वहाँ से च्युत हो, वह आरूप्यों के सत्त्वों में उपपन्न होता है। यह अनागामी केवल चार प्रकार का है। उपपद्यं आदि क्योंकि आरूप्योपपत्तियों में अन्तरावस्था का अभाव है।

---

१. **अन्योभवाग्रगः।**

२. **भाष्य (५६१, १) : अन्तरापरिनिर्वाणम् [अप्य्] ऊर्ध्वस्रोतसो युज्यमानं पश्यामः। अकनिष्ठभवाग्रपरमत्वं तु परेण गत्यभावात्। तद्यथा स्रोत आपन्नस्य सप्तकृत्वः परमत्वम्। अकनिष्ठपरम और भवाग्रपरम आम्नाय से आगत हैं (ननु चाकनिष्ठपरम''''''इत्युक्तम्)।**

३. **[आरूप्यगश्चतुर्धान्यः]**

अतः यह ६ अनागामी हैं—पूर्वोक्त पाँच आरूप्यग यदि छठे के चतुर्धा भेद को न गिनें।

३८ डी. एक दूसरा जो यहाँ निर्वाण का लाभ करता है।[1]

एक दूसरा दृष्ट-जन्म में ही निर्वाण प्राप्त करता है। यह आर्य 'दृष्टधर्म परिनिर्वायी' है। ( ६'४१ डी)। यह सातवाँ अनागामी है।

> पुनस्त्रीन् त्रिविधान् कृत्वा नव रूपोपगाः स्मृताः।
> तद्विशेषः पुनः कर्म क्लेशेन्द्रिय विशेषतः॥ ३९॥

३९ ए-बी. यह उक्त है कि तीन को त्रिधा विभक्त कर ९ रूपोपग हैं।[2]

[ २१६ ] तीन अनागामियों में से प्रत्येक को त्रिधा विभक्त कर ९ अनागामी होते हैं क्योंकि यह रूप धातु को जाते हैं।

यह तीन कौन है?—अन्तरां उपपद्यं और ऊर्ध्वस्रोतस्।

तीन प्रकारों में भेद कैसे करते हैं?—१. सूत्र के तीन दृष्टान्तों के अनुसार तीन अन्तरापरिनिर्वायी हैं जो निर्वाण का लाभ करते हैं: प्रथम, आशु; द्वितीय, अनाश, तृतीय, चिर, २. उपपद्य के तीन भेद हैं—मूल उपपद्यं, साभिसंस्कारं, अनभिसंस्कारं। यह तीन उत्पन्न होकर निर्वाण का लाभ करते हैं। अतः उपपद्यं हैं। ३. ऊर्ध्वस्रोतस् प्लुतादिभेद से तीन हैं।

३९ सी-डी. अथवा यह कह सकते हैं कि इन तीन अनागामियों में से प्रत्येक का कर्म श्रद्धेन्द्रियादि, क्लेशविशेषवश इन तीन अनागामियों का, इन ९ अनागामियों का विशेष है।[3]

१. तीन अनागामियों में (ए) अभिनिर्वृत्तिवेदनीय कर्म[4] (४.१२०) या उपपद्य-वेदनीय कर्म (उपपद्यः उत्पन्न होने के पश्चात्) या अपरपर्यायवेदनीय कर्म (५ बी. ४'५० बी) के उपचित होने से, (बी) क्लेशों के समुदाचार से जो यथाक्रम मृदु, मध्य, अधिमात्र हैं, (सी) अधिमात्र, मध्य, मृदु, इन्द्रियवश, विशेष हैं।

---

१. इह निर्वापकोऽपरः॥

२. [त्रयस्यापि त्रिधाभेदाद् रूपोपगा नवोदिताः।]

३. तद्विशेषः पुनर् कर्म क्लेशेन्द्रियविशेष [णा] त्।

४. अभिनिर्वृत्ति की उत्पत्ति से भिन्नता के लिए, ३.४० सी, ६.३, पृ० १२७। ज्ञात होता है कि उपपद्यवेदनीय कर्म का सिद्धान्त ४।५३ डी. से विरुद्ध है।

२. तीन अनागामियों में से प्रत्येक तीन प्रकार का है, इनका यथायोग क्लेश।

[२१७] ए. क्लेश-विशेषवश यथा पूर्व (मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-मध्य अन्तरां आदि के तीन प्रकार के लिए), (बी) इन्द्रियविशेषवश (जो अधिमात्र-अधिमात्र आदि हैं), (सी.) तीन ऊर्ध्वस्रोतों के लिए कर्मविशेषवश भी प्लुत, अधिप्लुत, सर्वच्युत में अपरपर्यायवेदनीय कर्मवश विशेष हैं।

अतः कर्म, क्लेश, इन्द्रिय विशेषवश अनागामी के ६ प्रकार हैं। किन्तु सूत्र में सात सत्पुरुषगति की कैसे देशना है ?

**ऊर्ध्वं स्रोतुरभेदेन सप्तसद्गतयो मताः।**
**सदसद्वृत्त्यवृत्तिभ्यां गताप्रत्यागतेश्च ताः ॥ ४० ॥**

४० ए-बी. ऊर्ध्वस्रोतों में भेद न कर सात सद्गति मानी जाती है।[1] ऊर्ध्वस्रोतस् ऊर्ध्वस्रवणधर्मा है।

सूत्र में गति सूत्र (३.१२) में प्लुत, अर्द्धप्लुत, सर्वच्युत इन भेदों का निर्देश न होने से उसकी देशना सात सत्पुरुषगति की है अर्थात् ३ अन्तरां, तीन उपपद्य, कुल ६ गति और सातवीं ऊर्ध्वस्रोतस् की गति है।

केवल सात सत्पुरुष-गति क्यों है ? अन्य शैक्ष गतिस्रोत आपन्न गति और सकृदागामि-गति क्यों सत्पुरुष-गति नहीं मानी जाती[2] ? जो सात गति से अन्वित होते हैं, उनकी सत्कर्म में ही वृत्ति होती है ( सत्येव कर्मणि वृत्तिः, व्या० ५६३, ८६ ), असत् कर्म में अवृत्ति होती है। वह इन गतियों को प्राप्त हो वहाँ पुनः प्रत्यागमन नहीं करते (न पुनः प्रत्यागतिः, व्या०, ५६३, ३२) यह त्रिविध लक्षण अन्य शैक्षों में नहीं होता।

[२१८] ४० सी-डी. सद्वृत्ति और असद्वृत्ति के कारण और इस कारण कि जहाँ-

---

१. ऊर्ध्वस्रोतुरभेदेन सप्त सद्गतयोमताः। अंगुत्तर, विशेष है ४.७०।
"सात सद्गति" या सात सत्पुरुषगति=पुरिसगति।
शुआन चाङ् का व्याख्यान : गति=वृत्ति। व्याख्या (५६३, २८) गतिरुत्पत्तिः संपराय इत्येते सूत्रे पर्याया उच्यन्ते।

२. शुआन चाङ् में इतना अधिक है—क्योंकि अन्य शैक्ष सत्कर्म का अभ्यास कर [अनागामी से] भिन्न नहीं है।

जहाँ उपपन्न होते हैं वहाँ-वहाँ पुनरागमन नहीं करते।[1]

केवल यह सात गति सत्पुरुषगति है।

यह सत्य है कि सूत्र में उक्त है : "सत्पुरुष कौन है ?—जो शैक्षी सम्यग् दृष्टि से समन्वागत है……।"[2] यह इसलिए है क्योंकि स्रोत आपन्न सकृदागामी पर्याय से सत्पुरुष हैं : १. इन्होंने (प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचारादि) पंचविध पाप के अत्यन्त अकरण संवर (४.३३ ए-बी) का प्रतिलाभ किया है[3]; २. इन्होंने प्रायेण अकुशल कर्म का प्रहाण किया है अर्थात् कामावचर क्लेशों का प्रहाण किया है (५.१६,५२)[4]। किन्तु इस सप्त सत्पुरुष-गतिसूत्र में उन आर्यों का अधिकार है जो निःपर्यायेण सत्पुरुष है[5]।

ऐसा होता है कि प्रथम जन्म में स्रोत आपन्न या सकृदागामि-फल के लाभ से आर्य होकर वह द्वितीय जन्म में अनागामि-फल का लाभ करता है। इस अनागामी को परिवृत्त-जन्मा अनागामी कहते हैं। प्रश्न है कि क्या इस अनागामी के भी अन्तरां आदि पाँच भेद होते हैं।[6]

[२१६] **न परावृत्तजन्मार्यः कामेधात्वन्तरोपगः।**
**स चोर्ध्वजश्च नैवाक्षसंचार परिहाणिभाक् ॥४१॥**

४१ ए-बी. जो आर्य कामधातु मे परिवृत्तजन्मा होता है, वह धात्वन्तर में नहीं जाता[7]। [७ ए]

यह आर्य अनागामि-फल का एक बार लाभ कर उसी जन्म में (६.३८ बी) [काम-

---

१. [सवसति वृत्यवृत्योर्गता अपुनरागतेः ॥] ?

व्याख्या (५६३, ३२) यासु गतिषूपपन्नास्तत्र तत्र चैवाम् अत्यन्तम् अनाग गमनम्।

२. मध्यम २,१, विभाषा, १७५, १५—'सप्पुरिस' का लक्षण, नेत्तिप्पकरण, १६६।

३. किन्तु वह अब्रह्मचर्य कर सकते हैं (जो अकुशल चित्त है)—स्रोत आपन्न शीलों की रक्षा करता है, ह्यूबर, सूत्रालंकार २२१।

४. प्रायेण (व्या० ५६४,८) वास्तव में उन्होंने दर्शन प्रहातव्य क्लेशों का और भावना हेय क्लेशों के एक प्रदेश का प्रहाण किया है।

५. 'यथार्थ' (व्या० ५६४, १२) सत्पुरुषों ने सर्वपाप के अकरण-संवर का प्रतिलाभ किया है; उन्होंने दर्शन-प्रहातव्य सब अकुशल क्लेशों का प्रहाण (अशैक्षों की तरह) किया है और भावनाहेय कामावचर क्लेशों के ६ प्रकार का भी प्रहाण किया है।

६. भाष्य (५६४,१७) किं पुनः परिवृत्तजन्मनोऽप्यनागामिन एष भेदोऽस्ति।—मैंने व्याख्या के अनुसार लक्षण दिया है।

७. कामे [परिवृत्तजन्मा (आर्यो)] धात्वन्तरं न गच्छति।

धातु के दुःख-बहुल होने से तीव्र संवेग के कारण, तीव्र संवेगत्वात्] परिनिवृत्त होता है। किन्तु जो आर्य रूपधातु में पुनरुपपन्न हो अनागामि-फल का लाभ करता है वह कभी भवाग्रपरम ऊर्ध्वस्रोतस् के भाव में आरूप्यों में प्रवेश करता है।

आक्षेप—किन्तु शक्र ने कहा है : "यदि अन्त में मेरी परिहाणि हो तो मेरी उन देवों में उपपत्ति हो जो अकनिष्ठ देव के नाम से विश्रुत हैं।"—यह आपके वाद के विरुद्ध है।[1]

वैभाषिक उत्तर देते हैं : शक्र ऐसा कहते हैं क्योंकि वह धर्म से अनभिज्ञ हैं।[2] और यदि भगवत् उसे निवारित नहीं करते तो उनका अभिप्राय उसका संहर्षण करने का है।[3]

(४१ सी-डी.) इस आर्य का और उसका ऊर्ध्व धातु में उपपन्न होता है इन्द्रिय संचार और परिहाणि नहीं होती।[4]

[२२०] जो आर्य काम-धातु में परिवृत्तजन्मा है (कामे परिवृत्तजन्मा) और जो ऊर्ध्व धातु में उपपन्न है वह अपनी इन्द्रियों का संचार करने में समर्थ नहीं है। उनकी परिहाणि कैसे हो सकती है ?

परिवृत्तजन्मा में या उस आर्य में जो रूप या आरूप्य में प्रविष्ट है; इन्द्रिय संचार और परिहाणि क्यों नहीं स्वीकार करते ?

---

१. व्याख्या (५६४, २२) के सूत्र उद्धृत हैं : शक्र कहते हैं : "यहाँ से च्युत हो, मनुष्यों में उपपन्न हो, यदि मैं अर्हत्व की प्राप्ति कर परिनिर्वृत्त न होऊँ तो अर्हत्व से परिहाणि हो इसलिए इस मनुष्य-जन्म के अन्त में (अन्ते मम हीयमानस्य) मेरी उपपत्ति उन देवों में होगी (उपपत्तिर्भविष्यति) जो अकनिष्ठ के नाम से विश्रुत हैं (ये ते देवा अकनिष्ठा इति विश्रुताः)"।

शक्र स्रोत आपन्न हैं। वह देखते हैं कि उनका जन्म मनुष्यों में होगा और वह अर्हत्व का लाभ करेंगे। अतः वह परिवृत्तजन्मा अनागामी है। अतः ६, ४१ ए-बी. के अनुसार वह अकनिष्ठ नहीं हो सकते अर्थात् उसका धात्वन्तर गमन नहीं हो सकता।

२. तिब्बती भाषान्तर के अनुसार धर्मानभिज्ञत्वात्; व्याख्या (५६४, ३०) के अनुसार : धर्मलक्षणानभिज्ञत्वात्; शुआन चाङ् के अनुसार : "क्योंकि वह अभिधर्म नहीं जानता"।

३. संहर्षणीयत्वात्; अर्थात् कामदुःख परित्यागाभिलाषेण संहर्षणीय इत्यभिप्रायः संघभद्र के अनुसार : च्युतनिमित्तोपपत्तिदुःखोद्विग्नस्य-संहर्षणीयत्वात्।

४. सचोर्ध्वजश्च नैवाक्षसंचार परिहाणिभाक्॥—इन्द्रिय (श्रद्धादि) संचार पर ६.५७ सी., ५८ डी., ६० आदि।

क्योंकि इन आर्यों में न इन्द्रिय-संचार और न परिहाणि होती है। क्यों ? क्योंकि जन्म द्रव्य में परिवास के कारण (जन्मान्तर परिवासेन या कालान्तर[1]) (प्रज्ञादि) इन्द्रिय परिपक्वेतर होती है, क्योंकि आर्य ने आश्रय-विशेष का लाभ किया है।

काय से अवीतराग शैक्ष अर्थात् स्रोत आपन्न और सकृदागामी अन्तरापरिनिर्वायी क्यों नहीं है ? अर्थात् मरण के अनन्तर जो अन्तराभव है, उसमें वह निर्वाण का लाभ क्यों नहीं करता ?

क्योंकि मार्ग अजित है (अजितत्वात्) और क्योंकि उसके अनुशय अतिमन्द नहीं हैं। यह आर्य उसको सम्मुख नहीं कर सकता (सम्मुखीभाव) यह हमारा उत्तर है।

वैभाषिक उत्तर देते हैं—क्योंकि कामधातु से समतिक्रम अतिदुस्तर है (दुःसमतिक्रम)। वास्तव में निर्वाण की प्राप्ति के लिए इस शैक्ष को बहुत करना होता है—(१) अकुशल क्लेश अर्थात् कामावचर क्लेश का प्रहाण; (२) अव्याकृत क्लेश अर्थात् रूपावचर क्लेशों का प्रहाण (५ १९); (३) स्रोत आपन्न के लिए तीन श्रामण्यफल की प्राप्ति—सकृदागामी के लिए दो श्रामण्यफल की प्राप्ति क्योंकि वीतराग अर्थात् अनागामी के लिए एक ही फल की प्राप्ति; (४) धातुत्रय का समतिक्रम—किन्तु आर्य अन्तराभाव में यह सब नहीं कर सकता।[2]

[२२१] हमने कहा है कि ध्यानों को व्यवकीर्ण कर, मिश्रित कर अकनिष्ठों में जाता है। (६.३७ डी) कौन ध्यान पहले व्यवकीर्ण (व्या० ५६५,२५) (आकीर्यंते व्यवकीर्यंते व्यतिभिद्यते) या मिश्रित होता है (मिश्रीक्रियते)।[3]

४२ ए. आदि में चतुर्थ ध्यान का आकीर्ण।[4]

क्योंकि यह समाधि में कर्मण्य है और सुखाप्रतिपद (७.६६ डी) में अग्र है। इस प्रकार प्रयोग होता है।

---

१. प्रज्ञादीनाम् इन्द्रियाणां निष्यन्दफलपुष्टिविशेषादित्यर्थः। अर्थात् क्योंकि इन्द्रियों की अत्यन्त पुष्टि अपने निष्यन्द-फल से होती है।

२. सम्मितीय निकायशास्त्र का भिन्न वाद है।

३. मिश्रीकरण में दो सास्रव ध्यानों से अनास्रव ध्यान को मिश्रित करते हैं। (व्याख्या) अनास्रव ध्यान के दो क्षण या दो क्षण सन्तति के मध्य में एका या कई सास्रव ध्यान के क्षणों को अवकीर्ण करते हैं।

धर्मशरीर में ( Stönner, बर्लिन की एकेडमी, १९०४, १२८२ ). व्यवकीर्णभा [वना] विधानि (भावनाविध, विसुद्धिमग्ग, १२२) ।

४.— [आदौ चतुर्थकिरणम्]

वैभाषिकों के अनुसार अर्हत् या अनागामी अनास्रव[1] और प्राबन्धिक अर्थात् चित्त-सन्ततभूमि[2] चतुर्थ ध्यान में समापन्न होता है। वह उससे व्युत्थान करता है और इसी सास्रव प्राबन्धिक चतुर्थ ध्यान में पुनः प्रवेश करता है। वह क्रमशः प्रत्येक अनास्रव, सास्रव, अनास्रव ध्यान की चित्त-क्षण संख्या का अपह्रास कर उस काल तक प्रवृत्त रहता है जिस काल में दो चित्त-क्षण के अनास्रव ध्यान में प्रविष्ट होकर व्युत्थान करता है और दो चित्त-क्षण के सास्रव ध्यान में प्रवेश करता है। तदन्तर दो चित्त-क्षण के अनास्रव ध्यान में प्रवेश करता है। यह व्यवकिरण का प्रयोग है।

४२ बी. क्षणों के मिश्रण से व्यवकिरण सिद्ध होता है।[3]

वैभाषिक कहते हैं कि जब एक अनास्रव चित्त के अनन्तर एक सास्रवचित्त आवाहित होता है तब एक सास्रव चित्त से दो अनास्रव चित्तों का मिश्रण होने से ध्यान का आकिरण सिद्ध होता है। प्रथम दो क्षण आनन्तर्यमार्ग (६.२८ ए) और तीसरा विमुक्ति-मार्ग के सदृश है।

[२२२] योगी चतुर्थ ध्यान का इस प्रकार आकिरण कर इस व्यवकीर्ण ध्यान के बल से अन्य ध्यानों का भी आकिरण करता है। प्रथम आकिरण कामधातु में होता है; पश्चात् परिहाणि की अवस्था में योगी रूपधातु में आकिरण करता है। (ऊपर पृ० २१३ देखिये)।

हमारे मत से, एक सास्रव-क्षण का दो अनास्रव-क्षणों से व्यवकिरण (क्षणव्याकिरण), बुद्ध से अन्यत्र, सबके लिए असम्भव है। अतः एक ध्यान का व्याकिरण तब सिद्ध होता है जब योगी उसका, तब तक के लिए जब तक वह चाहता है, तीन प्राबन्धिक, अनास्रव, सास्रव, अनास्रव ध्यान में प्रवेश करता है।

किस उद्देश्य से योगी ध्यानों का व्याकिरण करता है?

४२ सी-डी. उपपत्ति और विहार के लिए और क्लेशमहिता।[4]

योगी तीन कारणों से ध्यानों का व्याकिरण करता है—(१) तीक्ष्णेन्द्रिय अनागामी ध्यानों का व्याकिरण करता है, शुद्धावासों में उपपत्ति के लिए और दृष्टधर्म[5] में सुखविहार

१. अनास्रव और सास्रव ध्यान पर, ८.६।

२. अंगुत्तर, १.३८ में क्षणमात्रावस्यार्थाः और प्राबन्धिक ध्यान का वर्णन है। ऊपर ६.१७ बी, २८ सी.।

३. [सिध्यते क्षणमिश्रणात्]

४. [उपपत्तिविहारार्थं] व्या ५६३, २३ क्लेशभीरुतया [पि च॥]

५. दृष्टधर्म सुखविहारों पर विशेषकर दीघ ३.११३, २२२, अंगुत्तर, ५.१०, ४.३६२ देखिये कोश २.४, ६.५८ बी., ८.२७ निर्वान, १९२४, पृ० ८०।

के लिए; मृद्विन्द्रिय अनागामी क्लेशमहिना से भी ध्यानों का व्याकिरण करता है, आस्वादनासंप्रयुक्तसमाधि (८.६) के दूरीकरण से अपरिहाणि के अर्थ; (२) तीक्ष्णेन्द्रिय अर्हत्, दृष्टधर्म सुखविहार के लिए ध्यानों का व्याकिरण करता है; मृद्विन्द्रिय अर्हत् अपरिहाणि के लिए, क्लेशमहिता से भी ध्यानों का, व्याकिरण करता है।

शुद्धावासों की ५ प्रकार की उपपत्ति क्यों है ?[1]

[२२३] चतुर्थ ध्यान के व्याकिरण की भावना यथा पूर्वोक्त है।

४३ ए-बी. क्योंकि वह पंचविधि है, अतः शुद्धावासों में पाँच उपपत्तियाँ भव-प्रकार हैं।[2]

व्याकिरण की भावना पंचविधि है—मृदु, मध्य, अधिमात्र, अधिमात्रतर, अधिमात्रतम।[3]

मृदुभावना में तीन चित्त का सम्मुखीभाव होता है, एक अनास्रवक, एक सास्रवक, एक अनास्रवक; द्वितीय भावना में ६ चित्त का,[4] तृतीय, चतुर्थी, पंचम भावना में यथाक्रम ६,१२, १५ चित्त का।

पाँच उपपत्ति यथाक्रम, इन पाँच भावनाओं के फल हैं। इन भावनाओं में संगृहीत सास्रव क्षणों के बल से वह उत्पन्न होते हैं।

दूसरों के अनुसार[5] श्रद्धादि इन्द्रियों के आधिक्य से पांच उपपत्ति होती है, श्रद्धा के आधिक्य से अवृह······प्रज्ञा के आधिक्य से अकनिष्ठ।

---

१. प्रथम तीन ध्यानों में से प्रत्येक तीन प्रकार के रूपावचर देव का उत्पाद करता है। चतुर्थ ध्यान आठ प्रकार के देव उत्पन्न करता है—अनभ्रक, पुण्यप्रसव, बृहत्फल और पाँच शुद्धावासिक अवृह, अतप, सुदृश, सुदर्शन और अकनिष्ठ (३.२ सी-डी)।

२. =[तत्पञ्चघेति पञ्चैव शुद्धावासोपपत्तयः।]

३. तस्य पुद्गलस्य तावती शक्तिः (व्याख्या, व्या० ५६६, ६) ऐसा आश्रय इससे अधिक नहीं कर सकता।

४. "अनास्रव, सास्रव, अनास्रव यह तीन चित्त; पुनः—अनास्रव, सास्रव, अनास्रव यह तीन चित्त (व्याख्या, व्या० ५६६, ७) एवमादि।

५. श्रीलाभ का मत (व्याख्या, व्या० ५६६)—विभाषा, १७५, १५ में व्याख्यात ६ मतों में से चौथा।

४३ सी-डी. जो अनागामी निरोध का लाभ करता है वह कायसाक्षी माना जाता है।[1]

[२२४] जिसमे संज्ञावेदित निरोधसमापत्ति का समन्वागम है वह निरोधलाभी कहलाता है।

जो कोई अनागामी निरोधलाभी होता है, वह कायसाक्षी कहलाता है क्योंकि चित्त के अभाव में उसने निर्वाण सदृश धर्म अर्थात् निरोधसमापत्ति का काय से साक्षात्कार किया है (साक्षात्करोति)।

काय से ही यह साक्षात्कार कैसे करता है?—क्योंकि चित्त के अभाव में इस साक्षात्क्रिया की उपपत्ति कायाश्रयवश होती है। यह वैभाषिकों का मत है।

किन्तु हमारा मत इस प्रकार है। यही मत सौत्रान्तिकों का है। जब आर्य निरोध-समापत्ति से व्युत्थान करता है, तब वह विचारता है। अतः यह निरोधसमापत्ति निर्वाण के सदृश शान्त है।

वह सविज्ञानककाय (अर्थात् वह काय जिसमें विज्ञान की उत्पत्ति हुई है) शान्ति का लाभ करता है। इस प्रकार वह काय से [निरोध की] शान्ति का साक्षात्कार करता है: साक्षात्करण के दो कारण है—प्रथम, समाधिकाल में आश्रय की प्राप्ति का साक्षात्करण,—द्वितीय, व्युत्थान काल में वेदनाज्ञान का साक्षात्करण। प्रत्यक्षीकार को ही साक्षात्क्रिया कहते हैं।[2] सविज्ञानक काय की शान्ति के प्रतिलाभ की अवस्था में

---

१. =[अनागामी मतः कायसाक्षी निरोधलाभतः ॥]

परमार्थ के अनुसार शब्दों का क्रम तिब्बती भावान्तर के अनुसार है। भाष्य के अनुसार निरोधलाभ्यनागामी कायसाक्षी।

निरोध समापत्ति पर, २.४३ (अनुवाद पृ० २०३ आदि) में दिये हवालों में ४.५४, ६.६३, ६४ ए, ८.३३ ए और ·········विसुद्धिमग्ग, ७०२-७०६ जोड़िये "पर नहीं कहा जा सकता कि यह समापत्ति संस्कृत है या असंस्कृत, लौकिक है या लोकोत्तर" क्योंकि स्वभावतः इसका अस्तित्व नहीं है (स्वभावतो नात्थिताय) उत्तरापथक और अन्धकों के अनुसार "यह समापत्ति असंस्कृत है" (कथावत्थु, ६.५) नीचे पृ० २२५ टि० ३।

निरोधानुकूल कायसाक्षिन पर अंगुत्तर, ४.४५१ (यह अवश्य अर्हत् है), पुग्गल-पञ्ञत्ति, १४, विसुद्धिमग्ग, ९३, ६५९ (रोचक)।

२. भाष्य, जो शब्द पड़ी रेखाओं के बीच में हैं वह (व्याख्या, व्या० ५६६, १६) में नहीं हैं: यो हि कश्चिद् अनागामी [निरोधं प्राप्नोति स निर्वाणसदृशस्य धर्मस्य] कायेन साक्षात्करणात् [कायसाक्षीत्युच्यते]। कथं कायेनैव [साक्षात्करणम्]। चित्ताभावात् कायाश्रयोत्पत्तेः ॥ एवं तु भवितव्यम्। [यतो निरोधाद् उत्थाय अहो बत निर्वाणसादृशा निरोधसमापत्तिः शान्ता चेति मन्यते अलब्धपूर्वां] सविज्ञानक कायशान्तिं [स प्रतिलभते]। [एवं तच्छान्तिं स कायेन साक्षात्करोति] प्राप्तिज्ञानसाक्षात्क्रियाभ्याम्। प्रत्यक्षीकारो हि साक्षात्क्रिया ॥

साक्षात्क्रिया होती है और इस प्रतिलाभ से अविज्ञानक काय की अवस्था में इस शान्ति की प्राप्ति होती है।[१]

[२२५] सूत्र के अनुसार, १८ शैक्ष हैं।[२] कायसाक्षी का उल्लेख शैक्षों में क्यों नहीं है ?—क्योंकि कायसाक्षिन शैक्षत में हेतु नहीं है।

इस द्वितीय भाव से क्या हेतु है ?—तीन शिक्षा-अधिशील, अधिचित्त, अधिप्रज्ञ,[३] जो आर्य मार्ग स्वभाव है और तीन शिक्षाओं का फल अर्थात् निसंयोग (१.६ ए, २.५५ डी)। विविध शिक्षा-विशेष और फल-विशेष से शैक्षों का अवस्थान होता है। किन्तु निरोधसमापत्ति न शिक्षा है, क्योंकि यह प्रहाणमार्ग नहीं है, निसंयोग नहीं है और न शिक्षा का फल है। इसीलिए एक आर्य केवल निरोधसमापत्ति के योग से, शैक्ष-विशेष नहीं कहलाता।[४]

---

१. शुआन चाङ् : यह आर्य निरोधसमापत्ति से व्युत्थान सविज्ञानक काय की शान्ति का प्रतिलाभ करता है जिसका लाभ उसने इस समापत्ति के पूर्व नहीं किया था और वह विचारता है--यह निरोधसमापत्ति अत्यन्त शान्त है और निर्वाण सदृश है। इस प्रकार वह काय की शान्ति (एक प्रकार की समापत्ति) का साक्षात्कार करता है और इसलिए वह कायसाक्षी कहलाता है क्योंकि (समापत्ति की अवस्था में, कायशान्ति की] प्राप्तिवश और व्युत्थानकाल में कायशान्ति के ज्ञानवश वह कायशान्ति का साक्षात्कार करता है। [६बी १-३]

२. शैक्ष और शिक्षा पर नीचे पृ० २३०।

३. महाव्युत्पत्ति, ३६, त्रीणि शिक्षाणि, अधिशीलम्, अधिचित्तम्, अधिप्रज्ञा; धर्म-संग्रह, १४०, तिस्रः शिक्षाः, अधिचित्तशिक्षा अधिशीलशिक्षा अधिप्रज्ञाशिक्षा च; दीघ, ३.२१९, तिस्सो सिक्खा, अधिसील, अधिचित्त, अधिपञ्ञसिक्खा; अगुत्तर, १.२३५, २.१९४; ३.४४४। विसुद्धिमग्ग संयुत्त, १.१३ की टीका मात्र है—सीले पतिट्ठाय'''चित्तं पञ्ञं च भावयं''' (पृ० ४ : सीलेन अधिसीलसिक्खा पकासिता होति, समाधिना अधिचित्तसिक्खा पञ्ञाय अधिपञ्ञासिक्खा); चाइल्डर्स, सिक्खापद; शीफनर, मेलॉज़ माज़ियातोक, ८.५७२।

कोश, ६.४५ बी, ८.१ देखिये। शुद्ध पाठ यह है अधिशीलं शिक्षा, अधिचित्तं शिक्षा, अधिप्रज्ञां शिक्षा। यथा ६ पृ० २३०-२३१ से और शिक्षासमुच्चय ११९, १४ में उद्धृत धर्मसंगीति से ज्ञात होता है।

४. मार्ग में निरोधसमापत्ति का क्या स्थान है ? आस्रव आसवक्षय में उसका क्या उपयोग है। इस पर पालि आगम संदिग्ध है। मज्झिम, १.४५५, ३.२८ दीघ, १.१८४, अंगुत्तर, ४.४२६—हम जानते हैं कि आगम में ध्यान और आरूप्यों के अतिरिक्त एक नवीं समापत्ति है (महाव्युत्पत्ति, ६८, ७ : नवानुपूर्वविहारसमापत्तिः दीघ, ३.२६६ : नव अनुपुब्बनिरोधा); यह आठवां विमोक्ष है।

[२२६] हमने अनागामियों का स्थूल भेद बतलाया है। रूपधातु पाँच हैं। अन्य आरूप्य धातु चतुर्विध हैं। अन्य वहाँ निर्वाण प्राप्त करता है (६.३८ सी-डी) किन्तु यदि सूक्ष्म भेद बतलाना हो तो बहुत बड़ी संख्या होती है; जैसा कि अनागामी के एक प्रकार-प्रथम प्रकार अर्थात् अन्तरापरिनिर्वायी के भेदों की परीक्षा से प्रदर्शित है।

अन्तरापरिनिर्वायी (१) इन्द्रिय भेद से त्रिविध हैं—तीक्ष्णेन्द्रिय, मध्येन्द्रिय, मृद्विन्द्रिय; (२) भूमि भेद से चतुर्विध है, चार ध्यान भूमि है, वह जिस ध्यान का आश्रय लेता है उस प्रकार का वह भूमिवश होता है [यहाँ रूपोपग अनागामी विवक्षित है]; (३) गोत्र भेद से छह प्रकार का है : परिहाणधर्मन्, चेतनाधर्मन्, अनुरक्षणाधर्मन्, स्थिताकम्प्य, प्रतिवेधनाधर्मन्, अलोक्यधर्मन् (६.५८ सी); (४) स्थानान्तर भेद से १६ प्रकार का है, अन्तरापरिनिर्वायी जिन-जिन स्थानों में जाता है वह ब्रह्मकायिक से लेकर अकनिष्ठ तक १६ देव[1] निकाय है; (५) भूमि वैराग्य भेद से ३६ प्रकार का है : अन्तरापरिनिर्वायी, १ रूपधातु का सकलबन्धन (रूपधातौ सकलबन्धन) हो सकता है; २-९ प्रथम ध्यानभूमिक क्लेश के एक प्रकार···८ प्रकारों से विरक्त हो सकता है; १० दूसरे ध्यान का सकलबन्धन हो सकता है; ११-१८ द्वितीय ध्यानभूमिक क्लेश के ८ प्रकारों से विमुक्त हो सकता है··· अतएव ९ अन्तरापरिनिर्वायी के चार समुदाय हैं। चतुर्थ ध्यानभूमिक क्लेश के नौ प्रकार से विमुक्त आर्य को हम नहीं गिनते क्योकि वह आरूप्यधातु में सकलबन्धन होता है, क्योकि यह अन्तरापरिनिर्वायी है। अतः रूपोपग अनागामी विवक्षित है, क्योंकि अन्तराभव का अस्तित्व रूपधातु से ऊर्ध्व नहीं होता।

अतएव स्थानान्तर गोत्र, वैराग्य, इन्द्रिय भेद का विचार कर २५९२ प्रकार के अन्तरापरिनिर्वायी होते हैं।

एक स्थान मे (यथा ब्रह्मपुरोहितों मे) ६ गोत्र होते हैं।

[२२७] प्रत्येक गोत्र में ९ युगपत होते है सकलबन्धन······यावत् अष्ट प्रकार वीतराग—इस प्रकार ६ नवंक अर्थात् ५४ होते हैं। यदि स्थानान्तर की संख्या १६ को इस संख्या से गुणा करें तो ८६४ होते हैं। इन्द्रिय भेद का विचार करने से यह संख्या २५९२ होती है।

जिसमें चार ध्यानों मे पुद्गलों की समय गणना हो (समयगणनार्थम्) वह ९-९ हो अधर ध्यान के नौ प्रकार वीतराग को उत्तरध्यान में सकलबन्धन कहते हैं।

अन्तरापरिनिर्वायी के भेद हैं, इस प्रकार अन्यों को, उपपद्यपरिनिर्वायिन्···यावत्

---

१. वैभाषिक उसका प्रतिषेध करते हैं कि महाब्रह्मलोक स्थानान्तर है (व्या० ५६७, २२; ३.२ डी)। बहिर्देशक, अकाश्मीरी उसे स्थानान्तर मानते हैं किन्तु उनका कहना है कि आर्य उत्पन्न नहीं होता (६.३८ ए-बी)।

ऊर्ध्वस्रोतस् को जानिये । अतएव रूपोपग अनागामी, ५ × २५६२ = १२८१० होते हैं । इसी प्रकार आरूप्यअनागामी के प्रकार संख्या की गणना होती है ।

४४ ए-बी. जब तक वह भवाग्र के अष्टभाग का क्षय नहीं करता, वह अर्हत् में प्रतिपन्नक है ।[1]

हम अनागामी के विषय में कहते हैं । प्रथम ध्यान के प्रथम क्लेश प्रकार से अपने को अलग रखने के क्षण से जब तक भवाग्र के आठवें क्लेश का प्रहाण करता है (नैव संज्ञानासंज्ञानायतन), अनागामी अर्हत् के फल का प्रतिपन्नक है ।

४४ सी. ९वें आनन्तर्य मार्ग में भी ।[2]

आनन्तर्यमार्गस्थ (६,२८ ए) जिसमें भवाग्र के नौ क्लेश प्रकार का प्रहाण किया है, वह भी अर्हत् फल में प्रतिपन्नक है ।

४४ डी. यह मार्ग वज्रोपम है ।[3]

[२२८] यह नवम मार्ग जो सर्वानुशय भेदी है, वज्रोपमसमाधि कहलाता है । यथार्थ में, यह सब अनुशयों का भेद नहीं करता क्योंकि बहुत-से पूर्व ही भिन्न हो चुके हैं—किन्तु सबको भिन्न करने में यह समर्थ है क्योंकि सब आनन्तर्य मार्गों में यह सबसे अधिक समर्थ है ।

वज्रोपमसमाधि के बहु प्रकार हैं ।

योगी समाधि की विविध अवस्थाओं में प्रतिवेध कर, इन ९ भूमियों में से किसी एक का निश्रय से अनागम्य, ध्यानान्तर, ध्यान चतुष्टय, आरूप्यत्रय इसका उत्पाद कर सकता है ।[4]

---

१. आभवाग्राष्टभागक्षिद् अर्हत्त्वे प्रतिपन्नकः ।

२. =[आनन्तर्येऽपि नवमे]

३. =[स तु वज्रोपमः (स्मृतः)] । किन्तु कदाचित् स तु वज्रोपमः सह । (तत्क्षयाप्त्या क्षयज्ञानम्)—परमार्थ-वह वज्रसमाधि कहलाती है ।

वज्रोपमसमाधि, महाव्युत्पत्ति, २१, ५५; कोश ३.५३ बी-डी, ६.७७, ८.२८; सूत्रालंकार, १४.४५; पञ्चक्रम, ३.६०, ६७, ६.२६—पुग्गलपञ्ञत्ति, ३० में जो योगी क्लेश क्षय करता है वह वज्रोपमचित्त है "यथा ऐसा कोई रत्न या पत्थर नहीं है जिसका भेद वज्र न करे"—नेत्ति ११२ के आणवजिर का भी उल्लेख कर सकते हैं—वज्रसमाधि, Religieux iminents, पृ० १५३ । हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म में वज्र का क्या दुरुपयोग होगा ।

४. मौलं ध्यानम् अनागम्य अप्रविश्य उत्पद्यत इति अनागम्यम् (व्याख्या, व्या० ५६९, ३१)—६.४७ सी, ८.२२ सी; ५.६६ देखिए ।

१. भवाग्रिक दुःखालम्बन अन्वयज्ञान के चार आकारों से संप्रयुक्त और भवाग्रिक समुदयालम्बन (७.१३ ए) अन्वयज्ञान के चार प्रकार आकारों से संयुप्रक्त आठ वज्रोपम-समाधि संगृहीत है।

निरोधधर्मज्ञान के चार आकारों से संप्रयुक्त और मार्गधर्मज्ञान के चार अपर आकारों से संप्रयुक्त आठ वज्रोपमसमाधि, (७.६ के नियम के अनुसार)। प्रथमध्याना-लम्बन-निरोधान्वयज्ञान के चार आकारों से संप्रयुक्त चार वज्रोपमसमाधि, एवमादियावत् भवाग्रालम्बन निरोधअन्वयज्ञान के चार आकारों से संप्रयुक्त चार वज्रोपमसमाधि।

मार्गान्वियज्ञान के चार आकारों से संप्रयुक्त चार वज्रोपमसमाधि।

[२२६] क्योकि मार्गान्वियज्ञान का'''अन्वयज्ञान पक्ष आलम्बन है। (यथा निरो-धान्वयज्ञान के लिए है वैसा इसके लिए भूमि भेद करने का स्थान नही है)।

अतः ज्ञान के आकार भेद और आलम्बन भेद से और अन्वयज्ञानों के कारण अना-गम्य संगृहीत ५२ वज्रोपमसमाधि है।

२. अन्य भूमि संगृहीत यावत् चतुर्थ ध्यान संगृहीत जिन वज्रोपमसमाधियों का उत्पाद होता है उनकी भी यही संख्या है।

३. आकारानन्त्यापतन संगृहीत २८, विज्ञानानन्त्यापतन संगृहीत

२४. आकिंचन्यापतन संगृहीत २०, इस प्रकार प्रथम तीन आरूप्यों से संगृहीत वज्रोपमसमाधियाँ हैं।

(१ इनमें धर्मज्ञान का अभाव है; (२) अधोभूमि निरोध को आलम्बन बनाने वाले अन्वयज्ञान का भी वहाँ अभाव है (८.२१); (३) वहाँ अधोभूमि प्रतिपक्षालम्बन अन्वयज्ञान उस प्रतिपक्ष के अन्योन्य हेतु होने से होता है (२ ५२ सी)।

कुछ अभिधार्मिकों का मत है कि मार्गान्वियज्ञान एक काल में सब भूमियों को आलम्बन नहीं बनाता किन्तु विरोधान्वयज्ञान की तरह इसका भी एकैकभूमि प्रतिपक्षा संगृहीत वज्रोपमसमाधि की संख्या मे २८ अधिक प्रक्षिप्त करना चाहिए। आरूप्यों के लिए यथाक्रम ४०, ३२, और २४ हैं। गोत्र (६.५८ सी) और इन्द्रियों के भेद से इनकी संख्या भूयसी होती है।[1]

हमने कहा है कि भवाग्र के नवें प्रकार का प्रहाण वज्रोपमसमाधि से होता है।

---

१. शुआन चाङ् में इतना अधिक है (११ बी २-११ बी ६) : अन्य आचार्यों के अनुसार अनागम्य से प्रतिलब्ध वज्रोपमसमाधि की संख्या ज्ञान के आकारालम्बन भेद से १६४ है। वास्तव में निरोधान्वयज्ञान सामान्यतः और विशेषतः लम्बन इष्ट है। इस पक्ष में अनागम्यादि आठ भूमियों के निरोध को आलम्बन बनाता है; और चार आकार का संप्र-

[२३०] ४४ डी-४५ ए. इस प्रकार की क्षय की प्राप्ति मे क्षयज्ञान[1]।

नवें प्रकार के क्षय के प्राप्ति के साथ (प्राप्त्या सह) क्षयज्ञान की उत्पत्ति होती है। वज्रोपमसमाधि अर्थात् अन्तिम आनन्तर्यमार्ग के अनन्तर, अन्तिम विमुक्ति मार्ग की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह विमुक्ति मार्ग जो सर्वास्रवक्षय की प्राप्ति के साथ उत्पन्न है (सहजात) प्रथमतः क्षयज्ञान है इसीलिए इसे क्षयज्ञान कहते हैं (मध्यमपद का लोपकर : क्षय प्रथम ज्ञान)।

४५ बी. तब आर्य अशैक्ष अर्हत् होता है।[2]

जब यह नाम उत्पन्न होता है, अर्हत् में प्रतिपन्नक अशैक्ष फल, अर्हत् फल, का लाभ करता है. उसे किसी अन्य फल के लिए शिक्षा नहीं प्राप्त करना है; अतः यह अशैक्ष है। अतएव स्वार्थ की परिसमाप्ति कर वह परार्थ (परार्थकरण) के योग्य(अर्हत्व) होता है। वह सब सराग सत्त्वो की पूजा के योग्य पूजा ही है। क्योंकि अर्हत् को अशैक्ष कहते हैं, इसलिए यह सिद्ध होता है कि अन्य सात पूर्वोक्त पुद्गल चार प्रतिपन्नक और तीन फलस्थ शैक्ष है।

यह किस कारण से शैक्ष हैं ? क्योंकि यह क्षय के लिए जिन तीन शिक्षाओं[3] का अभ्यास करते हैं—

[२३१] यह तीन शिक्षाएँ, अधिशीलं शिक्षा,[4] अधिचित्तं शिक्षा,[5] अतिप्रज्ञं

---

धारण करना चाहिए। अतः प्रथम आचार्यों की संख्या में ११२ जोड़ना चाहिए। इसी प्रकार ध्यानान्तर और ध्यान हैं। आरूप्यों के लिए यथाक्रम ५२, ३६, २४ हैं।

व्याख्या में विस्तृत विचार-विमर्श है।

१. =[सह ।। तत्क्षयाप्त्या क्षयज्ञानम्]

परमार्थ—नवें के निरोध की प्राप्ति से क्षयज्ञान।

क्षयज्ञान पर, ७.४, १२, ४३; अनुत्पाद ज्ञान के साथ यह बोधि है ६ ६७; सम्यग्विमुक्तिज्ञान, ६-७५, ७६ से आस्रवक्षयभिज्ञा से, ७.४२, ८.२० इसका व्यतिरेक नहीं है।

२. =[अशैक्षोऽर्हन्नसौतदा ।]—परमार्थ : अशैक्ष, अर्हत्।

३. नित्यं शिक्षणशीलाः—शिक्षा शीलम् एषाम् इति शैक्षाः पाणिनि, (व्या० ५७३, २६) ४.४, ६२ के अनुसार।

४. वास्तव में वह विनय की शिक्षाओं का पालन करता है। महावग्ग, १.३६, ८ शीले शिक्षा अधिशीलं शिक्षा·········प्रज्ञायां शिक्षा अधिप्रज्ञं शिक्षा, पाणिनि, २.१, १६; ऊपर पृ० २२५ टि० २ देखिए।

५. ८.१ देखिए।

शिक्षा,[1] शील समाधि प्रज्ञा स्वभाव हैं। किन्तु साहस लक्षण के अनुसार, पृथग्जन भी शैक्ष है ?—नही, क्योंकि इसको प्रज्ञाभूत सत्य का प्रज्ञान नही है (अप्रज्ञान); क्योंकि इसके शिक्षित का अपशिक्षण हो सकता है।[2]

अतः इसको प्रतिज्ञा करने के लिए कि जो एकान्ततः शिक्षणशील है वह शैक्ष है और इसका प्रतिषेध करने के लिए कि जो शिक्षा का परित्याग करता है, वह शैक्ष है, भगवत् पुनः कहते हैं "हे शीवक,[3] जिसमें उसे शिक्षित होना चाहिए उसमें यदि वह शिक्षित होता है तो उसे ही मैं शैक्ष कहता हूँ"।[4]

किन्तु यह कैसे कह सकते हैं कि प्रकृतिस्थ आर्य जो समाहित अवस्था में नहीं है, शिक्षणशील है ? आशयतः यथा अध्वग जो एक क्षण के लिए संस्थित होता है, अध्वग ही कहलाता है। अथवा, क्योंकि शील समाधि प्रज्ञा की प्राप्ति का प्रकृतावस्था में अनुद्वेग होता है।

शैक्ष धर्म कौन है ?[5]—शैक्ष के अनास्रव संस्कृत धर्म—इसी प्रकार अशैक्षधर्म अशैक्ष के अनास्रव संस्कृत धर्म हैं।

[२३२] असंस्कृत निर्वाण शैक्ष क्यों नहीं है ?[6] क्योंकि अशैक्ष और पृथग्जन का उससे योग है (तद् योगात्)। पृथग्जन लौकिक मार्ग[7] से प्राप्त निर्वाण से युक्त होता है (युज्यते)।

निर्वाण अशैक्ष क्यों नहीं है ?—क्योंकि शैक्ष और पृथग्जन का उससे योग है।

---

१. व्याख्या, ५७४, २ में सूत्र उद्धृत है : अधिप्रज्ञं शिक्षा कतमा।

इदं दुःखम् इति यथाभूतं प्रजानाति (संयुत्त, ५.२२९. अंगुत्तर, १.२३५; कोश ८.१ से तुलना कीजिए)—"हे भिक्षुओ ! जो आर्य प्रज्ञा से दृष्ट है, वह दृष्ट है"।

२. पुनरपशिक्षणात्=यत्र शिक्षितः शीलादिषु तत्र पुनरपशिक्षणात् : पृथग्जन प्रतिमोक्ष सवर (व्या० ५७४, ५; ४.१६) उष्मगत् (६.१७) आदि का परित्याग करता है। शैक्ष आर्य कुछ धर्मों का परित्याग करता है किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि तीन शिक्षा उसमें न हो।

३. परमार्थ शीवक का—शुआन चाङ् शान्तिमय अनुवाद करते हैं।

४. शुआन चाङ् के अनुसार; परमार्थ—'जो तीन शिक्षाओं में शिक्षित है या क्योंकि वह तीन शिक्षाओं में शिक्षित है इसलिए उसे शैक्ष कहते हैं।' तिब्बती भाषान्तर, 'क्योंकि वह शिक्षाओं में शिक्षित है इस कारण उसे शैक्ष कहते हैं।'

५. धम्मसंगणि, १०१५।

६. शैक्ष से प्राप्त निर्वाण शैक्ष नहीं कहलाता—केवल संस्कृत (२.३८ ए) शैक्ष है।—धम्मसंगणि, १०१७।

७. (सकलबन्धन की अवस्था को छोड़ करके यह अनुवाद कदाचित् सुष्ठु होगा "क्योंकि पृथग्जन का निर्वाण से योग हो सकता है")

चार प्रतिपन्नक और चार फलस्थ यह आठ आर्य पुद्गल हैं। स्रोत आपन्न फल में प्रतिपन्नक और स्रोत आपन्न से लेकर यावत् अर्हत् फल प्रतिपन्नक और अर्हत्।

नामतः आठ हैं, किन्तु द्रव्यतः, केवल पाँच हैं, अर्थात् प्रथम प्रतिपन्नक जो दर्शन मार्गस्थ है और चार फलस्थ। वास्तव में अन्य तीन प्रतिपन्नकों का प्रथम तीन फलस्थ से व्यतिरेक नहीं है।

अनुपूर्वेण फलचतुष्टय की प्राप्ति के प्रति (अनुपूर्वाधिगम=अनुपूर्वेण चतुःफल-प्राप्ति, व्या० ५७४, २२) ऐसा कहा है। वास्तव में भूयो वीतराग और काय वीतराग जिन्होंने दर्शन मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व यथाक्रम कामावचर क्लेश के ६ प्रकार और ६ प्रकार का प्रहाण किया है, दर्शनमार्ग की अवस्था में स्रोत आपन्न और सकृदागामी हुए बिना, सकृदागामी अनागामी फल प्रतिपन्नक है, यहाँ ऊर्ध्वफल प्रतिपन्नक अधर फलस्थ (६.३०) से व्यतिरेक है।

हमने कहा है कि भावनामार्ग दो प्रकार का है लौकिक या सास्रव लोकोत्तर या अनास्रव (६.१ सी-डी), किस प्रकार के भावना मार्ग से शैक्ष विविध भूमियों से विरक्त होता है।

[२३३] ४५ सी-डी. लोकोत्तर मार्ग से भवाग्र वैराग्य[1]।

लौकिक मार्ग से नहीं। वास्तव में (१) भवाग्र में ऊर्ध्व कोई लौकिक मार्ग नहीं है (ऊर्ध्वभूमि के लौकिक मार्ग से भूमि वैराग्य होता है किन्तु भवाग्र सर्वोच्च स्थान है) (२) जो लौकिक मार्ग जिस भूमि का होता है वह तद्भूमिक क्लेश का प्रतिपक्ष नहीं होता क्योंकि तद्भूमिक क्लेश उस मार्ग में आलम्बनतः अनुशयित होते हैं (तत्क्लेशानुशयितत्वात्)।

जो क्लेश जिस मार्ग में अनुशयित करता है, वह उस मार्ग से प्रहीण नहीं होता; यदि एक मार्ग किसी क्लेश का प्रतिपक्ष है तो निश्चित है कि यह क्लेश इस मार्ग में अनुशयित नहीं करता।

४५ डी. अन्य भूमियों में वैराग्य दो प्रकार होता है।[2]

भवाग्र को वर्जित कर, अन्य आठ भूमियों से, वैराग्य लौकिक मार्ग से भी होता है, लोकोत्तर मार्ग से भी होता है।

४६ ए-बी. लौकिक मार्ग से आर्य वैराग्य में विसंयोग की प्राप्ति द्विविध होती है।[3]

---

१. **लोकोत्तरेण वैराग्यम् भवाग्रात्—५.६ ए-बी, ८.२०।**

२. **अन्यतो द्विधा।**

३. **लौकिकेनार्यवैराग्ये विसंयोगाप्तयो द्विधा॥**

**२.३८ बी, अनुवाद पृ० १८६, टि० १।**

जो आर्य लौकिक मार्ग से प्रथम आठ भूमियों से (कामधातु, ध्यान, तीन आरूप्य) विरक्त होता है, उसको तद्भूमिक क्लेशों से विसंयोग की प्राप्ति होती है; दूसरे शब्दों मे वह प्राप्ति का, इन क्लेशो के प्राप्तिसंख्यानिरोध की प्राप्ति का लाभ करता है।

यह प्राप्ति लौकिक और लोकोत्तर है।

[२३४] ४६ सी. अन्य आचार्यो के अनुसार, यदि वह लोकोत्तर मार्ग से विरक्त होता है, तब भी ऐसा ही होता है।[1]

अन्य आचार्य कहते है कि, लोकोत्तर मा र्ग से भी आर्य वैराग्य में विसंयोग प्राप्ति द्विविध है।—क्यों ?

४६ डी. क्योकि जब अनास्रव विसंयोग त्यक्त होता है, तब भी आर्य को[2] नियुक्त क्लेशों से समन्वागम नहीं होता।

इन अन्य आचार्यों का कहना है कि हम एक क्षण के लिए मान लेते हैं कि जब आर्य लोकोत्तर या आर्य मार्ग से विरक्त होता है तब उसको विसंयोग की लौकिक प्राप्ति नही होती। इस पक्ष में एक आर्य ऐसा हो सकता है जिसने आर्य मार्ग से आकिंचन्या पतन-वैराग्य का लाभ किया है और जो पश्चात् एक ध्यान का निश्रय लेकर (६.६१. सी-डी के अनुसार) अपनी इन्द्रियों का संचार करता है (संचरति)। इस कारण कि यह कृतनु-पूर्वमार्गों का (अर्थात् मृद्विन्द्रिय संगृहीति आरूप्य मार्गों का) त्याग करता है, इस कारण कि यह, केवल तीक्ष्णेन्द्रिय संगृहीत, अनागामिफल से मार्ग का लाभ करता है। यह आर्य ऊर्ध्वभूमिक (आरूप्य) क्लेश के विसंयोग से समन्वागत होता और इस विसंयोग के त्यक्त होने से वह इन क्लेशों से समन्वागत होगा।

४७ ए-बी. किन्तु यदि उसका इन क्लेशों से समन्वागम नही है तो वह भवाग्र से अर्द्धविमुक्त ऊर्ध्वजात के आर्य तुल्य है।[3]

इस आर्य के लिए विसंयोग प्राप्ति लौकिक नहीं है तथापि यह आर्य उक्त क्लेशों से समन्वागत नहीं है।

यथा उस आर्य की जो भवाग्रिक क्लेशों के अर्धप्रकार से वियुक्त है।

---

१.=केचिल्लोकोत्तरेणापि।

२ त्यक्ते क्लेशासमन्वयात् ॥

६.६१ डी-६२ बी।

३.=भवाग्रार्द्धविमुक्तोर्ध्वजातवत् त्वसमन्वयः (व्या० ५७५, २१)।

[२३५] इन प्रकारों से लौकिकीविसंयोग प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि केवल लोकोत्तर आर्यमार्ग से भवाग्रिक क्लेश त्यक्त होते हैं। मानिये कि यह आर्य एक ध्यान का निश्रय लेकर इन्द्रिय संचार करता है और इन भवाग्रिक क्लेशों से विसंयोग लोकोत्तर प्राप्ति··· करता है—आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि, तिस पर भी, यह इसका उन क्लेशों से पुनः समन्वागम नहीं होता।

यथा प्रथम ध्यानभूमि से ऊर्ध्व जात द्वितीय ध्यानादि मे उत्पन्न एक पृथग्जन भूमि संचारवश (६·२१ सी देखिए) कामावचर क्लेशों से विसंयोग प्राप्ति का त्याग करता है तथापि आप मानते हैं कि इसका उन क्लेशों से पुनः समागम नहीं होता।[1]

अतः अन्य आचार्यों का मत अज्ञापक है?[2]

किस भूम से या विविध भूमियो से वैराग्य का लाभ होता है?

४७ सी-डी. अनास्रव अनागम्य से सर्वभूमि से वैराग्य होता है।[3]

[२३६] भवाग्र पर्यन्त सब भूमियो से[4]

---

१. क्योंकि आर्य ने कामावचर क्लेशों से लौकिक और लोकोत्तर विसंयोग प्राप्ति का लाभ किया है, इसलिए पृथग्जन का दृष्टान्त देते हैं। जब वह द्वितीय ध्यान में उत्पन्न होता है, तब प्रथम अन्तर्हित होता है; द्वितीय नहीं।

२. शुआन चाङ्—इतना अधिक है, क्योंकि कहा है कि आर्य भावनाहेय अष्टभूमिक क्लेश से दो मार्गों से विरक्त होता है, और दो प्रकार की विसंयोग प्राप्ति से समन्वागत होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथग्जन केवल सास्रव मार्ग का उपयोग करता है, केवल सास्रव प्राप्ति से समन्वागत होता है। इसका यह भी परिणाम है कि आर्य जो केवल अनास्रव मार्ग से दर्शनहेय क्लेश और भावनाहेय नवमभूमिक क्लेश से हो सकता है, विसंयोग की अनास्रव प्राप्ति का ही लाभ करता है।

३.=अनास्रवेण वैराग्यम् अनागम्येन सर्वतः।

सर्वतः=सब भूमियों से=स्वभूमि से, अधरभूमि से, ऊर्ध्वभूमि से। अनागम्य ८.२२ ए—मौल समापत्ति अर्थात् रूप के चार ध्यान और चार आरूप्यों के सामन्तक होते हैं—प्रथम ध्यान के सामन्तक का नाम अनागम्य है। ऊपर पृ० २२८, टि० १ देखिये।

अनास्रव अनागम्य=वह अनागम्य जिसमें योगी एक चित्त का उत्पाद करता है।=सत्कायदृष्टि आदि आस्रवों से विनिर्मुक्त मार्ग का उत्पाद करता है=अनागम्य में इत्यादि अनास्रव मार्ग।

४. शुआन चाङ् ४७ सी-डी. (दो पादों), ४८ डी. (एक पाद) संकारिका बनाते हैं, और एक चतुर्थपाद जोड़ते हैं—'अनागम्य के अनास्रव मार्ग से सब भूमियों से वैराग्य अन्य आठ से, स्वभूमि तथा एक ऊर्ध्वभूमि से वैराग्य, सास्रव मार्ग से अनन्तर अधरभूमि से वैराग्य (अन्तिम पाद का भाष्य, १४ बी. १-३)।

प्राचीन आर्य धर्म की शिक्षा है कि योगी आस्रवों का क्षय करता है अर्थात् सात समापत्तियों का (४ ध्यान ३ आरूप्य) निश्रय लेकर (अर्थात् इनमें क्लेश का क्षय करने वाली प्रज्ञा का उत्पाद कर सब भूमियों से विरक्त होता है, अंगुत्तर, ४.४२२ : ४.४२६ के अनुसार इसको शोधिये)—(कोश की चतुर्थ आरूप्य को वर्जित किया है, नीचे पृ० २३८, टि० ३)।

अनागम्य का वाद और उसकी वैराग्य में उपयोगिता इस विचार पर आश्रित है कि योगी अधरभूमि के क्लेशो का प्रहाण किये विना ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकता, और वह इसी अधरभूमि में उपक्लेशो से अपने को विरक्त नहीं कर सकता। अतः एक सामन्तक समापत्ति की आवश्यकता है।

[२३७] यदि योगी एक सामन्तक (८.२२) का निश्रय लेकर एक अधरभूमि से विरक्त होता है तो क्या यह मानना चाहिए कि सब विमुक्तिमार्ग सामन्तक से उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे आनन्तर्यमार्ग होते हैं ?[1]

**भाष्य (१४ बी०३) सामन्तकों का निश्चय लेकर अधरभूमियों से वैराग्य होता है, यथा आनन्तर्य मार्ग सामन्तकों पर निश्चित है। क्या ऐसा ही विमुक्ति मार्गों का है? वह प्रथम पाद जोड़कर ४८ ए-सी० की निम्न कारिका बनाते हैं—कारिका-सामन्तक अधर-भूमियों से विरक्त करते हैं। तीन का अन्त्य विमुक्तिमार्ग मूल या सामन्तक से उत्पन्न होता है, ऊर्ध्वभूमियों के लिए केवल मूल से।**

**भाष्य—आठ सामन्तक हैं जो मार्ग का निश्रय हो सकते हैं। ८ भूमियाँ हैं जिनसे वैराग्य प्राप्त करना है। प्रथम तीन सामन्तक उन तीन भूमियों से विरक्त करते हैं जो यथा-क्रम उनके अधर हैं (अर्थात् प्रथम तीन सामन्तक उस मार्ग के निश्रय हैं जो तीन भूमियों से विरक्त करता है। ९वें विमुक्ति मार्ग का साक्षात्कार करने के पूर्व योगमूल ध्यान में प्रवेश करता है या सामन्तक में अवस्थान करता है। ५ ऊर्ध्व-सामन्तक उन भूमियों से विरक्त करते हैं जो उनसे यथाक्रम अधर हैं। ९वें विमुक्तिमार्ग का सम्मुखीभाव करने से पूर्व योग अवश्य मूल में प्रवेश करता है और सामन्तक में नहीं रहता क्योंकि उन पाँच सामन्तकों के लिए जहाँ मूल और सामन्तक समान रूप से उपेक्षेन्द्रिय हैं वहाँ प्रथम तीन ध्यानों में मूल और सामन्तक की भिन्न वेदनेन्द्रिय होता है। कुछ योगी मूल में प्रवेश करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वेदनेन्द्रिय का संचार कठिन है [योगी वहाँ अवश्य प्रवेश करता है जब वह इस संचार की सामर्थ्य रखता है। क्योंकि वैराग्य काल में वह दुःखी होता है] अतः नवें विमुक्तिमार्ग में जब सम्भव होता है, योगी सामन्तक (उपेक्षेन्द्रिय) से मूल में (सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय) [१५ ए ३] जाता है।**

**१. भूमि वैराग्य अर्थात् कामावचर अन्य मध्यानादि भूमिक क्लेश के ९ प्रकारों का (अधिमात्र अधिमात्र आदि का) प्रहाण ९ मार्ग द्वय से होता है—एक आनन्तर्यमार्ग (या**

उत्तर है; नहीं।

४८ ए-बी. तीन भूमियों से विरक्त होने पर अन्त्य विमुक्तिमार्ग ध्यान या सामन्तक से उत्पन्न होता है।[1]

६ उपपत्ति भूमि हैं—कामधातु, चार ध्यान, चार आरूप्य (८.१)

जब तीन भूमियों का जय अर्थात् जब योगी कामधातु, प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान से विरक्त होता है तब नवें विमुक्तिमार्ग की उत्पत्ति सामन्तक या मौल ध्यान से होती है।

४८ सी. ऊर्ध्व यह सामन्तक से नहीं उत्पन्न होता।[2]

ऊर्ध्वभूमियों के लिए अन्त्य, विमुक्ति मार्ग सदा मौल समापत्ति से उत्पन्न होता है। कभी इस समापत्ति के सामन्तक से नहीं। वास्तव में चतुर्थ ध्यानादि की मौल समापत्ति और सामन्तक में तुल्य रूप से उपेक्षेन्द्रिय होता है। प्रथम ध्यानों की भूमियों में दो वेदनेन्द्रिय भिन्न होती हैं मृद्विन्द्रिय योगी

[२३८], नवम् विमुक्तिमार्ग में, मौल समापत्ति में प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि इन्द्रिय संचार दुष्कर है।[3] अतएव नवम विमुक्तिमार्ग जो प्रथम तीन भूमियों से वैराग्य है, सामन्तक समापत्ति से उत्पन्न होता है।[4]

हमने कहा है कि अनागम्य में अनास्रव मार्गों का अभ्यास कर योगी सब भूमियों से विरक्त हो सकता है (६.४७ सी)। यह नहीं कहा है कि अनागम्य से अन्यत्र अन्य भूमियों में भावित अनास्रव मार्गों की तुल्य सामर्थ्य है।

---

प्रहाण मार्ग) और एक विमुक्ति मार्ग। जो योगी काम वीतराग है, वह अनागम्य समापत्ति में समापन्न हो वहाँ प्रथम ८ आनन्तर्यमार्ग और प्रथम आठ विमुक्तिमार्ग का उत्पाद करता है। वह वहाँ ९वें आनन्तर्यमार्ग का भी उत्पाद करता है। प्रश्न है कि क्या नवें विमुक्ति-मार्ग के उत्पाद के लिए वह अनागम्य में रहता है, या प्रथम ध्यान में समापन्न होता है। अन्य सामन्तक और परवर्ती समापत्ति मौल के लिए भी यही प्रश्न है।

१.=[ध्यानाद् सामन्तकाद् वान्त्यो मुक्तिमार्गस्त्रिभूमिजित्।] परमार्थ में शब्दों का यह क्रम है।

२.=[नोर्ध्वसामन्तकात्] अन्य विमुक्तिमार्ग ऊर्ध्व सामन्तकों से उत्पन्न नहीं होता।

३. प्रत्येक सामन्तक में उपेक्षेन्द्रिय होती है। प्रथम तीन ध्यान में सुखेन्द्रिय या सौम-नस्येन्द्रिय होती है (८.७) अतः सामन्तक से मौल समापत्ति में प्रवेश करने के लिए योगी को अपनी इन्द्रिय का संचार करना चाहिए।

४. आनन्तर्यमार्ग जोड़िये—जब योगी अपने वेदनेन्द्रिय के संचार में समर्थ नहीं होता। जब वह समर्थ होता है, तब अन्त्य विमुक्तिमार्ग मौल ध्यान से उत्पन्न होता है, वीतराग-भूमिबहुमन्यात्।

४८ सी-डी. आठ अनास्रव मार्ग से, वह स्वभूमि और ऊर्ध्वभूमि पर जय प्राप्त करता है ।[1]

ध्यान, ध्यानान्तर, तीन आरूप्य—इन भूमियों से भावित अनास्रव मार्ग से योगी स्वभूमि से और ऊर्ध्वभूमियों से विरक्त होता है अधरभूमि से नहीं क्योंकि वह पहले से ही वीतराग है ।

यह सिद्ध है कि लोकोत्तर, आनन्तर्य और विमुक्ति मार्ग मौल समापत्ति में प्रवेश के लिए योगी को अपने वेदनेन्द्रिय का संचार करना होता है, सत्याकार प्रवृत्त हैं (७-१३ ए) अर्थात् आनसतः दुःखतः आदि धर्मों का दर्शन करते हैं ।

४६ ए-सी. लौकिक विमुक्तिमार्ग और आनन्तर्यमार्ग के आकार यथाक्रम शान्तादि उदाहरणादि हैं ।[2]

[२३९] विमुक्ति के लौकिक मार्ग के शान्तादि आकार हैं अर्थात् वह अपने आलम्बन को शान्तादि रूप में देखते हैं। आनन्तर्य के लौकिक मार्ग उदाहरणादि आकार हैं।

यथाक्रम,

४६ डी. उनका आलम्बन ऊर्ध्वभूमि, अधरभूमि है ।[3]

विमुक्तिमार्ग ऊर्ध्वभूमिक को (या ऊर्ध्वस्थान को) शान्ततः, प्रणीततः और निःसरणतः, सम्भावतः देखते हैं ।[4] अधरभूमि को औदारिकतः[5] दुःखिलतः स्थूलभित्तिकतः देखते हैं—उदारतः क्योंकि यह अशान्त है, महायत्नसाध्य (व्या० ५७६,२८) (महाभिसंस्कार-

---

१.=[आर्यैरष्टभिः स्वोर्ध्वभूमिजित् ।।]

चतुर्थ आरूप्य का भवाग्र की समापत्ति में अनास्रव मार्ग का उत्पाद नहीं हो सकता । इस अवस्था के क्लेशों से वियुक्त होने के लिए योगी को अनास्रवमार्ग चाहिए (६.४५ सी-डी) । अतएव तृतीय आरूप्य में भावित अनास्रव मार्ग का वह व्यवहार करता है । यही वाद विसुद्धिमग्ग, ७०८, और देखने में अंगुत्तर, ४.४२२, ४७६ में भी है ।

२ = [लौकिकास्तु विमुक्त्यानन्तर्यमार्गा यथाक्रमं ।] शान्ताद्युदाराद्याकाराः ।

३=उत्तराधरगोचराः ।।

४. व्या० ५७६, २८ सम्भवतः जब योगी अधरभूमि को औदारिकतः देखता है तब ऊर्ध्वभूमि को इसके विपर्यय शान्ततः देखता है । एवमादि एक दूसरे अर्थ के अनुसार योगी शान्तादि इन तीन आकारों में से किसी एक से ऊर्ध्वभूमि को देखता है यह अवश्य नहीं है कि तीनों से देखे—यह निर्वाण के तीन आकार हैं (७'१३ ए) ।

५. महाव्युत्पत्ति, ८५,१४-१६, स्थूलभित्तिकता, औदारिकता, दुःखिलता व्याख्याः खिलं दुर्भेदं (?) कुत्सितं खिलं दुःखिलम् (५७६, ३१) ।

तरत्व) है,[1] दुखिलतः

क्योंकि यह प्रणति (५७६,३२) नहीं है क्योंकि कायचित के दो अत्यन्त दौष्ठुल्य के कारण (बहुदौष्ठुल्यतरत्व) यह प्रतिकूल है; स्थूल भित्तिकतः—क्योंकि इस अधरभूमि द्वारा इस भूमि से निःसरण नहीं सम्भव है यथा भित्ति से निःसरण नहीं सम्भव है।

शान्त, प्रणीत, निःसरण यह आकार उसके विपर्यय हैं।

[२४०] आनुषंगिक निर्देश समाप्त हुआ, अब यह कहना है—

५० ए-बी. यदि वह क्षयज्ञान से अकोप्य है तो अनुत्पादक ज्ञान होता है।[2]

यदि अर्हत् अकोप्यधर्मा (६.५६) है तो क्षयज्ञान के अनन्तर ही आस्रवों के अनागत में अनुत्पाद का ज्ञान होता है (अनुत्पादज्ञान, ६.६७ ए, ८.१ बी, ४ सी.)।

५० बी-सी. विपर्यय में क्षयज्ञान या अशैक्षी दृष्टि।[3]

यदि अर्हत् अकोप्यधर्मा नहीं है तो क्षयज्ञान के अनन्तर वही क्षयज्ञान उत्पन्न होता है या अशैक्षी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है, अनुत्पाद ज्ञान नहीं होता क्योंकि परिहाणि की सम्भावना से (६-५६) वह अनुत्पादज्ञान का उत्पाद नहीं कर सकता या इसका अर्थ यह है कि अकोप्यधर्मा अर्हत् अशैक्षी दृष्टि से समन्वागत नहीं होता।

५० डी. यह दृष्टि सब अर्हतों में होती है।[4]

अकोप्यधर्मा अर्हत् में कभी अनुत्पादज्ञान अनुत्पादज्ञान के उत्तर होता है, कभी अशैक्षी सम्यग्दृष्टि होती है।[5]

हमने चार फलों का निर्देश किया है। यह किसके फल हैं? यह श्रामण्य के फल हैं।[6]

---

१. इदं महाभिसंस्कारं यत्नसाध्यं मार्गेण सहाधरं स्थानम्—शुआन चाङ्—क्योंकि महायत्न से ही इसका अतिक्रमण हो सकता है (५७६,२८)।

२.=[यद्यकोपः क्षयज्ञानाद् अनुत्पादमतिः] (व्या ५७७,११)।

३.=न चेत्। क्षयज्ञानम् अशैक्षी वा दृष्टिः—अशैक्षों की दृष्टि वस्तु को यथाभूत देखना, धर्मों के सामान्य लक्षणों का यथा अनित्यता को यथाभूत जानना।

४.=(सर्वार्हतां तु सा॥)

५.=शुआन चाङ्—अशैक्षी सम्यग्दृष्टि अकोप्यधर्मा में उत्पन्न होती है। यद्यपि इसे व्यक्त रूप से नहीं कहा है क्योंकि सब अर्हत् इससे समन्वागत होते हैं।

६. विभाषा, ६५,७—सामञ्ञ, ब्रह्मञ्ञ और उसके फल संयुत्त, ५.२, विसुद्धिमग्ग, २१५, ५१२।

बुद्धघोष के लिए मार्ग और सामञ्ञों के फल चतुष्टय से सम्प्रयुक्त धर्म न दुःख है न अरियसच्च।

[२४१] श्रामण्य क्या है ?

५१ ए. श्रामण्य अमल मार्ग है।[1]

श्रामण्य अनास्रव मार्ग है—क्योंकि, इस मार्ग के योग से श्रामण्य के योग से (श्रामण्य-योगात्) श्रमण होता है, अर्थात् वह पुद्गलों का क्लेश शमन करता है (शमयति) (धम्मपद, २६५)।

सूत्र में ऐसा कहा है (मध्यम, ४८,१), "वह श्रमण कहलाता है क्योंकि वह सब प्रकार से सावद्य अकुशल धर्म संसरण के अनुकूल धर्म······धर्म एवमादि यावत् जरा मरण का शमन करता है।"

पृथग्जन परमार्थ श्रमण नहीं हैं क्योंकि वह क्लेशो का आप्तान्तिक रूप से शमन नहीं करता।

५१ बी. उसका फल संस्कृत और असंस्कृत है।[2]

श्रामण्य फल संस्कृत और असंस्कृत धर्म है।[3] सूत्र वचन है कि सूत्रों की संख्या चार है।[4] दूसरी ओर,

५१ सी. वह ८६ है।[5]

यह ८६ कौन है ?

५१ डी. क्षयों के साथ विमुक्तिमार्ग।[6]

दर्शनहेय (अभिसमय के १६ क्षण, ६.२७ ए) क्लेशों के प्रहाण के लिए ८ आनन्तर्य मार्ग और आठ विमुक्तिमार्ग है।

[२४२] भावनाहेय क्लेशों के प्रहाण के लिए ८१ आनन्तर्यधर्म है अर्थात् ६ मार्ग जिनसे ६ भूमियों में से (कामधातु···भवाग्र) प्रत्येक के ६ प्रकार के क्लेश प्रहीण होते हैं, और इतने ही विमुक्तिमार्ग हैं।

---

**१.—श्रामण्यममलो मार्गः।**

**२.—संस्कृतासस्कृतं फलम्। अभिधर्म थेरवावी और पुब्बसेलिय के वादों का समन्वय करता है (कथावस्तु, १६.३)।**

**३.—युआनचाङ् उनका स्वभाव विमुक्तिमार्ग (संस्कृत) और प्रतिसंख्यानिरोध का है।**

**४. परमार्थ में चार फल गिनाये हैं, स्रोत आपन्नफलादि और वह सूत्र उद्धृत करते हैं।**

**५.—(एतान्येकोननवतिः)**

**६.—[मुक्तिमार्गाः सहक्षयैः ॥]**

# शुद्धिपत्र

पृष्ठ-संख्या ४३२ के बाद ४४१ पढ़ा जाए।



८६ आनन्तर्य मार्ग श्रामण्य हैं।

८६ विमुक्तिमार्ग श्रामण्य के संस्कृत फल हैं क्योकि वह श्रामण्य के निष्यन्द फल (२-५६ सी-डी) और पुरुषकारफल (२.५६ डी.) हैं।

८६ प्रकार के क्लेशों का प्रहाण या प्रतिसंख्यानिरोध श्रामण्य का असंस्कृत फल है क्योंकि यह श्रामण्य का पुरुषकारफल है (२.५५ डी, पृ० २७६)।[1]

किन्तु यदि वह वाद युक्त है तो क्या भगवन् की देशना का उपसंख्यान नहीं है?[2] नहीं। क्योंकि फलों की संख्या ८६ है।

५२ ए-बी. किन्तु चार फलों की व्यवस्था है—क्योंकि ५ कारण हैं।[3]

भगवत् ने प्रहाणमार्ग की अवस्थाओं को फल बताया है—क्योंकि वहाँ ५ कारण हैं। सिद्धान्त का यह मत है—यह पाँच कारण क्या है?

५२ सी-५३ बी. फल में पूर्वमार्ग का भाग, अपूर्वमार्ग की प्राप्ति, क्षयसंकलन ज्ञानाष्टक का लाभ, षोडशाकार भावना।[4]

[२४३] अर्थात् (१-२) प्रतिपन्नक मार्ग का त्याग, फलमार्ग का लाभ (व्या० ५७७, २८); (३) सर्व प्रहाण की एक प्राप्ति का लाभ (सर्वस्यैकप्राप्तिलाभ) (५-७०); (४) आठ ज्ञान अर्थात्-चतुर्विध धर्मज्ञान, चतुर्विध अन्वय ज्ञान (६.२६, ७.३) का युगपत लाभ; (५) अनित्यादि षोडशाकार का लाभ (लाभ पर, ७.२२)।[5]

चार फलों में से प्रत्येक में यह पाँच लक्षण होते हैं।

किन्तु यदि केवल अनास्रवमार्ग को ही श्रामण्य कहते हैं तो लौकिकमार्ग से प्राप्त फल क्षय अर्थात् सकृदागामिफल और अनागामिफल कैसे श्रामण्य फल हैं?[6]

---

१. पुरुषकारफल वह है जिसकी उत्पत्ति (जायते) और प्राप्ति (प्राप्यते) धर्म के सामर्थ्य विशेष से होती है। विमुक्तिमार्ग श्रामण्य से उत्पन्न होता है, प्रहाण या प्रतिसंख्या-निरोध श्रामण्य के सामर्थ्य से प्राप्त होता है।

२. यथा पृथग्जन पाणिनि के प्रवचन में उपसंख्यान करते हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ बुद्ध के प्रवचन में भी करना चाहिए। (व्या० ५७७, २४)

३.—चतुःफलव्यवस्था तु पञ्चकारणसम्भवात्।

४.—पूर्वत्यागोऽन्यमार्गाप्तिः क्षयसंकलनं फले॥
ज्ञानाष्टकस्य लाभोऽथा षोडशाकारभावना।

५. स्रोत आपन्न फल के प्राप्ति काल में, अर्थात् १६वें कारणों में सर्व दर्शन हेय प्रहाण और भावनाहेय षड्विध क्लेशों के प्रहाण की प्राप्ति जो सकृदागामिफल में संगृहीत है—प्रतिलब्ध होती है; एवमादि।

६. जब एक सकलबन्धन पृथग्जन दर्शन मार्ग में प्रवेश करता है, और तन्मार्ग प्रहातव्य क्लेशों के प्रहाण से स्रोत आपत्ति फल का लाभ करता है, वह पश्चात् भावनामार्ग

५३ सी-डी. लौकिक मार्ग से प्राप्त (प्रहाण) फल है,

क्योंकि यह मिश्र है, क्योंकि इसका धारण अनास्रव प्राप्ति से होता है।[१]

यदि सकृदागामिफल और अनागामिफल लौकिक मार्ग से

[२४४] प्रतिलब्ध होते हैं, तब वह केवल लौकिक भावना के फलस्वरूप मार्ग प्रहाण नहीं है—वास्तव में यह दर्शनमार्ग फलस्वरूप प्रहाण भी है; यह दूसरा प्रहाण पहले प्रहाण से वियुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि दर्शन हेय क्लेश के सर्वप्रहाण और दूसरी ओर लौकिकभावना मार्ग से प्रहातव्य क्लेशों के सर्वप्रहाण की एक प्राप्ति सकृदागामि-अनागामिफल में संगृहीत है।

इसीलिए सूत्र में कहा है, "सकृदागामिफल क्या है ? तीन संयोजनों का (सत्काय, शीलव्रत, विचिकित्सा) का प्रहाण—प्रहाण दर्शन से ही होता है—और काम, द्वेष, मोह का क्षय।"—अनागामिफल क्या है ? "पाँच अवरभागीय संयोजनों का प्रहाण।"[२]

पुनः जो प्रहाण लौकिक मार्ग से संप्राप्त है (सकृदागामी आदि के लिए ६ प्रकार के क्लेशों का प्रहाण), वह अनास्रव विसंयोग की प्राप्ति से संधारित होता है (संधार्यंते) (६.४६ ए-बी. के अनुसार), क्योंकि इस अनास्रव प्राप्ति के बल से, सकृदागामी और अनागामी परिहीणावस्था में मृत नहीं होते—यह फल भ्रष्ट हो सकते हैं, किन्तु वह मरण के पूर्व फल की पुनः प्राप्ति करते हैं (६-६०)।

श्रामण्य,

५४ ए-बी. ब्राह्मण्य है; वह ब्रह्मचक्र है।[३]

---

(अनास्रव) मार्ग से कामावचर क्लेश के प्रथम ६ प्रकार का प्रहाण करता है और अनास्रव पर लोकोत्तर मार्ग से सकृदागामिफल का लाभ करता है अथवा भावना के लौकिक मार्ग से (जिसका दर्शन ६.४९ सी में) बताया जा चुका है—इन्हीं ६ प्रकार का प्रहाण करता है और लौकिक मार्ग से उसी फल का लाभ करता है।

किन्तु पृथग्जन, दर्शनमार्ग में प्रविष्ट होने से पूर्व, लौकिक मार्ग से इन्हीं ६ प्रकार के क्लेशों से युक्त हो सकता है—जब वह इस मार्ग की परिसमाप्ति करता है, वह सकृदागामिफल की प्राप्ति से समन्वागत होता है। यह फल लौकिक मार्ग का है।

१. =[लौकिकाप्तं फलं मिश्रानास्रवप्राप्तिधारणात्] कदाचित् ५१ डी का लौकिकाप्ताः (विमुक्तिमार्गाः)।

२. और ६.३५ सी देखिये।

३. [ब्राह्मण्यम् एव तद्] ब्रह्मचक्रं तु ब्रह्मवर्तनात्।-विभाषा, १८२, २—कोश, ७.१२ (अंगुत्तर, २.८) (व्या०. ५३८, २५)।

यह ब्राह्मण्य है क्योंकि यह क्लेशों को वाह्य करता है;[1] यह ब्रह्मचक्र है।

५४ बी. क्योंकि ब्रह्मा ने इसका प्रवर्तन किया है।

[२४५] अनुत्तर ब्राह्मण्य के योग से[2] भगवत् ब्रह्मा हैं [१८ ए]। वास्तव में सूत्र वचन है, "कि यह भगवत् ब्रह्मा हैं।"[3] सूत्र में उक्त है कि भगवत् शान्त और शीतीभूत हैं।

यह चक्र उनका है; अतः यह चक्र ब्रह्मा का है, क्योंकि उन्होंने उसका प्रवर्तन किया है।

५४ सी. धर्मचक्र दर्शन मार्ग है।[4]

चक्र क्योंकि इसका क्रमण होता है[5]।

दर्शनमार्ग चक्र (चक्ररत्न) स्वभाव है, इसलिए उसे धर्मचक्र कहते हैं।

दर्शनमार्ग कैसे चक्र स्वभाव है?

५४ डी. क्योंकि इसको आशु गाते हैं, इत्यादि; क्योंकि इसके अरादि है।[6]

---

१. क्लेशानां वाहनात्—वाहिता अनेनानेकविधाः पापका अकुशला धर्मा इति ब्राह्मणः। तद्भावो ब्राह्मण्यम् अनास्रवो मार्गः (व्याख्या) धम्मपद, ३८८ से तुलना कीजिए। (व्या० ५७८, २३)।

२. अनुत्तर ब्राह्मण्ययोगाद् इति अनुत्तरानास्रवमार्गयोगाद् इति अर्थः। (व्या० ५७८, २६)।

३. एष हि भगवान् ब्रह्मेति इतद् उदाहरणं सीवकेनोक्तम् (जीवकेनोक्तम्, पृ० २३१ टि० ५ देखिये=पाठ भेद जीवक)—मध्यम, ३४, १२, मज्झिम, १. ३४१, ३६८, संयुक्त, २.२७ : दसबलसमन्नागतो···तथागतो···ब्रह्मचक्कं पवत्तेति। दीघ, ३.८४ में तथागत धम्मकाय ब्रह्मकाय धम्मभूत ब्रह्मभूत हैं; बुद्धघोष की टीका : (ब्रह्म शब्द श्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, सेत्यत्थेन) डाइलाग्स, ३.८१—ब्रह्मभूत=ब्रह्मा और वह एक हैं, बोधिसत्त्वभूमि, आगे १४२ बी देखिये—ब्राह्मं चक्रं प्रवर्तयतीति उच्यते। तत् कस्य हेतोः। तथागतस्यैतदधिवचनं यद् उत ब्रह्मा इति अपि शान्तः शीतीभूत इति अपि। तेन तत्प्रेरितं तत्प्रथमतस्तदन्यैः पुनस्तदन्येषाम्। एवं पारम्पर्येण ब्रह्मप्रेरित सर्वसत्त्वनिकाये भ्रमति तस्माद् ब्राह्मं चक्रम् इति उच्यते—'निर्वान' १९२५, पृ० ७२-७३ (व्या० ५७८, २७)।

४.=[ब्रह्मचक्रं तु दृङ्मार्गः]—संयुक्त, १५, ११।

यह भी विचित्र है कि धर्मचक्र जिसका प्रवर्तन भगवत् ने किया और जिसका प्रवर्तन शारिपुत्र ने भगवत् के पश्चात् किया (संयुत्त, १.१९१) अन्य अवधारणों के बिना देशना है।

५. क्रमणाच्चक्रम्, नीचे पृ० २४९, टि० २ देखिये।

६. व्या० ५७८, २९,=[आशुगत्वाद्यरादिभिः॥ विभाषा, १८२, ३ में १० कारण दिये हैं।

१. क्योंकि इसको आशु गाते हैं, क्योंकि यह १५ चित्तक्षण में सत्याभिसमय करता है, २. क्योंकि वह एक देश का त्याग और अन्य देशो मे भ्रमण करता है (त्यजनक्रमण), यह आनन्तर्यमार्ग का त्याग करता है और विमुक्तिमार्ग में क्रमण करता है; ३. क्योंकि यह अजित का जय और जिनवत् अध्यावसन करता है (अजितजयजिताध्या वसन),

[२४६] आनन्तर्यमार्ग से क्लेश प्राप्ति का छेद कर अजित क्लेशों को जीतता है: क्लेश विसंयोग की प्राप्ति का लाभकर विमुक्तिमार्ग से जित क्लेशों का अध्यावसन करता है; (४) क्योंकि इसका उत्पतन निपतन होता है, क्योंकि वह पर्याय से आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग हैं अथवा क्योंकि यह कामधातु और ऊर्ध्वधातुओं में क्रम से आलम्बन बनता है।

भदन्त घोषक कहते हैं—आर्य अष्टांगिक मार्ग एक चक्र है, क्योंकि अंग अरादि के स्वभाव के हैं—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति अरस्थानीय हैं: सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त और सम्यगाजीव, सम्यक्समाधि नेमिस्थानीय है।[1]

यह पक्ष कि धर्मचक्र दर्शन मार्ग है, किस पर आश्रित है? आगम पर–जिसमें उक्त है कि जिस क्षण में इस दर्शन मार्ग की उत्पत्ति आर्य कौण्डिन्य में हुई, (दोनों ने) इस शब्द को उद्दीपित किया कि भगवत् ने धर्मचक्र प्रवर्तित किया है।[2]

यह मार्ग त्रिपरिवर्त[3] और द्वादशाकार कैसे है?

वैभाषिक कहते हैं—तीन परिवर्त यह हैं १. "यह दुःख आर्य सत्य है, २. यह परिज्ञातव्य है; ३. यह परिज्ञात है।" एक-एक परिवर्त में चक्षु, ज्ञान, विद्या, बुद्धि का उत्पाद होता है। अतः १२ आकार हैं।[4]

---

१. मार्ग के अंगों पर ६.६७, ७१।

२. तदुत्पत्तौ प्रवर्तितम् इति सूत्रे वचनात्—व्याख्या: तद एवम् आर्यस्य कौण्डिन्यस्य दर्शनमार्ग उत्पन्ने देवताभिरुक्तं भगवता प्रवर्तितं धर्मचक्रम् इति सूत्रवचनात्। व्याख्या में एक सूत्र उद्धृत है जो महावग्ग, १.६, २३-३०-(पाठभेद के साथ) के अनुरूप है। लोट्स पृ० ६६, १.१२। (व्या० ५७६, १८)।

संघभद्र (क्षुद्रग्रन्थ, २३.८, ५४ बी)—देव नहीं कहते कि बोधिवृक्ष के तले "धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ" किन्तु यह कहते हैं कि वाराणसी में हुआ। अतः प्रवर्तन का अर्थ है दूसरे में प्रतिवेध कराना। कुछ का कहना है कि देशना तक ही (वाराणसी का सूत्रान्त) धर्मचक्र है किन्तु यह देशना उपाय मात्र है यथार्थक चक्र नहीं है।

३. नेत्तिप्पकरण ६० देखिये।

४. व्याख्या—तत्र प्रत्यक्षार्थत्वाद् अनास्रवा प्रज्ञाचक्षुः। निःसंशयत्वाज् ज्ञानम्। भूतार्थत्वाद् विद्या। विशुद्धत्वाद् बुद्धिः। विशुद्धा धीर् बुद्धिरिति निरुक्तेः॥ पुनर्बाह्यकानां

[२४७] अन्य सत्यों की भी ऐसी ही योजना है[1]—"यह दुःख समुदय है।"

प्रत्येक सत्य के यहाँ परिवर्त और आकार होते हैं, त्रिक् द्वादशक धर्म, धर्मचक्र के तीन परिवर्त और १२ आकार हैं; बारह परिवर्त और ४८ आकार नहीं होते। यथा "द्वय देशनां" (द्वयदेशनावत्) अनेक वस्तुओं की देशना है जिनका द्विक् है (चक्षु और रूप इत्यादि); यथा सत्य स्थान कौशल देशना का पुद्गल बहुसंख्यक सत्यकों में कुशल होता है।[2]

तीन परिवर्तों से यथाक्रम दर्शनमार्ग, भावनामार्ग, अशैक्षमार्ग दर्शित होते हैं।

[२४८] वैभाषिकों का यह निर्देश है (विभाषा, ७९, १८)।

किन्तु यदि ऐसा है, तो दर्शनमार्ग में तीन परिवर्त और बारह आकार न होंगे।

---

सत्येषु दर्शनं कुदृष्टिविचिकित्साविद्यानाम् अप्रतिपक्षः सास्रवं च। ततो विशेषणार्थं चक्षुरादिग्रहणम् ॥ पुनस्त्रिषु परिवर्तेषु प्रथमं दर्शनं चक्षुर्यथादृष्टव्यवचारणं। ज्ञानं यावद् [...] भाविकतामुपादाय। विद्या यावद् विद्यमानग्रहणाद् यथावद्भाविकतामुपादाय। बुद्धिर्यथाभूतार्थावबोधात् ॥ पुनरननुश्रुतेषु धर्मेष्वानुमानिकज्ञानप्रतिषेधार्थं चक्षुरिति आह। आधिमोक्षिकज्ञान प्रतिषेधार्थं ज्ञानमिति। आभिमानिकज्ञानप्रतिषेधार्थं विद्येति। सास्रवज्ञानप्रतिषेधार्थं बुद्धिरिति।

अनास्रव प्रज्ञा चक्षु है, क्योंकि इसके अर्थ का प्रत्यक्ष होता है; ज्ञान है, क्योंकि यह संशय से रहित (७.१) है; विद्या है, क्योंकि इसका अर्थ यथाभूत है, बुद्धि है, क्योंकि यह विशुद्ध है। वास्तव में बुद्धि का निर्वचन विशुद्धा धी है। पुनः बाह्यकों का सत्यदर्शन (दुःखादि) कुदृष्टि, विचिकित्सा अविद्या का प्रतिपक्ष नहीं है, और यह सास्रव है। आर्यों के सत्यदर्शन को इससे विशेषित करने के लिए चक्षुरादि का ग्रहण है......। पुन. सूत्र में 'चक्षु' आनुमानिक ज्ञान के प्रतिषेध के लिए उक्त है, (२ अनुवाद ३२५; ६.६ से तुलना कीजिए); आभिमानिक ज्ञान के प्रतिषेध के लिए विद्या है, सास्रव ज्ञान के प्रतिषेध के लिए बुद्धि है।

विभाषा के अनुसार चक्षु धर्मज्ञान क्षान्ति है, ज्ञान धर्मज्ञान है, विद्या अन्वय क्षान्ति है, बुद्धि अन्वयज्ञान (६.२५-२६) है। कोश, ७.७ में एक दूसरे वाद का व्याख्यान है।

१. प्रतिसत्यमेवं भवन्ति (व्या० ५८१,६)।

२. द्वयसप्तस्थानकौशलदेशनावत्—यह सूत्र ऊपर पृ० २०२ टि० १ में उद्धृत किया गया है—द्वयदेशना.........तेन हि भिक्षो द्वयं ते देशयिष्यामि तच्छृणु साधु च मनसि कुरु भाषिष्ये। द्वयं कतमत्। चक्षू रूपाणि यावत् मनो धर्माश्च।

अतः धर्मचक्र दर्शनमार्ग कैसे स्थापित होगा ?[1] अतएव वही धर्मपर्याय धर्मचक्र है जो वाराणसी में दिया गया, जिसने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, जिसके तीन परिवर्त और १२ आकार हैं—तीन परिवर्त क्योंकि सत्यों का तीन वार क्रमण करना है;[2] बारह आकार क्योंकि यह प्रत्येक सत्य का तीन आकारों में आकारण करता है।[3]

इस धर्मपर्याय के प्रवर्तन से अभिशून्य परसन्तान में इसका गमन प्रेरणा है; यह परसन्तान में अर्थज्ञापन से गमन करता है।[4]

[२४६] अथवा[5] सर्व आर्यमार्ग ही दर्शनमार्ग, भावनामार्ग, अशैक्षमार्ग धर्मचक्र

---

१. व्याख्या अत्र आचार्य आह·········जापानी सम्पादक के अनुसार यह सौत्रान्तिकों का मत है (व्या० ५८१,३२)।

२. (ए) यह दुःख समुदय निरोधमार्ग है, (बी) यह परिज्ञातव्य है·········(व्या० ५८२, ६) (सी) यह परिज्ञात् प्रहीण, साक्षात्, कृत भावित है।

३. त्रिधाकरण—(ए) १० सत्यस्वरूप, (बी) कर्त्तव्य रूप परिज्ञान—क्रिया, (सी) परिनिमित्त परिज्ञान-क्रिया।

४. अभिसमयालंकारालोक अभिधर्म पर आश्रित है—तत्र त्रयः परिवर्ता द्वादशाकारा यस्मिन् धर्मचक्र इति विग्रहः। तत्रामी त्रयः परिवर्ता यद् उत इदं दुःखमार्यसत्यं तत् खल्वभिज्ञाय परिज्ञेयम् अभिज्ञातम्। इदं दुःखसमुदय आर्यसत्यं तद् अभिज्ञाय प्रहातव्यं प्रहीणम्। इदं दुःखनिरोध आर्यसत्यं तद् अभिज्ञाय साक्षात्कर्तव्यं साक्षात्कृतम्।इदं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् आर्यसत्यं तत् खल्वभिज्ञाय भावयितव्यं भावितं मयेति भिक्षवः पूर्वम् अननुश्रुतेषु धर्मेषु योनिशो मनसिकुर्वतः प्रत्यक्षार्थत्वादनास्रवा प्रज्ञा चक्षुरुदयादि निःसंशयत्वाज्ज्ञानं भूतार्थत्वाद् विद्या विशुद्धित्वाद् बुद्धिरुदयादीति एतत् क्रियापदम् एकैकस्मिन् सत्ये त्रिष्वपि योज्यम्। अतः प्रत्येकं चतुर्णामार्यसत्यानां त्रिपरिवर्तनात् त्रिपरिवर्तम्। चक्षुरित्यादयश्चाकाराश्चत्वारस्त्रिपरिवर्तनात् प्रतिसत्यं त्रय इति अतो द्वादशाकारम्। एतावतैव जगदर्थसम्पादनात् परिपूर्णं त्रिपरिवर्तद्वादशाकारं चक्रमिव धर्मचक्रं यत् प्रथमतो वाराणस्यां भाषितं सूत्रम्। यथा राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नमग्रेसरं सर्वस्तु बलकायस्तदेवानुसरन पश्चाद् आगच्छति। तथा सकलत्रैलोक्याधिपतेस्तथागतस्य तत् सूत्रमग्रतः कृत्वा सर्वोऽपि देशनाधर्मः प्रभवति।

(७वें आलोक से उद्धृत)

५. जापानी सम्पादक के अनुसार यह वसुबन्धु का मत है।

विभाषा, ६७, १२—"वैभाषिकों का सामान्यतः मत है कि सर्व आर्यमार्ग धर्मचक्र कहलाता है·········किन्तु भिन्न मत भी हैं। कुछ के अनुसार दर्शनमार्ग धर्मचक्र है। दूसरों के अनुसार वाराणसी का धर्मपर्याय धर्मचक्र है।" जापानी सम्पादक की टिप्पणी, टीकाओं के अनुसार प्रथम मत अब तृतीय है। द्वितीय वह है जिसका कारिका में व्याख्यान है। तृतीय अब द्वितीय है। संघभद्र के अनुसार तृतीय सर्वास्तिवादियों का मौल मत है। फुकुभाङ् कहते हैं कि द्वितीय और तृतीय सौत्रान्तिक और वसुबन्धु के मत हैं।

है क्योंकि विनेयजन के सन्तान में इसका क्रमण होता है।[1] यदि सूत्र में यह उक्त है कि चक्र तब प्रवर्तित हुआ जब कौण्डिन्य ने दर्शनमार्ग का उत्पाद किया तो यह इसलिए है, क्योंकि 'प्र' उपसर्ग आदि कर्म सूचित करता है—प्रवर्तित—जो वर्तित होना आरम्भ करता है। जब परसन्तान में, कौण्डिन्य सन्तान में, दर्शनमार्ग का उत्पाद होता है तो धर्मचक्र प्रवर्तित होना आरम्भ करता है; परसन्तान में प्रवर्तित होना आरम्भ करता है।[2]

प्रत्येक धातु में कितने फल का लाभ होता है?

५५ ए. काम में तीन की प्राप्ति होती है।[3]

तीन की प्राप्ति केवल कामधातु में होती है, अन्यत्र नहीं। इसका अर्थ है—कामधातु में उत्पन्न सूत्रों से।

५५ ए-बी. अन्त्य की प्राप्ति तीन धातुओं में।[4]

श्रामण्य के अन्तफल अर्थात् अर्हत् की प्राप्ति तीनों धातुओं में होती है।

हम अच्छी तरह समझते हैं कि प्रथम दो फल की प्राप्ति, जिसके लिए योगी को कामातिगम होना चाहिए, ऊर्ध्वधातुओं में क्यों नहीं होती, किन्तु तृतीयफल की अप्राप्ति क्यों है?

[२५०] ५५ बी. ऊर्ध्वदर्शन मार्ग नहीं हैं।[5]

कामधातु से ऊर्ध्वदर्शनमार्ग का अभाव है। उसके अभाव काम में विरक्त पुद्गल ऊर्ध्वलोक में पुनरुत्पन्न होता है, अनागामिफल का लाभ नहीं कर सकता।[6]

वहाँ दर्शनमार्ग का क्यों अभाव है?

क्योंकि आरूप्यधातु में श्रवण का अभाव है[7] और अधोधातु उसका आलम्बन नहीं है, क्योंकि दर्शनमार्ग का आलम्बन कामधातु है।[8]

---

१. व्याख्या—क्रमणाच्चक्रमिति कृत्वा।

२. यथा कहते हैं प्रसुप्त ओदनः।

३. =[ कामे त्रयाप्तिः ]।

४. =[अन्त्यस्य त्रिषु ]।

५. नोर्ध्वं हि दृक्पथः (व्या० ५८२, २३)।

६. यह पुद्गल लौकिक मार्ग द्वारा ब्रह्मा के समान कामधातु से विरक्त है। इसे अनागामिफल के लाभ के लिए दर्शनमार्ग की भावना करनी चाहिए। रूपधातु के सम्बन्ध में, आर्य की रूपधातु में उत्पत्ति से ही सिद्ध है कि यह पूर्व ही अनागामिन है।

७. इस धातु में योगी बुद्ध या प्रत्येक बुद्ध नहीं होता अतः (व्या० ५८२,२४) जिस एक बोधि की प्राप्ति वहाँ हो सकती है, वह श्रावक बोधि है किन्तु [illegible] घोष के बिना श्रावक का अभिसमय नहीं होता।

८. अतएव ८.२१ ए-बी में व्याख्यात नियम इसके विरुद्ध है कि आरूप्यधातु में दर्शनमार्ग होता है।

रूपधातु के सम्बन्ध में,

५५ सी-डी. क्योंकि संवेग वहाँ नहीं होता, क्योंकि सूत्र में उक्त है—

"यहाँ विधान, वहाँ निष्ठा"[1]

रूपोपपन्न पृथग्जन समाधि सुख में सर्वथा विहार करता है—सर्वदुःखावेदना का वहाँ अभाव होता है; अतः संवेग वहाँ सम्भव नहीं है, और केवल संवेग से आर्यमार्ग में प्रवेश होता है।

पुनः सूत्र में उक्त है, "पाँच पुद्गल, अन्तरापरिनिर्वायिन आदि यावत् ऊर्ध्वस्रोतम् यहाँ विधान करते हैं, वहीं निष्ठा होती है।" विधा मार्गविधान है, क्योंकि यह निर्वाण का उपाय है। हमने कहा कि, "यदि अर्हत् अकोप्यधर्मा है तो क्षय ज्ञान के अनन्तर

[२५१] अनुत्पादज्ञान (६.५०) की उत्पत्ति होती है।" क्या इसका यह अर्थ है कि अर्हत् में विशेष होते हैं ?

५६ ए. अर्हत् के ६ प्रकार माने जाते हैं।[2]

सूत्र में[3] उक्त है कि ६ अर्हत् हैं—परिहाणधर्मन्, चेतनाधर्मन्, अनुरक्षणाधर्मन्, स्थिताकम्प्य, प्रतिवेधनाधर्मन्, अकोप्यधर्मन्। इनका लक्षण पृ० २५३, २६१ में बतावेंगे।

५६ ए-बी. पाँच श्रद्धाधिमुक्त से उत्पन्न होते हैं।[4]

अकोप्य को वर्जितकर, पाँच श्रद्धाधिमुक्त पूर्वक (६.३२)।

५६ सी. उनकी विमुक्ति सामयिकी है।[5]

यह जानना चाहिए कि इन पाँच अर्हतों की, चेतोविमुक्ति सामयिकी और कान्त[6]

---

१. असंवेगादिह विधा तत्र निष्ठेति चागमात्॥
(व्या० ५८२, २६) विधानं विधा उपाय इत्यर्थः।

२. [ अर्हन्तः षण्मताः ]

३. मध्यम, ३०, ४, संयुक्त, ३३, १०।
पुग्गलपञ्ञत्ति, पृ० १२ में समयविमुत्त, असमयविमुत्त, कुप्पधम्म, अकुप्पधम्म, परिहाणधम्म, अतपरिहाणहाम्म, चेतनाभब्ब, अनुरक्खनाभब्ब—अकोप्यधर्मा अर्हत् शैक्षों से भिन्न है, महावस्तु, ३.२००।

४. =[तेषां] पञ्च श्रद्धाधिमुक्तजाः।

५. =सामयिकी [तद्विमुक्तिः]—परमार्थ—"उनकी विमुक्ति सामयिक और कान्त है।" अंगुत्तर, ३.१७३, नीचे पृ० २६०—चेतोविमुक्ति और प्रज्ञाविमुक्ति, ६.७६ सी।

६. नीचे, पृ० २६०—लोक में जो कान्त है, वह अनुरक्ष्य है। सूत्र में उक्त है—तद्यथा नामैकाक्षस्य पुरुषस्य ज्ञातय एकमक्षि साधु च सुष्ठु चानुरक्षितव्यं मन्येरन्।। मास्य शीतं मास्योष्णं मास्य रजोऽश्मवश्चक्षुषि निपतेयुर्मास्य यदप्येकं चक्षुरविनष्टं तदपि विनश्यदिति। एवमेव समयविमुक्तस्यार्हतो.........(व्या० ५८३,८)।

है, क्योंकि इसकी नित रक्षा होनी चाहिए। अतएव इन अर्हतों को समयविमुक्त कहते हैं। समय की अपेक्षा कर यह विमुक्त होते है—मध्यम पद अपेक्ष का लोप कर समास व्यवस्थित होता है। अतः 'समयविमुक्त' यह रूप सिद्ध होता है, यथा घृतघट, घृत से पूर्ण घट, घृत के लिए (अपेक्ष) घट।[1]

[२५२] इसका समाधिसम्मुखीभाव समयापेक्ष है, विशेष उपकरणों की प्राप्ति, व्याधि का अभाव, स्थान विशेष।

५६ डी. अकोप्यधर्मा के लिए, यह अकोप्य है।[2]

अकोप्यधर्मा की विमुक्ति अकोप्य है, क्योंकि उसकी इस विमुक्ति से परिहाणि नहीं होती; अतः वह अकोप्य है।

५७ ए. अतः वह समयविमुक्त है।[3]

अतः अकोप्यधर्मा असमयविमुक्त है। क्योंकि वह इच्छानुसार समाधि का सम्मुखीभाव करता है, इसलिए उसकी विमुक्ति समय से स्वतंत्र है।

अथवा समय कालवाचक है—पहले पाँच अर्हत् की विमुक्ति से परिहाणि सम्भव है, अतः वह कालान्तर के लिए विमुक्त है, अतः समयविमुक्त है; छठवें अर्हत् की विमुक्ति से परिहाणि सम्भव नहीं है, अतः उसकी अत्यन्त विमुक्ति है, अतः वह असमयविमुक्त है।

५७ बी. वह दृष्टिप्राप्त पूर्वक है।[4]

अकोप्यधर्मा पूर्व दृष्टिप्राप्त था (६.३२)।

क्या यह ६ अर्हत् ब्रह्मचर्य के आदि से, उस गोत्र[5] के, अर्थात्

---

१. घृतघट=घृतपूर्णो घटः या घृतोतापक्षो घटः इसी प्रकार समयविमुक्त=समयापेक्षश्च विमुक्तश्च।

२. =[अकोप्याकोप्यधर्मणः॥]

३. =[असमयविमुक्तोऽतः] (?)

समय के अनेक अर्थ, समन्तपासादिका १.१०७।

४. =दृष्टिप्राप्तान्वयश्च सः। (व्या० ५८३,२४)।

५. गोत्र का क्या अर्थ है? (१)—गोत्र कुशलमूल है: कुछ के ऐसे कुशलमूल होते हैं कि वह परिहाणधर्मा आदि होते हैं। (२) पृथग्जन की अवस्था आरम्भकर जो इन्द्रियभेद होता है, वह गोत्र है। (३) सौत्रान्तिकों का कहना है कि गोत्र चित्त का बीज-सामर्थ्य है। पृथग्जन और शैक्ष की अवस्था में परिहाणधर्मा बीज के होने पर परिहाणधर्म गोत्रक होता है, अशैक्ष या अर्हत् परिहाणधर्मा है क्योंकि वह बीज वृत्ति का लाभ करता है (तद्बीजवृत्तिलाभात्) (व्या० ५८३,३३)।

[२५३] परिहाणधर्मा आदि गोत्र के होते हैं, जिस गोत्र के वह आर्य हैं? अथवा उन्होंने पश्चात् इस गोत्र का लाभ किया है? (२ ए)

५७ सी-डी कुछ अर्हत् आदि से उस गोत्र के होते है, कुछ तप या पूर्णता (उत्तापन) से।[१]

कुछ अर्हत् प्रथमतः चेतनाधर्म गोत्रक होते है, अन्य अर्हत् परिहाणधर्मा होने के पश्चात् इन्द्रिय उत्तापन से चेतनाधर्मा होते हैं—एवमादि।[२]

१. परिहाणधर्मा वह अर्हत् है जो परिहाणि के लिए भव्य और जो न चेतनाधर्म है और न प्रतिवेधनाधर्म[३] है।

२. चेतनाधर्मा वह अर्हत् है जो अनुरक्षणधर्मादि हुए बिना अपने मारण के लिए (चेतायें हुए)[४] भव्य है।

३. अनुरक्षणधर्मा वह अर्हत् है जो अनुरक्षण के लिए भव्य है।[५]

४. स्थिताकम्प्य वह अर्हत् है जो बलवत् परिहाणि प्रत्यय के अभाव में विना अनुरक्षण के ही फल में स्थित होने से भव्य है जो—

[२५४] अभियोग के विना, परिहाणि और वृद्धि दोनो के लिए (वर्धयितुम्) भव्य नहीं है।

---

१. =तद्गोत्रा आदितः केचित् [केचिदुत्तापनात् पुनः॥] उत्तापन, उत्तापना=उत्तप्तीकरण, ६.१८ बी, समानार्थक शब्द संचार है, ६ ४१ सी-डी।

२. अतः ६.५७ बी का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल १६वें क्षण में (६.५७ बी में इस पुद्गल का उल्लेख है) दृष्टिप्राप्त होता है। किन्तु जो पुद्गल पहले से ही शैक्ष है, वह अपनी इन्द्रियों का उत्पन्नकर्ता है और श्रद्धाधिमुक्त होने के पश्चात् दृष्टि-प्राप्तत्व का लाभ करता है।

३. अर्हत् २-५ भी परिहाणि के भव्य है; अर्हत् १ में अर्हत् २-५ के गुणों का अभाव होता है। इसी प्रकार अर्हत् ३-५ चेतनाधर्मा हैं।

४. चेतनाधर्मा चेतयितुं भव्यो न चानुरक्षणाधर्मा यावत् प्रतिवेधनाभव्य इति—चेतनाधर्मन्=मारणधर्मन. आत्मानं चेतयते, नीचे पृ० २५५, टि० १, पृ० २६२, टि० १—परमार्थ—"अपने शरीर को मारना, शरीर का अपकार करना अथवा अपघात करना।" पुग्गलपञ्ञत्ति, पृ० १२ का व्याख्यान भिन्न है।

५. शुआन चाङ्—परिहाणधर्मा दुर्बल परिहाणि प्रत्यय से, प्रतिसन्धि से परिहीण होता है, चेतनाधर्मा नहीं होता। चेतनाधर्मा परिहाणि भय से सदा अपने मारण का विचार करता है। अनुरक्षणधर्मा प्रतिलब्ध का अनुरक्षण करता हैं। अनुरक्षणावधान पर दीघ, ३-२२६।

५. प्रतिवेधनाधर्मा ( =प्रतिवेधनाभव्य ) वह अर्हत् है जो बिना अभियोग के अकोप्यधर्मा में प्रतिवेध करने से (प्रतिवेद्धम्) भव्य है।

६. अकोप्यधर्मा वह अर्हत् है जो परिहाणि के भव्य नहीं है।[1]

प्रथम दो में, शैक्ष की अवस्था में, सातत्य प्रयोग और सत्कृत्य प्रयोग का अभाव था; तृतीय ने केवल सातत्य प्रयोग का अभ्यास किया; चतुर्थ ने केवल सत्कृत्य प्रयोग का अभ्यास किया; पंचम् ने दोनों प्रयोग का अभ्यास किया किन्तु वह मृदिन्द्रिय है; षष्ठ ने जो प्रोक्षेन्द्रिय है दोनों प्रयोगों का अभ्यास किया।

परिहाणधर्मा की परिहाणि अवश्य नहीं होता, एवमादि-प्रतिवेधनाधर्मा अवश्य प्रतिवेध नहीं करता। इन पुद्गलों की यह भिन्न संज्ञाएँ इसलिए हैं क्योंकि यह परिहाण आदि के भव्य हैं। इनका परिहाण आदि सम्भव है। इस नियम के ( विभाषा, ६२,४ ) स्वीकृत होने पर यह सिद्ध होता है कि ६ प्रकार के अर्हत् तीन धातुओं में हो सकते हैं।

किन्तु इस पक्ष मे कि परिहाणधर्मा की अवश्य परिहाणि होती है,……प्रतिवेधना-धर्मा का अवश्य प्रतिवेध होता है, अवस्था बदल जाती है—(१) कामधातु में ६ प्रकार के अर्हत्; (२) ऊर्ध्वधातुओ में दो प्रकार स्थिताकम्प्य और अकोप्यधर्मा—क्योंकि इन धातुओं में (१) परिहाणि (६ ४१ सी-डी ) का अभाव होता है अतः वहाँ परिहाणधर्मा और अनुरक्षणाधर्मा नहीं होते क्योंकि परिहाणि के अभाव में अनुरक्षण का योग नहीं है;

[२५५] (२) चेतना[2] का अभाव होता है, अतः वह चेतनाधर्मा नहीं होता; (३) इन्द्रिय संचार का अभाव होता है (६.४१ सी-डी.) अतः वहाँ प्रतिवेधनाधर्मा का अभाव होता है क्योंकि प्रतिवेध करने के लिए, अकोप्यधर्मा होने के लिए, प्रतिवेधनाधर्मा की इन्द्रियों को तीक्ष्ण करना होता है।

पहले पाँच अर्हतों में, कितने अपने गोत्र से परिहीण होते है, कितने फल से?

५८ ए-बी. चार की गोत्र से, पाँच की फल से परिहाणि होती है।[3]

---

१. सूत्र-पञ्च हेतवः पञ्च प्रत्यया समयविमुक्तस्यार्थतः परिहाणाय संवर्तन्ते। कतमे पञ्च। कर्मान्तप्रसृतो भवति। भाष्यप्रसृतो भवति। अधिकरणप्रसृतो भवति। दीर्घचारिकायोगमनुयुक्तो भवति। दीर्घेण च रागजातेन स्पृष्टो भवति। (व्या० ५८४, १७।)

अंगुत्तर, ३.१७३ में (कथावत्थु १ २, अनुवाद पृ० ६४) पाँच धर्मों की दो सूची हैं—पञ्चिमे धम्मा समयविमुत्तस्स भिक्खुनो परिहानाय संवत्तन्ति—कम्मारामता, भस्सा-रामता, निद्दारामता, संगणिकारामता, यथाविमुत्तं चित्तम्न पच्चवेक्खति। द्वितीय सूची में अन्त की दो आख्याएँ इस प्रकार हैं—इन्द्रियेसु अगुत्तद्वारता, भोजने अमत्तञ्ञुता।

२. ऊर्ध्वधातुओं में आत्मसंचेतना परसंचेतना नहीं होती, कोश, २.४५ सी-डी, अनुवाद पृ० २१६, दीघ, ३ २३१, अंगुत्तर, २ १५९—नीचे पृ० २६२।

३.=[चतुर्णां गोत्रात् पञ्चानां फलाद्धानिः] परमार्थः चार की गोत्र से और पाँच की फल से परिहाणि होती है।

चेतनाधर्मादि चार की गोत्र से परिहाणि होती है; क्योंकि परिहाणधर्मा स्वगोत्र से परिहीण नहीं होता।[1] परिहाणधर्मादि पाँच की फल से भी परिहाणि सम्भव है (विभाषा, ६१, ४)।

५८ बी. किन्तु पूर्व गोत्र और पूर्व फल की परिहाणि नहीं होती।[2] [३ ए] अर्हत् पूर्व गोत्र से, अर्थात् अर्हत् होने से पहले प्राप्त गोत्र से, परिहीण नहीं होता, क्योंकि वह गोत्र शैक्ष-अशैक्ष मार्ग से दृढ़ीकृत है। शैक्ष अपने पूर्व गोत्र से परिहीण नहीं होता क्योंकि यह गोत्र लौकिक और लोकोत्तर मार्ग से दृढ़ किया गया है।

[२५६] किन्तु यह उत्तापनागत गोत्र से परिहीण होता है (उत्तापनागतात्तु परिहीयते)[3]।

---

१. वस्तुतः यह गोत्र अकृत्रिम है।

२. अर्हत् की परिहाणि और तद्विषय में देखिये, अंगुत्तर, १.९६, ३.१७३, कथावत्थु, १.२, २.२ आदि। विवाद के लिए पृ० ४३ पर हमारी टिप्पणी; महादेव के पाँच हेतुओं के लिए देखिए, जे आर ए एस, १९१०, पृ० ४१३।—बुद्धघोष के अनुसार, सम्मितिय, वज्जिपुत्तिय सब्बत्थिवादिन् और महासंघिकों के एक भेद वाले अर्हत् की परिहाणि मानते हैं।

वसुमित्र, वासीलीव पृ० २६२, २६३, २८२, महासंघिक स्रोतआपन्न को परिहाणधर्मा मानते हैं, किन्तु अर्हत् के नहीं; २७२; सर्वास्तिवादी स्रोतआपन्न की परिहाणि अस्वीकार करते हैं, पर अर्हत् की परिहाणि मानते हैं।—इस बात का चीनी ग्रन्थों से समर्थन होता है;

सर्वास्तिवादिन्-प्रथम फल से परिहीण नहीं, अन्य तीन से परिहीण। महासांघिक, महीशासकादि—आर्हत्व से परिहीण नहीं, प्रथम तीन फलों से परिहीण। सौत्रान्तिक, महायान—फल से परिहीण नहीं, दृष्टधर्मसुखविहारों से परिहीण। विभज्यवादिन् का मत, विभाषा, ६१, १५, नीचे पृ० २६४ टि० २।

३. किसी का आक्षेप है (अत्र कश्चिद् आह)—(१) चेतनाधर्मा, जिसका चेतनाधर्म गोत्र शैक्ष-अशैक्ष मार्ग से दृढ़ीकृत है। अपनी इन्द्रियों का उत्तापन कर सकता है और इसलिए एक नवीन गोत्र का लाभ कर सकता है, गोत्र से परिहीण होता है। अतएव वसुबन्धु की युक्ति अयुक्त है (व्या० ५ ५, २६)। (२) यदि उसकी उस गोत्र से परिहाणि नहीं होती जो लौकिक और लोकोत्तर मार्ग से दृढ़ीकृत है, तो उसकी स्रोत-आपत्ति-फल से परिहाणि होगी जो कभी मार्गद्वय से दृढ़ नहीं बनाया गया है।

यशोमित्र का उत्तर (१) वसुबन्धु का अभिप्राय यह है कि चेतनाधर्मा अर्हत्फल से परिहाणि हो, स्वगोत्र से इस कारण परिहाणि नहीं होता यदि शैक्ष-अशैक्ष मार्ग से वह दृढ़ किया गया है। (२) दूसरी बात बिना विचारे की गयी है। गोत्र के प्रति कारण कहा गया है, फल के प्रति नहीं। वास्तव में किसी भी फल की प्राप्ति लौकिक और लोकोत्तर मार्ग से युगपद् नहीं होती, किन्तु इन दो मार्गों से गोत्र दृढ़ किया जा सकता है।

२. योगी प्रतिलब्ध प्रथम फल से परिहीण नहीं होता; किन्तु अन्य से होता है। अतएव उसकी परिहाणि स्रोतआपन्न के फल से नहीं होती है।[1]

इन दो नियमों से, यह सिद्ध होता है कि (१) परिहाणधर्मा के तीन प्रकार सम्भव हैं—परिहाणधर्मा या तो अपने गोत्र का अनुरक्षण कर निर्वाण का लाभ करता है, या अपनी इन्द्रियों का उत्तापन करता है, या परिहीण होकर पुन. शैक्ष होता है; (२) चेतनाधर्मा के लिए चार अवस्थाएँ सम्भव हैं—पूर्वोक्त तीन और चौथी जिसमे उसकी परिहाणि होती है और वह परिहाणधर्मा होता है; (३) एवमादि अनुरक्षणधर्मा, स्थिताकम्प्य और प्रतिवेधना-धर्मा (यह जोड़कर—वह चेतनाधर्मा होता है ··) इसके यथाक्रम ५,६,७ प्रकार होते हैं। (विभाषा ६२, १५)।

जब अर्हत् पुनः शैक्ष होता है, तब उसका जो प्रथम गोत्र था उसी मे वह अवस्थान करता है, अन्य में नहीं, अन्यथा गोत्र-विशेष के लाभ से उसकी वृद्धि ही होगी, परिहाणि नहीं।

[२५७] क्या कारण है कि प्रथम फल से परिहाणि नहीं होती ?

क्योंकि दर्शनहेयक्लेश अवस्तुक (=अनधिष्ठान, ७ ३६) है, वास्तव में सत्काय-दृष्टि मूल के होने से ( ५.७ ) यह, आत्माधिष्ठानवश, प्रवृत्त होते हैं; किन्तु आत्मा नहीं हैं।[2]

क्या आपका कहना है कि इन क्लेशों का आलम्बन अभाव है ? नहीं। सत्य इनके आलम्बन हैं, (यह उपादान स्कन्धों को नित्यादितः ग्रहण करते हैं); अतः अभाव इनका आलम्बन नहीं है किन्तु इनका वितथालम्बन है।

जो क्लेश दर्शनहेय नहीं है किन्तु भावना प्रहातव्य है, वह किसमें भिन्न हैं ? यह क्लेश भी वितथालम्बन हैं।

---

१ स्रोत आपत्तिफल से परिहाणि नहीं होती क्योंकि यदि इस फल की प्राप्ति होती है तो प्रथम फल का ही अवश्य लाभ होता है। सकृदागामिफल से परिहाणि हो सकती है यदि स्रोत आपत्तिफल के लाभ के पश्चात् इसकी प्राप्ति हुई है किन्तु परिहाणि नहीं होती यदि स्रोत आपत्ति की अवस्था में अवस्थान किये बिना सह सकृदागामी होता है। यह (भूयो-वीतराग है, २.१६ सी, ६.३० बी, ४५ बी) यही अनागामिफल की योजना है।

२. विभाषा, ६१.१२ तीन ऊर्ध्वफलों से क्यों परिहाणि होती है ? स्रोत आपत्ति-फल से क्यों नहीं ? क्योंकि दर्शनहेयक्लेश अवस्तु विषय में उत्पन्न होते हैं। इन क्लेशों के प्रहाण से परिहाणि नहीं होती।—यह कैसे कहते हैं कि इनका उत्पाद अवस्तु में होता है ? ······पुनः साकल्येन धातुक्षयालम्बन दर्शनहेय क्लेशों के प्रहाण से स्रोत-आपत्ति-फल व्यव-स्थापित होता है।

यह दर्शनहेय क्लेशों से भिन्न हैं। यह स्पष्ट है कि आत्मदृष्टि रूपादि अनात्म द्रव्यों में अभूत आत्मक का अध्यारोपकर्ता वेदयिताईश्वर के आकार मे करती है और अन्तर्ग्राह-दृष्यादि (५.७) अन्य……आत्माधिष्ठान मे अनुप्रवृत्त होती है, अतः उनके अधिष्ठान का अभाव है, और वह अवस्तुक कहलाती हैं। इसके विपर्यय, दर्शनहेय क्लेश से भिन्न भावना-हेयक्लेश अर्थात् रागप्रतिव्यमान अविद्या का स्वभाव रूपादि में राग, द्वेष, सौमनस्य, सम्मोह है —अतः परमार्थ दृष्टि से इसका एक अधिष्ठान है। क्योंकि मनाप अमनाप जिस वस्तु मत् में है किन्तु आत्म आत्मीय ईश्वरादि का लेश भी नहीं है।

[२५८] अन्य व्याख्यान। भावनाहेय क्लेशों का मनाप अमनाप आदि लक्षण वाला एक प्रतिनियत अधिष्ठान है। किन्तु दर्शनहेय क्लेशों का आत्म आत्मीय लक्षण प्रतिनियत वस्तु नही है। अतः यह निराधिष्ठान है।

एक और बात, जो आर्य शैक्ष उपनिधान नहीं करता (उपनिध्यायति=संतीरयति), उसके भावनाहेय क्लेश स्मृति संप्रमोद से उत्पन्न होते हैं,[1] जो आर्य उपनिध्यान करता है, उसमें इन क्लेशों का उत्पादन नहीं होता। यथा रज्जु में सर्प उपनिध्यान से संज्ञा होती है (विभाषा, ८,१); [उस प्रकार जब उपनिध्यान का अभाव होता है, तो मनापादि की अनित्यता, उसका यथार्थ स्वभाव विस्मृत होता है।] इसके विपर्यय, जो-जो आर्य उप-निध्यान नहीं करता, उसमें आत्मदृष्टि की उत्पत्ति नही होती क्योंकि यह दृष्टि संतीरण से होती है (संतीरकत्वात्)।

अतएव आदि की दर्शनहेय क्लेशो के प्रहाण से परिहाणि नहीं होती।

सौत्रान्तिको का कहना है कि अर्हत् से भी परिहाणि नहीं होती[2]। और यही न्याय है जैसा कि युक्ति और आगम से सिद्ध किया जा सकता है।

(१) आगम के तर्क

१. सूत्र पद है, 'हे भिक्षुओ! जो आर्य प्रज्ञा से प्रहीण हैं, वही प्रहीण है।'[3]

---

१. स्मृतिसंप्रमोषाद=क्लिष्टस्मृतियोगाद् (२, अनुवाद पृ० १५४, १६२ देखिये)।

२. अनास्रव फल से अपरिहाणि पहले पांच अर्हत् के लिए सास्रव (दृष्टधर्म सुख विहार से परिहाणि)।

३. तद्धि भिक्षवः प्रहीणं यदार्यप्रज्ञया प्रहीणं—जापानी प्रवृत्ति के अनुसार, मध्य-मागम २३, १२, जो अनेसकी के अनुसार संयुत्त २.५० (कलारसुत्त)। पहले और अन्तिम फल के लाभ केवल अनास्रवमार्ग (=आर्य प्रज्ञा), ६.४५ सी से होता है।

[२५६] २ द्वितीय सूत्रवाद है, 'मैं कहता हूँ कि शैक्ष से अप्रमाद करना चाहिए'।[1]

भगवत् अर्हत् के लिए अप्रमाद की व्यवस्था नहीं करते।

३. निःसन्देह भगवत् का वचन है, "हे आनन्द ! मैं लाभ सत्कार को अर्हत् के लिए भी अन्तरायकारक कहता हूँ"। किन्तु सूत्र[2] मे उक्त है कि यदि अर्हत् की परिहाणि होती है तो वह दृष्टधर्मसुखविहार मात्र से होती है[3]—"अकोप्य चेतो विमुक्ति, (६.५६ सी) जो काय से साक्षात्कृत है (८ ३५ बी), मैं उसकी किसी पर्याय से परिहाणि नहीं करता।"[4]

---

१. अप्रमादः शैक्षेण कर्तव्यः—मध्यम, ५१, १८, संयुक्त, ८, १६; संयुत्त, ४.२५ (व्या० ५८८, २२)।

२. मध्यमागम, ४६, २१, संयुत्त, २.२३६ (व्या० ५८८, २३)।

तत्र भगवानायुष्मन्तमानन्दमामन्त्रयते स्म। अर्हतोऽप्यहम् आनन्द लाभसत्कारम् अन्तरायकरं वदामीति। आयुष्मान् आनन्द आह। तत्कस्माद् भगवान् एवम् आह। अर्हतोऽप्यहम् आनन्द लाभसत्कारमन्तरायकरं वदामीति। भगवान् आह। न हैवानन्द अप्राप्तस्य प्राप्तये अनधिगताधिगमाय असाक्षात्कृतस्य साक्षात्क्रियायै। अपि तु येऽनेन चत्वार आधिचैतसिका दृष्टधर्मसुखविहारा अधिगतास्ततोऽहमस्यान्यतमस्मात् परिहाणिं वदामि। तच्चाकीर्णस्य विहरत। या त्वनेनैकाकिना व्यपकृष्टेनाप्रमत्तेनातापिना प्रहितात्मना विहरता अकोप्या चेतोविमुक्तिः कायेन साक्षात्कृता ततोऽस्याहं न केन चित् पर्यायेण परिहाणिं वदामि। तस्मात्तर्ह्यानन्दैवं ते शिक्षितव्यं यल्लाभसत्कारमभिभविष्यामो न चोत्पन्नैर्लाभसत्कारैश्चित्तं पर्यादाय अस्थास्यति। एवं ते आनन्द शिक्षितव्यम्-नीचे टि० ४ और पृ० २६६।

३. कोश, २.४ (अनुवाद पृ० ११०), ६.४२ सी-डी., ८.२७।

विभाषा, २०. १८, क्योंकि यह चार प्रकार के सुख विहारों में विहार करते हैं (विहरन्ति) इसलिए कहते हैं कि यह चार दृष्टधर्मसुखविहार का लाभ करते हैं.—१ प्रव्रज्या सुख, २. विवेकसुख, ३. शमथसुख, ४. बोधिसुख। किन्तु ध्यानों का सामान्य नियम अभिप्रेत है। संयुत्त २ २७८, अंगुत्तर, ३.१३१. ५.१० दीघ, ३ ११३, २२२ : एसो खो भिक्खवे भिक्खु चतुन्नं झानानम् अभिचेतसिकानं दिट्ठधम्मसुखविहाराणां निकामलाभी; अंगुत्तर, ४.३६२ : अर्हन्तो······दिट्ठधम्मसुखविहारं एव अनुयुत्ता।

चार सुख आधिचैतसिक (= अधि चेतसि भाव), है, अर्थात् चार मौल ध्यान में संगृहीत है। विभाषा, ८१, ५—चार प्रकार के आधिचैतसिक, चार ध्यान हैं।

बोधिसत्त्वभूमि में ब्रह्मविहार (=अप्रमाण, कोश, ८ २९), आर्यविहार (=विमोक्ष मुख, ८.२४), दिव्यविहार (=ध्यान और आरूप्य) हैं।

४. विभाषा, ६१, १०—सूत्र में उक्त है, 'हे आनन्द ! मैं कहता हूँ कि तथागत से लब्ध चार आधिचैतसिक दृष्टधर्मसुखविहारों से उत्तरोत्तर परिहाणि होती है, यथा श्रावक की परिहाणि लौकिक समागम के अवसर पर होती है। अकोप्याचेतोविमुक्ति (यथापूर्वोक्त

[२६०] किन्तु वैभाषिक का उत्तर है—भगवत् का कहना है कि अकोप्यचेतोविमुक्ति से परिहाणि नहीं होती; अतः जब यह सामयिकी होता है तब परिहाणि होती है।[1]

हम भी यही कहते हैं—सामयिकी चेतोविमुक्ति से परिणाणि होती है। किन्तु यह सामयिकी विचारणीय है। क्या यह जैसा कि हमारा विचार है, अर्हत्व है? अथवा सामयिकी विमुक्ति से भगवत् कभी-कभी लौकिक ध्यान प्रज्ञप्त करते है?[2]

जब मौल ध्यान समाधि[3] का सम्मुखीभाव समय-विशेष से होता है—यथा निःशब्द स्थान में इत्यादि—तब उसे सामयिकी विमुक्ति कहते हैं; उसे कान्त (कान्ता) भी कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक बार परिहाणि होने पर दृष्टधर्मसुखविहार के वियोग के लिए उसकी पुनः-पुनः कामना होती है (कामनीय)। अन्य आचार्य भदन्तराम (सौत्रान्तिक)

[२६१] कहते हैं कि यह समाधि कान्ताविमुक्ति कहलाती है, सास्रव होने से यह असादनीय है (८.५)[4] (ऊपर पृ० २५१)।

---

कायेन साक्षात्कृता) के लिए मैं कहता हूँ कि कोई परिहाणि नहीं है। इस वचन से यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के लिए भी उपभोग (कोश, ६.५८) परिहाणि है। इस वचन से सौत्रान्तिक यह परिणाम निकालते हैं कि सामयिकी और कान्ताविमुक्ति चार सुख विहार हैं। प्रश्न—सूत्र से परिहाणि से क्या अर्थ है? लब्ध परिहाणि या सुख परिहाणि? पहले पक्ष में सुखविहार से परिहाणि नहीं होगी क्योंकि यह धर्म है, जिनकी प्राप्ति का अनुबन्धन होता है, यद्यपि उनका भोग न हो। दूसरे पक्ष में अकोप्याविमुक्ति से परिहाणि होगी क्योंकि यह विमुक्ति सदा सम्मुखीभूत नहीं होती। उत्तर—विमुक्ति के लिए प्रधान वस्तु प्राप्ति है क्योंकि जब वह विमुक्ति से समन्वागत होता है तो उसे पुनः उसका लाभ नहीं करना होता। अतः यद्यपि यह सदा सम्मुखीभूत न हो तथापि कहते हैं कि आर्य को उससे परिहाणि नहीं होती। सुखविहारों के लिए प्रधान वस्तु सम्मुखीभाव है, अतः कहते हैं कि आर्य की उससे परिहाणि हुई है जब इसका भोग नहीं करना।—विभाषा, ८१, ५, जब कोई सुखविहार सम्मुख होता है तो कहते हैं कि अन्य परिहीण हैं।

१. अकोप्याया इति विशेषणात् सामयिक्या अस्ति परिहाणिरिति तत आह सामयिक्या अस्तीति चेदिति। (व्या० ५८५, ७)।

२. वयमप्येवं ब्रूम.। सा तु विचार्या किमर्हत्त्वम् आहोस्विद् ध्यानान्येव लौकिकानि। (व्या० ५८५, ८)।

३. मौलध्यानों के सामन्तकों के विपक्ष में।

४. मौलो हि ध्यानसमाधिः समये सम्मुखीभावात् सामयिकी विमुक्तिरित्युच्यते। पुनः पुनरेषणीयत्वात् कान्ता। आस्वादनीयत्वाद् इति अपरे।

इसके विपर्यय, अर्हत्वविमुक्ति सामयिकी नहीं है क्योंकि यह नित्य अनुगत है (नित्यानुगतत्वात् : प्राप्तियोगेन); यह कान्ता भी नहीं है क्योंकि यह पुनः प्रार्थनीय नहीं है। यदि अर्हत्व से परिहाणि सम्भव होती तो भगवत् यह क्यों कहते कि अर्हत् आधिचैतसिक दृष्टधर्मसुखविहार में ही परिहीण होता है।[1]

अतएव अकोप्याचेतोविमुक्ति सब अर्हतों की होती है।

एक अर्हत् दृष्टधर्मसुखविहारों से परिणत होता है, जब लाभसत्कार से व्याक्षिप्त होने के कारण वह समाधिवशित्व से भ्रष्ट होता है, यह मृद्विन्द्रिय अर्हत् है। एक अर्हत् की परिहाणि नहीं होती—यह तीक्ष्णेन्द्रिय अर्हत् है।[2] जिस अर्हत् की दृष्टधर्मसुखविहारों से परिहाणि होती है; वह परिहाणधर्मा है। इसी प्रकार चेतनाधर्म आदि की योजना होनी चाहिए।[3]

किन्तु अपरिहाणधर्मा, स्थिताकम्प्य और अकोप्यधर्मा में क्यों आदि विशेष हैं?[4]

[२६२] प्रथम अनुत्तापनागत है—यह स्वभावतः आदि से तीक्ष्णेन्द्रिय है; तृतीय उत्तापनागत है—दोनों परिहाणि उन समाधि विशेषों में नहीं होती, जिसका वह उत्पाद कर सकते हैं। द्वितीय की परिहाणि स्वभूमि के गुणों से नहीं होती—किन्तु या तो वह अन्य गुण विशेष का उत्पाद नहीं करता और यदि करता है तो वह उस गुण विशेष से कम्पित होता है। (तस्मात्तु कम्पते)। यह तीन आर्यों का विशेष है।

---

१. अर्हत्वविमुक्तिस्तु नित्यानुगतत्वान न युज्यते सामयिकीति। अपुनःप्रार्थनीयत्वान्न कान्तेति। यद्यर्हत्वात्परिहाणिसम्भवोऽभविष्याद् आधिचैतसिकेभ्य एव किमर्थं परिहाणिम् अवक्ष्यत्।

२. दृष्टधर्मसुखविहारेभ्यस्तु कश्चिल्लाभसत्कारव्याक्षेपदोषात् परिहीयते वशित्वभ्रंशात् (=समाधिसम्मुखीभाववशित्वभ्रंशात्) यो मृद्विन्द्रिय। कश्चिन्न परिहीयते यस्तीक्ष्णेन्द्रियः।

३. (१) यः परिहीयते दृष्टधर्मसुखविहारेभ्यः स परिहाणधर्मा; (२) यो न परिहीयते तत एव सोऽपरिहाणधर्मा; (३) यः समाधिभ्रंशभयाद् आत्मानं चेतयते (२ अनुवाद पृ० २१६) स चेतनाधर्मा; (४) योऽनुरक्षति कथं चित् गुणविशेषं सोऽनुरक्षणधर्मा; (५) यो यस्मिन्नेव गुणे स्थितस्तस्माद् अननुरक्षन्नपि न कम्पते स स्थिताकम्प्यः; (६) यः परेण प्रतिविध्यति (गुण विशेषम् उत्पादयतीति अर्थः) स प्रतिवेधनाभव्यः; (७) यो न कुप्यति (उत्पन्नेभ्यो न परिहीयते) सोऽकोप्यधर्मा।

प्रज्ञा विमुक्त और उभयतोभागविमुक्त (६.६४) को जोड़कर ९ अशैक्ष होते हैं।

४. वसुबन्धु प्रश्न करते हैं और उसका उत्तर देते हैं।

४. किन्तु आयुष्मान् गोधिक की अर्हत्व से परिहाणि क्यों नहीं हुई ?[1]

आयुष्मान् गोधिक शैक्ष थे, आस्वादना (८.६) के आधिक्य के कारण और मृद्विन्द्रिय होने के कारण वह सामयिकी विमुक्ति से पुनः-पुन परिहीण हुए—संवेगवश उसने शस्त्र से प्रहार किया (शस्त्रम् आधारयन्, वाहयन्)। काय और जीवन में उसका निरपेक्षत्व होने के कारण, उसने मारण काल में ही अर्हत्व की प्राप्ति की और परिनिर्हृत हुआ।[2]

५. दशोत्तर में कहा है, "एक धर्म का उत्पाद करना चाहिए (उत्पादयितव्य), अर्थात् सामयिकी कान्ता विमुक्ति का। एक धर्म का साक्षात्कार करना चाहिए (साक्षात्कर्तव्य), अर्थात् अकोप्याचेतोविमुक्ति का।"[3]

यदि सामयिकी कान्ता विमुक्ति अर्हत् होती, यदि इसीलिए अर्हत्व दो प्रकार का होता, तो केवल दशोत्तर सूत्र में ही क्यों

[२६३] अर्हत्व का द्विग्रहण दो भिन्न नामों से होता ? पुनः आगम में कहीं भी उक्त नहीं है कि 'अर्हत्व का उत्पाद करना चाहिए' (अर्हत्वमुत्पादयितव्यम्); वह सर्वत्र कहता है कि अर्हत्व का साक्षात्कार करना चाहिए।

क्या आप कहेंगे कि मृद्विन्द्रियसंगृहीत अर्हत्व उत्पाद्य है ?[4] इससे क्या ज्ञापित होता है ? यदि इससे यह ज्ञापित होता है कि इसका उत्पादन कम है, यदि यह ज्ञापित होता है कि यह उत्पाद के योग्य है ? तो अन्य प्रकार का अर्हत्व और भी योग्य है।

अतएव सामयिकी विमुक्ति अर्हत् नहीं है।

६. किन्तु यदि ऐसा है तो प्रवचन के समयविमुक्त अर्हत् का क्यों उल्लेख है ? यह वह अर्हत् है जो मृद्विन्द्रिय होने से समाधि के सम्मुखीकरण में समयापेक्ष है। इस अर्हत् का विपक्ष असमयविमुक्त है।

---

१. वैभाषिक का आक्षेप : नन्वायुष्मान् गोधिकोऽर्हत्वात् परिहीणः।

परमार्थ में यह एक पाद अधिक है : "गोधिक समयविमुक्ति था"। यह गोधिक पर जो चेतनाधर्मा आर्य का अच्छा उदाहरण है; संयुत्त, १.१२०, धम्मपद की अट्ठकथा, ५५,; संयुक्त, ३९, १०, भिन्न है। विभाषा, ६०, १५; एकोत्तर, १९, ५, (वक्कलि)।

२. मरणकाल एवार्हत्वं प्राप्तः —वह मरणकाल में ही अर्थात् शस्त्राधान के उत्तर-काल में ही अर्हत्व की प्राप्ति करता है; परिनिर्वृतश्च-और उसने उसी शस्त्र प्रहार से (तेनैव शस्त्रप्रहारेण) परिनिर्वाण का लाभ किया (व्या० ५९०, १६)।

३. दीघ, ३.२७३ भिन्न है : कतमो एको धम्मो उप्पादेतब्बो ? अकुप्पं ञाणम्।— कतमो एको धम्मो सच्छिकातब्बो ? अकुप्पा चेतोविमुत्ति।

४. उत्पाद्य, इसका व्याख्यान ३.३, १७२ या ३.३, १५६ के अनुसार है।

७. अभिधर्म[1] में उक्त है कि कामराग की उत्पत्ति तीन स्थानवश होती है—

१. काम—रागानुशय अपरिज्ञात है, अपरिहीण है; (२) कामराग पर्यवस्थान के अनुकूल धर्मों का सम्मुखीभाव होता है; (३) अयोनिशोमनसिकार है। [किन्तु अर्हत् की अवस्था में इन तीन स्थानों का युगपत होना सम्भव नहीं है।]

क्या यह कहेंगे कि अभिधर्म में उसका मरण का वर्णन है जिसकी उत्पत्ति परिपूर्ण कारण से होती है [ किन्तु कामराग की उत्पत्ति अपरिपूर्ण कारण से से भी केवल बाह्य विषय के बल से होती है ]? किन्तु किस धर्म की उत्पत्ति होती है जिसके कारण परिपूर्ण न हों ?[2]

२. अब युक्ति के तर्कों का विचार करें।

[२६४] अर्हत् में क्लेश प्रतिपक्ष धर्मों की उत्पत्ति होती है जिनका स्वभाव ऐसा है कि क्लेश अनुत्पत्तिधर्मा हो जाते हैं। अतः अर्हत् का परिहाणि कैसे हो सकती है ?

क्या आपका कहना है कि इस रूप की उत्पत्ति अर्हत् में नहीं होती; और क्लेश बीज रूप से उसमें होते हैं,[3] जो क्लेश अनुन्मूलित हैं, उनकी बीजधर्मता उसमें होती है। इस पक्ष में क्षीणास्रव अर्हत् कैसे होता है ? और यदि वह क्षीणास्रव नहीं है तो अक्षीणास्रव कैसे अर्हत् होता है ?[4]

३. किन्तु वैभाषिक का उत्तर है, कि अर्हत् की अपरिहाणि का वाद अंगारकर्षूपम के विरुद्ध।[5]

---

१. प्रकरणपाद, ३, १०, विभाषा, ६१, १; कोश, ५.३४ देखिये। तिब्बती भाषान्तर और शुआनचाङ्, "तीन कारणों से कामराग का अनुशय उत्पन्न होता है।"

२. व्याख्या : तद्यथा चक्षूरूपालोकमनस्कारसामग्री चक्षुर्विज्ञानस्योत्पत्तये प्रसिद्धा सा तदन्यतरविकला सती तदुत्पत्तये न भवति।

३. तद्बीजधर्मतायाम् अनपोद्धृतायाम् अर्थात् क्लेशबीजस्वभावेऽनुन्मूलिते।

४. विभाषा, ६१,१५—विभज्यवादी अर्हत् परिहाणि का प्रतिषेध क्लेशोत्पाद के अर्थ में करता है और दृष्टान्त देता है। जब घट का होता है तो केवल कपाल अवशिष्ट होते हैं जो घट नहीं है। यही प्रकार अर्हत् के लिए वज्रोपम (६.४४) क्लेशों का भंग करता है। अतः अर्हत् में क्लेश का और उत्पाद नहीं होता। उसको परिहाणि नहीं होती। जब वृक्ष दग्ध होता है तो केवल क्षार अवशिष्ट होता है। क्लेश अनास्रव ज्ञान से दग्ध हुए हैं—किन्तु यह कहना कि अर्हत् की परिहाणि नहीं होती, उस सूत्र के विरुद्ध है जिसमें दो प्रकार के अर्हत् उक्त हैं, जो कोप्य, अकोप्यधर्मा है। किन्तु विभज्यवादीना के दृष्टान्तों का क्या प्रतिविधान है ? उनके प्रतिविधान का स्थान नहीं है—यह न सूत्र है, न विनय, न अभिधर्म········।

५. परमार्थ में एक पाद अधिक है : अंगारकर्षूपम के कारण अर्हत् परिहाणि।

इस सूत्र में[1] उक्त है कि, "श्रुतवान आर्य श्रावक जो इस प्रकार आचरण और विहार करता है (एवं चरत एवं विहरतरा),[2] उसके लिए कदाचित् ऐसा होता है[3] कि, वह स्मृति सम्मोह,

[२६५] के कारण अकुशल चित्त का उत्पाद करता है।" यह आर्य श्रावक शैक्ष नहीं है, किन्तु सूत्र में ज्ञापित अर्हत् है, क्योंकि सूत्र में आगे चलकर कहा है, 'दीर्घकाल तक उसका चित्त विवेक निम्न यावत् निर्वाण प्राग्भार है" और हम यह भी जानते हैं[4] कि सूत्र में अन्यत्र कहा है कि विवेक निम्नचित्त आदि गुण अर्हत् के बल हैं और हम बल का लक्षण इस अभिधान से कि उसका चित्त "उन सब सास्रवस्थानीय धर्मों के प्रति शीतीभूत वान्तीभूत है," निर्दिष्ट है।

हमारा उत्तर है—हाँ, सूत्र इस प्रकार के हैं।[5] किन्तु अंगारकर्षूपम की अभिसन्धि शैक्ष से है, अर्हत् से नहीं, अतः अदोष है। वास्तव में केवल शैक्षावस्था के लिए ही यह

---

१. संयुत्त, ४. १९०, संयुक्त, ४३, १४, सूत्र का शेष जो यहाँ उद्धृत है नीचे ६-६० ए में उद्धृत है।

पालि संस्करण यह है : तस्स चे भिक्खवे भिक्खुनो एवं चरतो एवं विहरतो कदाचि करहचि सतिसम्मोसा उप्पज्जन्ति पापका अकुशला धम्मा सरसंकप्पा संयोजनिया। दन्धो भिक्खवे सतुप्पादो। अथ खो नं खिप्पमेव पजहति विनोदेतिब्यन्तिकरोति अनभावं गमेति।

२. वैभाषिक एवं चरतः का अर्थ स्मृतिमतश्चरतः करता है 'जो स्मृति पूर्व भिक्षु के सब आचरण करता है क्योंकि स्मृति शब्द अनन्तर उक्त है (अनन्तरं स्मृतिवचनात्) किन्तु संयुत्त, ४.१८९, १.८ देखिये। (व्या० ५९१, २३)।

३. चीनी अनुवादक—अस्ति समयः अस्त्यवकशो यत्......। किन्तु व्याख्या (५९२, ५) के अनुसार—कदाचित् स्मृतिसंप्रमोषाद् उत्पद्यन्ते पापका अकुशला वितर्काः।

४. अंगुत्तर, ४.२२४, संयुक्त, २६,२३।

कति भवन्तार्हतो भिक्षोः क्षीणास्रवस्य बलानि। अष्टौ शारिपुत्र। अर्हतो भिक्षोर्दीर्घ रात्रं विवेकनिम्नं चित्तं यावत् निर्वाणप्राग्भारम्। अंगारकर्षूपमाश्चानेन कामा दृष्टा भवन्ति। यथास्य कामान् जानतः कामान् पश्यतो यः कामेषु कामच्छन्दः कामस्नेहो...कामाध्यवसानं तदस्य चित्तं न पर्यादाय तिष्ठति...आस्रवस्थानीयैर्धर्मैः शीतीभूतं वान्तीभूतं।

यं पि भन्ते खीणासवस्स भिक्खुनो विवेकनिन्नं चित्तं होति विवेकपोणं विवेकपब्भारं विवेकट्ठं नेक्खम्माभिरतं व्यन्तिभूतं, सब्बसो आसवट्ठानियेहि धम्मेहि, इदं पि...बलं।

५. किन्तु यह वचन शैक्षावस्था में भी सम्भव है, किन्तु इतना विशेष है कि, अशैक्ष में यह गुण प्रकर्ष से (प्रकर्षेण) होते हैं। कामावचरास्रव स्थानीय धर्मों के प्रति शैक्ष का शीतीभाव है।

वचन हो सकता है कि "जब तक भिक्षु के चार सुप्रतिविद्ध नहीं है, तब तक कदाचित् क्लेशों की उत्पत्ति उसमें होती है, यद्यपि उसके चार इस प्रकार के हों।"[1]

वैभाषिक मत है कि अर्हत्व से भी परिहाणि होती है।

[२६६] क्या केवल अर्हत् ६ गोत्रों में विभक्त है? क्या दूसरों के लिए भी ऐसा है? [७ ए]

५८ सी. शैक्ष और अनार्य के भी ६ गोत्र हैं।[2] शैक्ष और पृथग्जन के भी इसी प्रकार ६ गोत्र हैं—यह गोत्र अर्हत् के गोत्र के पूर्वक हैं।

५८ डी. दर्शनमार्ग में इन्द्रिय संचार नहीं है।[3]

दर्शनमार्ग से बाह्य इन्द्रिय संचार होता है किन्तु दर्शनमार्ग में नहीं; क्योंकि आशु दर्शन के कारण (दर्शनमार्ग १५ क्षण का है, ६.२८) वहाँ इन्द्रिय संचार के लिए प्रयोग सम्भव नहीं है।[4]

कोई पृथग्जन[5] की अवस्था में इन्द्रिय संचार करते हैं; कोई श्रद्धाधिमुक्तावस्था[6] में।

---

१. सूत्र में है—यावत्तु चारो न सुप्रतिविद्धः। व्याख्या (५६२.४) के अनुसार पिण्डपातादिचारः। संयुत्त. ४.१८६, १.७, चारो च विहारो च अनुबुद्धो होति चारादि अनुबुद्ध, सुप्रतिबुद्ध होते हैं, जब भिक्षु मनापादि विषयों में आसक्त नहीं होता।

२. =[ षड्गोत्रा अनार्य शैक्षाः ]

अतएव मोक्षभागीय और निर्वेधभागीय ( ६.२४,१७ सी ) ६ प्रकार के हैं।

३. परमार्थः दर्शनमार्गे नेन्द्रियसंचारः।

४. प्रयोगासंभवान्न दर्शमार्गे—अतः एक मृद्विन्द्रिय पृथग्जन जो दर्शन मार्ग में प्रवेश करता है, अवश्य मृद्विन्द्रिय शैक्ष होता है, अपने गोत्र का अनुसरण करता है।

५. क्या अनित्यादि आकार पतित मार्ग से (७.१३) (व्या० ५६२,१४) (लोकोत्तर मार्ग), क्या औदारिकादि आकार के मार्ग से अथवा शान्तादि आकार के मार्ग से वह इन्द्रियों का संचार करता है। हमारा मत है कि पृथग्जन उभय प्रकार से इन्द्रियसंचार करता है क्योंकि आगे आचार्य इस अर्थ को सूचित करते हैं कि सास्रव मार्ग से आर्यों का इन्द्रियसंचार नहीं होता ( ६-६१बी ), अतः पृथग्जन इस इच्छा से कि मेरी इन्द्रियाँ तीक्ष्ण हों, प्रयोग करता है और लौकिक और लोकोत्तर मार्ग का अभ्यास कर (अभ्यस्य)—आनन्तर्य और विमुक्तिमार्ग—क्रम से इन्द्रियसंचार का लाभ करता है।

६. ६-३६ सी— यहाँ केवल शैक्ष और पृथग्जन का अधिकार है अर्हत् भी इन्द्रियसंचार करता है (व्या० ५६२,२१)।

पूर्वोक्त सूत्र (पृ० २५६) में कहा है, "मैं कहता हूँ कि चार लब्धदृष्टि धर्मसुख-विहार में से किसी से भी उसकी परिहाणि हो सकती हैं।

[२६७] किन्तु जिस अकोप्यचेतोविमुक्ति का उसने सम्मुखीभाव किया है, उससे कहता हूँ कि उसकी किसी पर्याय से परिहाणि नहीं होती।"

अकोप्यधर्मा अर्हत् की परिहाणि दृष्टधर्मसुखविहारों से कैसे होती है ?

५६ ए-बी. परिहाणि तीन प्रकार की मानी जाती है—प्राप्त की, अप्राप्त की और उपभोग की।[1]

जो गुण की प्राप्ति से परिहीण होता है, उसकी प्राप्ति से परिहाणि होती है।

जो प्राप्तव्य गुण की प्राप्ति नहीं करता, उसकी अप्राप्ति से परिहाणि होती है।

जो प्राप्त गुण का सम्मुखीभाव नहीं करता, उसकी उपभोग से परिहाणि होती है। इन परिहाणियों में,

५६ सी-डी. अन्त्य, बुद्ध की; अकोप्यकी, मध्यकी भी; अन्य की तीनों प्रकार परिहाणि।[2]

१. बुद्ध की उपभोग परिहाणि ही होती है—(विनेय जन के कार्य में व्यापृत होने से वह दृष्टधर्मसुखविहार का उपभोग नहीं करते)। २. अकोप्यधर्मा की उपभोग परिहाणि और अप्राप्त परिहाणि होती है क्योंकि उसने पुद्गलाविशेष के धर्मों का

[२६८] प्रापण अवश्य नहीं किया है।[3] ३. जो अर्हत् अकोप्य नहीं है, उनकी

---

१. [ प्राप्ताप्राप्तोपभोगेभ्यः परिहाणिस्त्रिधा मता। ]
हम अंगुत्तर ५.१६६ से तुलना कर सकते हैं—अनधिगतं नाधिगच्छति। अधिगता परिहायति···
हमने देखा कि निर्वाण का उपभोग होता है, २ अनुवाद पृ० ११०, ११२।

२. =[ अन्त्याशास्तुरकोप्यस्य मध्याप्यन्यस्य तु त्रिधा।। ]
विभाषा, ६१,११—दो मत=(१) समयनियुक्त के लिए तीन, परिहाणि, अकोप्य और प्रत्येक के लिए अन्य दो, बुद्ध के लिए तृतीय। (२) समयविमुक्त के लिए तीन; परिहाणि, अकोप्य और प्रत्येक के लिए अन्य, बुद्ध के लिए कोई भी भोग परिहाणि होती है। वसुबन्धु प्रथम आचार्यों के वाद को स्वीकार करते हैं, द्वितीय महायान करी हैं।
कोश, ४.१२ सी, ६ पृ० २५६ से तुलना कीजिए मज्झिम, १.२४६।

३. अकोप्यधर्मा के शारिपुत्र महामौद्गलायन आदि महाश्रावकों के धर्म प्राप्त नहीं किये हैं; यथा प्रान्तकोटिक (७.४१) का उसमें अभाव है। महाश्रावकों ने भी बुद्ध या स्वयंभू के विशेष धर्म नहीं प्राप्त किये हैं और न प्राप्त करेंगे (१.१ (पृ० २) और ७.३० देखिये। (व्या० ५६२, २६)।

प्राप्ति परिहीण भी होती है। अतएव इस वचन का उक्त सूत्र से विरोध नहीं है कि अकोप्य-धर्मा की फल से परिहाणि नहीं होती।

अपरिहाणिवादी कहते हैं, "सब अर्हतों की अनास्रव विमुक्ति अकोप्या है—यह सत्य है किन्तु अकोप्यधर्मा का व्यवस्थान वही है जो हमने कहा है; अतः वह अकोप्य है—अकोप्यधर्मा की परिहाणि दृष्टधर्मसुखविहारों से कैसे होती है।"[1]

जिस आर्य की अर्हत्वफल से परिहाणि होती है क्या वह प्रतिसन्धि का ग्रहण करता है।

६० ए. फल से भ्रष्ट होकर वह मृत नहीं होता।[2]

---

१. दो अर्थ सम्भव हैं। (व्या० ५६३, ३)।

(ए) सौत्रान्तिक की प्रतिज्ञा है कि ६ अर्हतों की विमुक्ति अकोप्या है। वैभाषिक दोष दिखाता है कि यदि सब अर्हत् की अनास्रवविमुक्ति अकोप्या है तो केवल असमयविमुक्ति ही क्यों अकोप्यधर्मा व्यवस्थापित किया गया, अन्य नहीं? सौत्रान्तिक उत्तर देता है, "यह निश्चय है कि सब अर्हत् की अनास्रव विमुक्ति अकोप्या है किन्तु अकोप्यधर्मा का यह व्यवस्थान वैसा है जैसा हमने कहा है (पृ० २६१, १.१२), अर्थात् कोई लाभ सत्कार के व्याक्षेप दोष से समाधिवशित्व से भ्रष्ट हो दृष्टधर्मसुखविहारों से परिहीण होता है, यह मृदिन्द्रिय अर्हत् है। अन्य तीक्ष्णेन्द्रिय अर्हत् की परिहाणि नहीं होती।" यह अन्तिम अकोप्य-धर्मा कहलाते हैं, क्योंकि मृदिन्द्रिय अर्हत् की दृष्टधर्मसुखविहार विशेष के कारण से परिहाणि होती है, किन्तु तीक्ष्णेन्द्रिय अर्हत् की परिहाणि नहीं होती (अर्थात् वह प्राप्ति का त्याग नहीं करता) उसका सूत्र में यह जो कहा है कि अकोप्यधर्मा की दृष्टधर्मसुखविहार से परिहाणि कैसे होती है, वैभाषिक से अकोप्य है।

(बी) यह पूर्व उक्त है कि अकोप्यधर्मा की परिहाणि दृष्टधर्मसुखविहार से होती है। इस अवशिष्ट अभिधान के होते हुए यह कहते हैं कि, "सब अर्हत् की अनास्रवविमुक्ति अकोप्या है" अर्थात् 'इस विमुक्ति की प्राप्ति से ही अकोप्यधर्मा व्यवस्थापित नहीं होता, अतः यह कहते हैं कि अकोप्यधर्मा का व्यवस्थान वैसा ही है जैसा हमने कहा है, अतः यह जो कहा है कि, "हैं" कैसे यह अबोध है। (व्या० ५६३, ११)।

२.—म्रियते न फलभ्रष्ट —यह अर्हत् परिहाणिवाद के महत्व को बहुत कम करता है। संघभद्र : जब आयुः प्रमाण का क्षय सन्निकट होता है तो परिहाणि नहीं होती क्योंकि स्मृतिसंप्रमोष नहीं है। यदि आयु अब भी अवशिष्ट होती है तो परिहाणि सम्भव है……। किसी की परिहाणि होती है? किसकी नहीं होती? जो अशुभ भावना के आनन्तर्य मार्ग में प्रविष्ट हुआ है, उसकी परिहाणि सम्भव है, जो अनापन स्मृति के अनन्तर प्रविष्ट हुआ है, उसकी परिहाणि नहीं होती। यह अलोभ या अमोह के प्रति लाभ के अनुसार है, किन्तु धातु में किस गति में परिहाणि होती है? कामधातु में। तीन द्वीप के मनुष्यों में कामधातु के ६ देवों के बारे में नीचे पृ० २७१ टि० २ देखिये।

[२६६] 'फलभ्रष्ट' की अवस्था में वह कभी मृत नहीं होता। इसलिए सूत्र में उक्त है, "हे भिक्षुओ ! यह सम्भव है कि श्रुतवान आर्य श्रावक स्मृति संप्रमोष का अनुभव करे, और उसकी स्मृति मन्द (धन्धा) हो। किन्तु वह (इस स्मृति संप्रमोष का) शीघ्र प्रत्याख्यान करता है, उसको अंतर्हित करता है, क्षय-विरोध करता है।"[1]

यदि अन्यथा होता, यदि एक पुद्गल जो अर्हत् हो गया है, अर्हत् फल से भ्रष्ट हो, संसरण करता रहता तो ब्रह्मचर्य अनास्वाभाविक होता।[2]

एक फलभ्रष्ट पुद्गल वह नहीं कर सकता।

६० बी. वह आकार्य नहीं करता।[3]

भ्रष्ट होकर भी वह फल के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता (यथा अब्रह्मचर्य)। यथा एक सूर का प्रस्खलन होता है। किन्तु पतन नहीं होता (शूरप्रस्खलनापतनवत्)। कितने आनन्तर्य और विमुक्तिमार्ग में इन्द्रियसंचार, उत्तपना, वर्धन होता है ?

६० सी-डी. अकोप्य के लिए दोनों प्रकार[4] के ६ मार्ग हैं।

---

१. ऊपर पृ० २६४ टि० देखिये। तिब्बती भाषान्तर, "अल्प स्मृति-संप्रमोष का अनुभव करता है।" किन्तु तिब्बती भाषान्तर में एक त्रुटि है जैसा परमार्थ के भाषान्तर से मालूम होता है। व्याख्या के अनुसार 'अल्प' धन्ध है और इसका अर्थ मन्द है।

२. व्याख्या आश्वास का लक्षण बताते हुए इस श्लोक को उद्धृत करती है। (व्या० ५६३, २१)

सुचीर्णब्रह्मचर्येऽस्मिन् मार्गे चापि सुभाविते।
तुष्ट आयुःक्षये भोति रोगस्यापगमे यथा॥

यह श्लोक वसुबन्धु ने आगे चलकर दिया है।

३. = [ न चाकार्यं करोति सः। ] — ४.३३ ए, ६.४० सी।

४. = [ विमुक्त्यानन्तर्यपथा नवाकोप्ये]।

इन्द्रिय संचार के इन मार्गों के स्वभाव पर ऊपर पृ० २६६ टि० ४, विभाषा, ६७,१३ भिन्न मत हैं।

(ए) निर्वेधभागीय—चतुर्थ में उत्तापन नहीं है। पहिले तीन में ६ आनन्तर्य और ६ विमुक्ति से संचार (प्रथम मत), एक आनन्तर्य और एक विमुक्ति से (द्वितीय मत), १ प्रयोग से (तृतीय मत)।

(बी). दर्शन मार्ग उत्तापन नहीं।

(सी). अशैक्ष, एक प्रयोग, ६ आनन्तर्य, ६ विमुक्ति ( वसुबन्धु का मत ), १ प्रयोग, १ आनन्तर्य, १ विमुक्ति (द्वितीय मत )।

[२७०] प्रतिवेधनाधर्मा जो इन्द्रिय संचार करता है और अकोप्यधर्मा के गोत्र में प्रतिवेध करता है, उसे ६ आनन्तर्य मार्ग और ६ विमुक्ति मार्ग का उत्पाद करना चाहिए, यथा शैक्ष अर्हत् की प्राप्ति के लिए [भवाग्र से विरक्त हो] करता है।

क्यों ?

६० डी. अतिसेवन से।[1]

प्रतिवेधनाधर्म ने मृद्विन्द्रिय गोत्र का अति अभ्यास किया है (अभ्यस्त); अतः महायत्न के बिना इस गोत्र का उत्तापन नही हो सकता। वास्तव में यह शैक्ष अशैक्ष मार्ग से दृढ़ीकृत है।

६१ ए. दृष्टि प्राप्त के लिए प्रत्येक प्रकार का एक-एक।[2]

जिस इन्द्रिय संचार से श्रद्धाधिमुक्त (मृद्विन्द्रिय शैक्ष) दृष्टिप्राप्त (तीक्ष्णेन्द्रिय शैक्ष) होता है, उसके लिए एक आनन्तर्यमार्ग और एक विमुक्तिमार्ग चाहिए। एक प्रयोगमार्ग सर्वत्र (६० सी-डी. और ६१ ए.) चाहिए।

यह आन्तर्य और विमुक्तिमार्ग

६१ बी. अनास्रव मार्ग हैं।[3]

[२७१] क्योंकि आर्य की इन्द्रियों का संचार सास्रव मार्ग से नहीं हो सकता। किनमें इन्द्रिय संचार होता है ?

६१ बी. मनुष्यों में संचार।[4]

केवल मनुष्य अपनी इन्द्रियों का संचार करते हैं; अन्यत्र संचार नहीं है, क्योंकि अन्यत्र परिहाणि असम्भव है।[5]

---

शैक्ष, एक प्रयोग, एक आनन्तर्य, एक विमुक्ति (वसुबन्धु का मत) १ प्रयोग, ६ आनन्तर्य, ६ विमुक्ति (द्वितीय मत)।

१. = [अतिसेवनात् ॥ ] परमार्थ—दीर्घ अभ्यासवश।

२. = [ एकैकस्तु दृष्टि प्राप्ते ]

३. = [ अनास्रवाः ]

४. = [ नृषुवर्द्धनम् ]

५. परिहाण्यसम्भवात्—परिहाणि (व्या० ५६३,३१) के भय से ही योगी अपनी इन्द्रियों का उत्तापन करता है। हमने पूर्व कहा कि आर्य और ऊर्ध्वधातुओं में उपपन्न आश्रय इन्द्रिय संचार नहीं कर सकते ( ६.४१ सी-डी )।

कामावचर ६ देवों में उपपन्न सत्वों की परिहाणि नहीं होती। वह अवश्य तीक्ष्णेन्द्रिय होते हैं क्योंकि वह अति उदार विषयों से संविग्न हो सत्य दर्शन करते हैं। अर्थात् निश्चय—ये पूर्वम् अत्युदारेभ्यो विषयेभ्यो संविजन्तो पथः (?) सत्यानि पश्यन्ति ते कथं तान् आलम्ब्य परिहास्यन्ते। अवश्यं हि ते तीक्ष्णेन्द्रिया भवन्तीत्यभिप्रायः।

इन्द्रिय संचार के लिए अशैक्ष और शैक्ष किस भूमि का निश्रय लेते हैं ?

६१ सी. अशैक्ष ९ का निश्रय लेते हैं ।[1]

अर्थात् अनागम्य, ध्यानान्तर, चार ध्यान और तीन आरूप्य (क्योंकि अर्हत्व फल भी इन्हीं भूमियों का निश्रय लेकर प्राप्त होता है) ।

६१ डी. शैक्ष, ६ पर ।[2]

तीन आरूप्यों को वर्जित कर—क्यों ?

[२७२] ६१ डी-६२ बी. क्योंकि जो शैक्ष अपनी इन्द्रियों का वर्द्धन करता है वह सविशेष फल का त्याग कर, फल को प्राप्त करता है ।[3]

जब शैक्ष अपनी इन्द्रियों का संचार करता है, तब वह मृद्विन्द्रिय मार्गफल (सकृदागामिफल) और फल विशिष्ट का त्याग करता है, फल विशिष्ट का लक्षण-प्रयोग आनन्तर्य, विमुक्ति और विशेष मार्ग है ।[4] प्रथम ध्यानादि के प्रहाण के लिए वह मृद्विन्द्रिय सम्मुखीकृत विशेष का त्याग करता है, वह तीक्ष्णेन्द्रिय गोत्र मात्र संगृहीत फल मार्ग का फल लाभ करता है, यह फल काम वैराग्य संगृहीत है, यह आरूप्य[5] संगृहीत अनागामिफल नहीं है ।

इन्द्रिय भेद से अर्हत् की संख्या ९ है ।

---

१.=अशैक्षो नव निश्रित्य भूमी· (व्या० ५९९.६) ।

अशैक्ष उसी प्रकार इन्द्रिय सचार करता है यथा अर्हत्व फल का लाभ होता है । यथा अर्हत्व फल का लाभ ९ भूमियों का निश्रय लेकर होता है उसी प्रकार इन्द्रिय संचार होता है ।

शैक्ष उसी प्रकार इन्द्रिय संचार करता है यथा शैक्ष फल का लाभ होता है यथा इन फलों का लाभ आरूप्यों का निश्रय लेकर नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रिय सचार होता है । शैक्ष के प्रथम दो फलों का लाभ अनागम्य के निश्रय से होता है, तृतीय का लाभ ६ भूमियों के निश्रय से होता है ( किन्तु मत विभिन्न हैं ) ।

२. शैक्षस्तु षट् ।

३.=[यतः ।।] सविशेषं फलं त्यक्त्वा फलमाप्नोति वर्द्धयन् । ६ ३३, ४६डी देखिये !

४. भाष्य—=[इन्द्रियाणि संचरन् मृद्विन्द्रिय मार्गं] फलं फलविशिष्टं च [त्यजति] ।

व्याख्या ( ५९९, ७ ) फलं फलविशिष्टं चेति । फलं सकृदागामिफलम् । फलविशिष्टं प्रथमध्यानादिप्रहाणाय प्रयोगानान्तर्यविमुक्तिविशेषमार्गलक्षणम् ।

परमार्थ—जो पुद्गल इन्द्रिय संचार का अभ्यास करता है वह फल और फलविशिष्ट मार्ग का मृद्विन्द्रिय त्याग करता है (फलं फलविशिष्टं च मृद्विन्द्रियकं मार्गम्) शुआन चाङ्—वह फल और फलविशिष्टमार्ग का त्याग करता है ।

५. भाष्य=[ तीक्ष्णेन्द्रियगोत्रमार्गफलम् ] एव प्रतिलभते । न चानागामिफलमारूप्यसगृहीतम् । (व्या० ५९४, ९) ।

[२७३] ६२ सी-डी. दो बुद्ध और सात श्रावक, अर्हत् की इन्द्रियाँ ९ प्रकार की हैं।[1]

श्रावक ७ हैं, परिहाणधर्मादि पाँच और अकोप्यधर्मा जो द्विविध है; एक आदितः अकोप्यगोत्र है और दूसरा वह है जिसने इन्द्रिय संचार से इस गोत्र का लाभ किया है।[2]

दो बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध, अकोप्यधर्मा के प्रकार हैं। इस प्रकार ९ पुद्गल हैं जिनकी इन्द्रियाँ यथाक्रम मृदु-मृदु आदि हैं।[3]

सामान्यतः आर्य सात हैं—१. श्रद्धानुसारी, २. धर्मानुसारी, ३. श्रद्धाधिमुक्त, ४. दृष्टिप्राप्त, ५. कायसाक्षी, ६ प्रज्ञाविमुक्त, ७. उभयतोभागविमुक्त।[4]

६३ ए-सी. प्रयोग, इन्द्रिय, समापत्ति, विमुक्ति और उभयवश सात पुद्गल हैं।[5]

१. प्रयोगवश, श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी (६·२९ ए-बी)।

पृथग्जन की अवस्था में, श्रद्धा के कारण प्रथम, पर प्रत्यय से (परप्रत्ययेन, अर्थात् दूसरे से स्मृत्युपस्थान आदि श्रवण करता है) दूसरे अर्थों में प्रयोग करता है (अर्थेषु)[6],

---

व्याख्या (५६७, ७) फलमार्गम् एव प्रतिलभते। कामधातुवैराग्यमात्रसंगृहीतम् न चानागामिफलमाकृप्यसंगृहीतमिति। पञ्चानाम् अवरभागीयानां प्रहाणाद् अनागामीति सूत्रे वचनात्। दर्शनमार्गे च तत्रभावात् तदभावः कामधात्वनालम्बनाद् इति व्याख्यातमेतत्।

परमार्थ—वह तीक्ष्णेन्द्रिय गोत्र संगृहीत फल और मार्ग का प्रतिलाभ करता है, आकृप्यसंगृहीत अनागामिफल का लाभ नहीं करता इसलिए शैक्ष आकृप्यों में इन्द्रिय संचार नहीं करता।

शुआन चाङ्—जिसका वह प्रतिलाभ करता है, वह फलमात्र है, प्रतिपन्नक मार्ग नहीं है। अतएव वह आकृप्यसंगृहीत शैक्ष फल नहीं है, इसीलिए केवल ६ भूमियों के निश्रय से शैक्ष इन्द्रिय संचार करता है।

शुआन चाङ् के टीकाकारों का यहाँ अध्ययन करना चाहिए।

१. =[द्वौ बुद्धौ श्रावकाः सप्त ते नवविधेन्द्रियाः ॥] परमार्थ—दो बुद्ध और सात श्रावक यह ९ हैं क्योंकि इन्द्रियों के ९ प्रकार हैं।

२. अकोप्यधर्मा च द्विविध इति सूत्रे पठितत्वात्—युआन-हुएइ का कहना है कि अकोप्यधर्मा २ प्रकार का है—प्रथम अपरिहाणधर्मा कहलाता है क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ आदि से तीक्ष्ण हैं, द्वितीय अकोप्यधर्मा कहलाता है क्योंकि उसने इन्द्रिय संचार किया है। (व्या० ५६४, १४)।

३. बुद्धः अधिमात्र-अधिमात्र इन्द्रिय, प्रत्येक बुद्ध-अधिमात्र-मध्य, अकोप्यधर्मा; अधिमात्र मृदु······।

४. दो प्रकार के बुद्ध सातवें प्रकार में संगृहीत हैं।

५.=[प्रयोगाक्षसमापत्तिविमुक्त्युभयभाविताः (?)। पुद्गलाः सप्त] परमार्थ-प्रयोगवश···वह सात हैं।

६. ७-३६ सी देखिये।

[२७४] प्रयोग करता है अर्थात् चिन्ता और भावना का आसेवन करता है (चिन्ता-भावनासेवनात्)। द्वितीय भी इसी प्रकार अर्थों में प्रयोग करता है, किन्तु वह धर्मों का अनुसरण (अनुसार) करता है अर्थात् द्वादशांग प्रवचन का अनुसरण कर स्वयं धर्मों का अर्थात् बोधिपाक्षिकादि का अनुसरण करता है (अनुसरति)।

२. इन्द्रियवश, श्रद्धाधिमुक्त और दृष्टिप्राप्त (६.३१ सी-डी)। प्रथम में, श्रद्धाधिमोक्ष (श्रद्धया अधिमोक्षः) के आधिक्य से और द्वितीय में, प्रज्ञा के आधिक्य से, उनकी इन्द्रियां यथाक्रम मृदु और तीक्ष्ण होती हैं।

३. समापत्तिवश कायसाक्षी (६·४३ सी-डी) क्योंकि उसने निरोध-समापत्ति का सम्मुखीभाव किया है (६·४३ सी, ८·३३ ए)।

४. विमुक्तिवश प्रज्ञाविमुक्त (६·६४ ए-बी)।

५. समापत्ति और विमुक्तिवश उभयतोभाग विमुक्त (६·६४ ए-बी)। अतः संख्या की दृष्टि से सात।

६३ सी. यह ६ हैं।[1]

यह सात, द्रव्यतः ६ हैं।

६३ डी. तीन मार्गों में से प्रत्येक में दो।[2]

दर्शनमार्ग में दो पुद्गल श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी; यही भावना-मार्ग में श्रद्धाधिमुक्त और दृष्टिप्राप्त हो जाते हैं, और अशैक्षमार्ग में समयविमुक्त और असमय-विमुक्त।

श्रद्धानुसारी, (१) इन्द्रियतः तीन प्रकार का है, यद्यपि श्रद्धानुसारी की सब इन्द्रियाँ मृदु हैं—तथापि इनके मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु अधिमात्र तीन भेद हैं; (२) गोत्रतः ५ प्रकार का है—परिहाणधर्मादि गोत्रक (६-५६); (३) मार्गतः १५ प्रकार का है—आठ क्षान्तिस्थ और सात ज्ञानस्थ (६·२६-२७); (४) वैराग्यतः।

[२७५] ७३ प्रकार का है—१. कामधातु में एक सकलबन्धन, २-१० काम वैराग्य से ९ प्रकार से वीतराग······९ प्रकार के वीतराग; ११·१९ प्रथम ध्यान के एक प्रकार के बन्धन में वीतराग···९ प्रकार के बन्धनों से वीतराग; एवमादि यावत् आकिंचन्यायतन वैराग्य से ९। ८×९ काम वैराग्य, ध्यानचतुष्टय वैराग्य, आरूप्यत्रय वैराग्य—७२ होते हैं, इस सकलबन्धन को, प्रक्षिप्त करने से ७३ होते हैं; (५) आश्रयतः ९ प्रकार का है—(उत्तरकुरुक्षेत्र को वर्जित कर) तीन द्वीपों में से एक में उपपन्न, कामावचर ६ देव निकायों से एक में उपपन्न। इससे ऊर्ध्व दर्शनमार्ग का अभाव होता है।

---

१.=[**षड् वैते**]।

२.=[**एष मार्गत्रये द्विकम्**]।

इन्द्रिय-गोत्र-मार्ग-वैराग्य-आश्रयभेद को पिण्डितकर श्रद्धानुसारी के १४७८२५ प्रकार होते हैं।

इसी प्रकार अन्य पुद्गलों की भी सम्भवतः संख्या करनी चाहिए।[1]

उभयतोभागविमुक्त पुद्गल कौन है ? प्रज्ञाविमुक्त कौन है ?

६४ ए-बी —जो निरोधलाभी है वह उभयतोविमुक्त है। दूसरा प्रज्ञा से विमुक्त होता है।[2]

[२७६] जो निरोधसमापत्ति में प्रविष्ट है (६·४३ सी-डी) अर्थात् जो निरोधसमापन्न है, वह उभयतोभागविमुक्त कहलाता है, क्योंकि प्रज्ञा और समाधि के बल से वह क्लेशावरण और विमोक्षावरण से विमुक्त है।[3]

अन्य प्रज्ञाविमुक्त है, क्योंकि प्रज्ञाबल से वह क्लेशावरण से विमुक्त है। भगवत् ने कहा है; "जिसने पाँच अवरभागीय क्लेशों का प्रहाण किया है और जो अपरिहाणधर्मा है, वह परिपूर्ण शैक्ष है।"[4] प्रश्न है कि शैक्ष के परिपूर्णत्व के लिए क्या आवश्यक है ?

---

१. धर्मानुसारी के लिए ३ प्रकार की इन्द्रियाँ, १ मात्र गोत्र १५ मार्ग, ७३ प्रकार का वैराग्य, ९ आश्रम, पूर्णसंख्या २९५६५।

श्रद्धाधिमुक्त के लिए यदि १६वें क्षण में (फल लाभ के क्षण में ६·३१) उसका विचार करें, इन्द्रियतः ३, गोत्र ५, १ मार्ग, ७३ वैराग्य, ९ आश्रम=९८५५।

व्याख्या (५९६, ४) भगवद्विशेष कहते हैं, "मार्गतः १५ प्रकार के श्रद्धाधिमुक्त हैं क्योंकि वह भावना मार्गस्थ हैं।" यह कहने में उनका क्या अभिप्राय है, हम नहीं जानते···।

व्याख्या में श्रद्धाधिमुक्त के विविध प्रकारों की, यावत् अर्हत्व की (३५२३५) परीक्षा की गयी है; फल लाभ के काल में दृष्टिप्राप्त (१९७१ गोत्र भेद नहीं है) और उसके विविध प्रकार यावत् अर्हत्व (७०४३); कायसाक्षी (जो श्रद्धाधिमुक्त या दृष्टिप्राप्त हैं), प्रज्ञाविमुक्त, उभयतोभागविमुक्त के प्रकार। व्याख्या में भगवद्विशेष की संख्याओं का विचार है।

२. निरोधलाभ्युभयतो विमुक्तः [प्रज्ञयेतरः]।

अंगुत्तर, ४·४५२, पुग्गलपञ्ञत्ति, पृ० १४। अंगुत्तर, ४·७७। संयुक्त, ५०,१८—बुद्ध शारिपुत्र से कहते हैं इन ५०० भिक्षुओं में से ६० तीन विद्याओं का लाभ करते हैं (कोश, ७·४५ सी) ६० उभयविमुक्ति का, अन्य प्रज्ञाविमुक्ति का (संयुत्त, १·१९१ से तुलना कीजिए) हैं।

विभाषा, ६२,४, आठ विमोक्षों के साथ विद्या, यह उभयविमुक्ति है।

१. क्लेशावरण-क्लेशों का आवरण या बन्धन है। विमोक्षावरण—वह आवरण है जो आठ विमोक्षों के (८·३३ ए) उत्पाद के प्रतिपक्ष है। यह आवरण कायिकी और मानस (अकर्मण्यता) है।

२. क्लेशान् प्रहायेह हि यस्तु पञ्च अहार्यधर्मा [परिपूर्णशैक्षः] परमार्थ इसका पाठ अनुसरण करते हैं। शुआनचाङ् का पाठ 'अहार्यधर्मोऽपरिपूर्णशैक्षः' है और वह इस प्रकार

६४ सी-डी. समापत्तितः, इन्द्रियतः, फलतः शैक्ष की परिपूर्णता होती है ।[1]

परिपूर्ण शैक्ष तीन प्रकार का है—फलतः पूरिपूर्ण, इन्द्रियतः परिपूर्ण, समापत्तितः परिपूर्ण ।

केवल फलतः परिपूर्ण वह अनागामी है जो श्रद्धाधिमुक्त (६-३१ सी) है और कायसाक्षी (६.४३) नहीं है ।

केवल इन्द्रियतः पूरिपूर्ण दृष्टिप्राप्त योगी कामधातु से अनतिराग नहीं होता ।

केवल फलतः परिपूर्ण और इन्द्रियतः परिपूर्ण दृष्टिप्राप्त अनागामी कायसाक्षी नहीं होता है ।

केवल फलतः परिपूर्ण और समापत्तितः परिपूर्ण अनागामी श्रद्धाधिमुक्त कायसाक्षी होता है ।

[२७७] फलतः, इन्द्रियतः, समापत्तितः परिपूर्ण दृष्टिप्राप्त अनागामी जो कायसाक्षी है [११ ए] ।

केवल समापत्ति से शैक्ष परिपूर्ण नहीं होता क्योंकि निरोधसमापत्ति के लिए अनागामिफल की आवश्यकता है और इसीलिए फलतः परिपूर्णत्व की आवश्यकता है । इसी प्रकार केवल इन्द्रियतः और समापत्तितः शैक्ष परिपूर्ण नहीं होता ।

६५ ए. अशैक्ष दो प्रकार से परिपूर्ण है ।[2]

---

अनुवाद करते हैं, "५ क्लेशों का प्रहाण कर अकोप्यधर्मा होने से वह परिपूर्ण शैक्ष नहीं कहलाता ।" सम्पादक की टिप्पणी "यद्यपि वह इन्द्रियतः और फलतः परिपूर्ण है तथापि उसने निरोधसमापत्ति का लाभ नहीं किया है ।" (व्या० ५६५, १२) ।

१.—[समापत्तीन्द्रियफलैः शैक्षस्य परिपूर्णता ।।] परिपूर, अपरिपूर भिक्षु पर अंगुत्तर, ४·३१४ ।

२. लोक में पारिगायन मार्ग से प्रभावित हैं—मार्ग, क्योंकि मार्ग से जाते हैं अथवा क्योंकि 'यह जाता है' यथा लोक में कहते हैं—यह पन्थ पाटलिपुत्र को जाता है । दर्शनमार्ग अतिशय रूप से प्रभावित होता है, भावनामार्ग नहीं क्योंकि यह आशुगामी है (तस्याशुगामित्वात्) जो उससे युक्त होता है (तद्वान्) वह उससे आशुगमन करता है । भावनामार्ग से बहुकाल में गमन होता है, क्योंकि भूमि भेद से वह आकर्षक होता है । (व्या० ६०३,२३) ।

विभाषा, ६१, ६,—मार्गाङ्ग का अर्थ अन्वेषण (मार्ग) और गमन है । दर्शनमार्ग आशु है इसमें चित्त का नैरन्तर्य नहीं टूटता, यह कहने का अर्थ 'सुखगमन है', अतः मार्गाङ्ग की यहाँ प्रधानता है । बोध्यंग का अर्थ अभिसमय है । अतः इन अंगों की भावनामार्ग में प्रधानता है जो ९ अवस्थाओं में पुनः-पुनः अभिसमय करता है ।

इन्द्रिय और समापत्ति से। वास्तव में कोई अशैक्ष फलतः अपरिपूर्ण नहीं है—अतः फलतः परिपूर्णत्व नहीं माना जाता।

जो प्रज्ञाविमुक्त (६.६४) असमयविमुक्त है (६.५६) वह इन्द्रियतः परिपूर्ण है।

जो उभयतोभागविमुक्त समयविमुक्त है वह समापत्तित परिपूर्ण है।

जो उभयतोभागविमुक्त असमयविमुक्त है वह इन्द्रियतः और समापत्तितः परिपूर्ण है।

विविध प्रकार के मार्ग उक्त हैं—लौकिकमार्ग, लोकोत्तर, दर्शन, भावना, अशैक्ष; प्रयोग, आनन्तर्य, विमुक्ति, विशेषमार्ग। सामासिक रूप से, कितने प्रकार के मार्ग हैं?

६५ बी-डी. समासतः मार्ग चतुर्विध है—प्रयोग, आनन्तर्य, विमुक्ति और विशेषमार्ग।

प्रयोगमार्ग वह मार्ग है, जिससे और जिसके अनन्तर आनन्तर्यमार्ग की उत्पत्ति होती है।

[२७८] आनन्तर्यमार्ग, वह मार्ग जिसको अन्तरित नही कर सकते (६.२८ बी), वह मार्ग है जिसके आवरण (६.६४ ए-बी, ७७) का प्रहाण होता है।[1] विमुक्तिमार्ग प्रथम मार्ग है जो आनन्तर्य से प्रहेय आवरण से विमुक्ति उत्पन्न होता है।[2]

विशेषमार्ग इनसे अन्य मार्ग है।[3]

मार्ग शब्द का क्या अर्थ है?[4]—मार्ग निर्वाण का पन्थ है क्योंकि यह निर्वाण को

---

१. इन्द्रियसंचारादि में (६-६० सी-डी) वह आनन्तर्यमार्ग होता है जिससे आवरण का प्रहाण नहीं होता (व्या० ५६७, ३३)।

२. विमुक्तिमार्ग वह चित्त क्षण है जो आवरण प्रहाण के समनन्तर होता है—विमुक्तिमार्ग के अनन्तर के क्षण "मैं विमुक्त हूँ" और तत्सदृश विमुक्तमार्ग है किन्तु उन्हें विशेषमार्ग कहते हैं।

३. विशेषमार्ग पर, ६.३२ सी-डी, ६१ डी-६२ बी, ७.१८ सी—जो चित्त क्षण अभिसमय के १६वें क्षण के (विमुक्तिज्ञान) अनन्तर होते हैं और जो तज्जातीय हैं, इसी प्रकार अन्य विमुक्तिज्ञान भी हैं, प्राकर्षिक क्षय ज्ञान (६.४५ ए) और जिस मार्ग का आलम्बन दृष्टधर्मसुखविहार है या जो वैशेषिक गुणों के अभिनिर्हार के लिए है वह भी विशेषमार्ग है ८.२७ सी देखिए।

परमार्थ एक निवृति से अनुवाद करते हैं, विशेषमार्ग अन्यमार्ग है जो विमुक्तिमार्ग के अनन्तर अन्त होते हैं अर्थात् यह समाधि अभिज्ञा इन्द्रियसंचार आदि के मार्ग हैं।

४. नीचे, पृ० २७६ टि० ३।

जाता है, इससे निर्वाण की प्राप्ति होती है अथवा इससे निर्वाण का अन्वेषण (मार्गयति) होता है।[१]

किन्तु विमुक्तिमार्ग और विशेषमार्ग का कैसे मार्गत्व है। वास्तव में प्रयोग और आनन्तर्य पर निर्वाण का लाभ आश्रित है—क्योंकि विमुक्तिमार्ग और विशेषमार्ग तज्जातीय होते हैं।

[२७६] आनन्तर्य आलम्बन (सप्त) आकार (षोडशाकार अनित्यतादि) अनास्रवत्व में प्रहाणमार्ग जातीय (प्रहाणमार्ग=आनन्तर्य) हैं। यह अधिमात्रतर होने से विशेष हैं क्योंकि प्रहाणमार्ग के सब हेतु और प्रहाणमार्ग स्वयं इनके हेतु हैं।[२] पुनः इसलिए कि इन दो मार्गों से उत्तरोत्तर मार्ग की प्राप्ति होती है—(विमुक्तिमार्ग अन्य आनन्तर्यमार्ग के लाभ के लिए आवश्यक है)। अथवा क्योंकि इन दो मार्गों से निरुपधि शेष निर्वाण में प्रवेश होता है।[३]

मार्ग को प्रतिपद भी कहते हैं, क्योंकि उससे निर्वाण का प्रतिपादन होता है।[४]

चार प्रतिपद हैं—दुःखाधन्धाभिज्ञा दुःखाक्षिप्राभिज्ञा प्रतिपद, सुखाधन्धाभिज्ञा, सुखाक्षिप्राभिज्ञा प्रतिपद हैं।[५]

---

१. एष हि निर्वाणस्य पन्थास्तेन तद्गमनादिति। लोके येन गम्यते स मार्ग इति प्रतीतः। अनेन च निर्वाणं गम्यते प्राप्यते तस्मान् मार्ग इति देशयति। मार्गयत्यनेन वेति मार्ग अन्वेषण इति धातुः पठ्यते (१०-३०२)। येन निर्वाणम् अन्विष्यते स मार्गः (व्या० ५६८, २३)।

२. भाष्य इसे दो शब्दों में कहता है : तज्जातीयाधिमात्रतरत्वात्। (व्या० ५६५, २६)।

३. उत्तरोत्तर प्रापनात् निरुपधिशेषप्रवेशाद् वा (व्या० ५६८, ३२)।

एक दूसरे पद की व्याख्या (५६६, १) इस प्रकार है—यस्माद् वा ताभ्यां निरुपधिशेषं निर्वाणं प्रविशति य[द्] उत्पत्तौ निरुपधिशेषनिर्वाणप्रवेशः—दो निर्वाणों पर ऊपर पृ० २११।

अन्य अनुवाद करते हैं—क्योंकि इन दो मार्गों से, उत्तरोत्तर मार्ग के लाभ के कारण निरुपधिशेष में प्रवेश होता है।

४. निर्वाण प्रतिपादनादिति यस्मादनेन निर्वाणं प्रतिपद्यतित्यर्थः—मग्ग प्रतिपदा से भिन्न है, अंगुत्तर, २.७६, मज्झिम, १.५४०।

५. मध्यम, २६, एकोत्तर, ३३, दीर्घ, १२, ६, धर्मस्कन्ध, २, १६, प्रकरण, ७, ७, विभाषा, ६३, १२-६४, ८—दीघ, ३.२२८, २२६ (दो चतुष्पद) विभंग, ३३१ (समाधि का उल्लेख है, बिना अवधारण के), नेत्तिपकरण, ११२, विसुद्धिमग्ग ८५ (चतुब्बिधो [समाधि] दुक्खापटिपदादन्धाभिञ्ञादिवसेन)।

चार भिन्न प्रतिपदा, चाइल्डर्स, ३६४बी।

६६ ए. ध्यानों के निश्रय से भावित (प्रयोगादि) मार्ग ।[1]

मार्ग (प्रयोगादि) जो ध्यान का आश्रय लेने के लिए गृहीत हो, अर्थात् जिसमें योगी ध्यान सम्पन्न होता है।

[२८०] सुखाप्रतिपद है। क्योंकि ध्यानों का अंगों से परिग्रह होता है (८.१, १०) और उसमें शमथ और विपश्यना का समत्व होता है—इससे ध्यानों में प्रतिपत् आपन्नवादी होती है।[2]

६६ बी. अन्य भूमियों से दुःखाप्रतिपद ।[3]

अनागम्य, ध्यानान्तर, आरूप्य दुःखप्रतिपद हैं, क्योंकि उन समापत्तियों का अंगों से परिग्रह नहीं है, क्योंकि शमथ और विपश्यना का इनमें समत्व नहीं है। अनागम्य और ध्यानान्तर में शमत्व की न्यूनता होती है। आरूप्यों में विपश्यना की न्यूनता होती है।

यह दो प्रतिपद,

६६ सी-डी. जब बुद्धि मन्द होती है, धन्धाभिज्ञा प्रतिपत् है, इतर अवस्था में, क्षिप्राभिज्ञा प्रतिपत् है।[4] जब इन्द्रिय मृदु हैं तब प्रतिपत् धन्धाभिज्ञा है, चाहे प्रतिपत् सुख हो या दुःख। जब इन्द्रिय तीक्ष्ण है, तब प्रतिपत् क्षिप्राभिज्ञा है।

प्रतिपद धन्धाभिज्ञा कहलाता है, जब अभिज्ञा या प्रज्ञा धन्धा होती है (धन्धा अभिज्ञास्याम्)। अभिज्ञा प्रज्ञा का समानार्थक है, धन्धा मन्द का समानार्थक है। इसी प्रकार प्रतिपत् क्षिप्राभिज्ञा है, यदि अभिज्ञा क्षिप्र है अर्थात् यदि प्रज्ञा तीक्ष्ण है।

अथवा यह व्याख्या हो सकती है—धन्धा मन्द पुद्गल की अभिज्ञा धन्धा है···; क्षिप्र तीक्ष्णपुद्गल की अभिज्ञा क्षिप्र है।

---

१.—ध्यानेषु मार्गः प्रतिपत्सुखा।

२. चतुर्ध्यानमार्गः सुखा प्रतिपत्। अंगपरिग्रहशमथविपश्यनासमताभ्याम् अयत्नवाहित्वात्।

व्याख्या के लिए यह ध्यान है (ध्यानानि) जो अयत्नवाही हैं (अयत्नवाहीनि)। परमार्थ के मत से ध्यानों में बिना फल के मार्ग का सम्मुखीभाव होता है। तिब्बती भाषान्तर "क्योंकि बिना किसी यत्न के (मार्ग) स्वयं सुगमता से उपस्थित होते हैं"—६.७१ डी, ८.३३ ए देखिये।

३.—[दुःखान्यभूमिषु।]

४.—[धन्धाभिज्ञा मन्दबुद्धेः क्षिप्राभिज्ञेतरस्य तु॥]

[२८१] मार्ग की संज्ञा बोधिपाक्षिक है।[1] ३७ बोधिपाक्षिक हैं, अर्थात् ४ स्मृत्युपस्थान, ४ समयप्रधान,[2] ४ ऋद्धिपाद, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्यमार्गाङ्ग।[3]

---

१. इस शब्द के इतिहास और इसके आदि प्रयोग पर ई० हार्डी, नेत्तिप्पकरण की भूमिका और श्रीमती रीज़ डेविड्स की विभंग की भूमिका की सूचनाएँ देखिये। संयुत्त, ५.२७७ बोध पक्खिय इन्द्रिय हैं; विभंग, २४९ बोधिपक्खिय "बोधि के अंग हैं"; विसुद्धिमग्ग, ६७८ की सुपरिचित सूची; पतिसंभिदा, २.१६०।

३७ का एक समूह, अन्त कुशल धर्मों से विविक्त हुए बिना अंगुत्तर, १.३९ और प्रायः।

३७ की सूची, बीव, २.११०; लोटस, ४३०; चाइल्डर्स, ९२; एस० हार्डी, मैनुअल, ४९७; केर्न, मैनुअल; मिलिन्द, अनुवाद, २.२०७; ललित (राजेन्द्रलाल), ८,२१८; धर्मसंग्रह, ४३; महाव्युत्पत्ति, ३८-४४; धर्मशरीर, तुर्किस्तान का क्षुद्र संग्रह, स्टॉनर, Ac. de Berlin, १९०४, पृ० १२८२ (बोधपाक्षिक)। ३७ मग्गभावना है, विनय, ३.९३, ४.१२६ [यह प्रयोगादि मार्ग का संग्रह करते हैं; कोश, ६.७० देखिये]।

वह सूचियाँ जो सामान्य सूची से व्यावृत्त करती हैं—विभज्यवादियों (विभाषा, ९६, १७) की एक सूची ४१ की है। इसमें चार आर्यवंश भी हैं (कोश, ६-७)। नेत्ति ११२ में ४३ बोधिपाक्षिक हैं। टीका में है कि इस सूची में······स्थानों के पूर्व ६ संज्ञा हैं—अनिच्च, दुक्ख, अनत्त, पहान, विराग, निरोधसञ्ञा (अंगुत्तर, १.४१ देखिये)। बुद्धघोष (अंगुत्तर, १, १८८३ का संस्करण, पृ० ९८) में एक सूची में जिसमें ३ सति, ३ पधान, ३ इद्धिपाद, ६ इन्द्रिय, ६ बल, ८ बोध्यंग, ९ मग्गंग हैं; इसके विपरीत अंगुत्तर, १.५३, में ६ बोध्यंग (स्मृति नहीं है) हैं; और भव्य का कहना है कि कुछ आचार्य बोध्यंगों में ब्रह्मविहारों को (मैत्री आदि) स्थान देते हैं।

नञ्जियो, ७९२ का 'बोधिवक्षो (वृक्ष ?), कदाचित् महाव्युत्पत्ति का, ६५, ५७ और कंजुर म्दो, १६ का बोधिपक्षनिर्देश है।

२. व्याख्या का पाठ—शुआन चाङ् में प्रहाण है; किन्तु परमार्थ का पर्याय अनुवाद यथार्थ=प्रयत्न, उत्साह, वीर्य, व्यवसाय। तिब्बती भाषान्तर=प्रहाण। सब संस्कृत ग्रन्थों में (ललित, पृ० ३३ आदि) प्रहाण है—पृ० २८३, टि० ३, पृ० २८५, टि० १ देखिये।

३. शुआन चाङ् मूल से व्यावृत्त करते हैं, उनका अनुवाद इस प्रकार है—मार्ग को बोधिपाक्षिकाः धर्माः भी कहते हैं। वह कितने हैं ? और इस शब्द का क्या अर्थ है ? कारिका कहती है; बोधिपाक्षिक ३७ हैं अर्थात् ४ स्मृत्युपस्थानादि; बोधि, क्षय और अनुत्पाद है; क्योंकि वह उसके अनुकूल है इसलिए उन्हें बोधिपाक्षिक कहते हैं।

भाष्य सूत्र में उपदिष्ट है कि ३७ बोधिपाक्षिक हैं—४ स्मृत्युपस्थान ८ मार्गाङ्ग। क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान बोधि कहलाते हैं। बोधि के तीन प्रकार हैं—श्रावक बोधि,

[२८२] ६७ ए-बी. क्षय और अनुत्पादज्ञान बोधि है ।[1]

क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान बोधि हैं, उसका लोभ करने वाले आर्यों के भेद के कारण बोधि त्रिविध हैं—श्रावकबोधि, प्रत्येकबुद्धबोधि, अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधि का उल्लेख है। वास्तव में इन दो ज्ञानों से अशेष अविद्या का प्रहाण होता है (अशेषाविद्याप्रहाणात्)[2]; प्रथम से, कृत स्वार्थ का यथाभूत अवबोध होता है; द्वितीय से, अपुनः कर्तव्यता का यथाभूत अवबोध होता है ।[3]

६७ बी-सी. क्योंकि वह उनके अनुकूल या अनुलोम है, इसलिए ३७ धर्म बोधि-पाक्षिक हैं ।[4]

क्योंकि वह बोधि के अनुलोम हैं, इसलिए ३७ धर्म बोधिपक्ष हैं ।[5]

---

प्रत्येकबोधि, अनुत्तराबोधि । इन दो ज्ञानों को बोधि कहते हैं क्योंकि अनुशयों का सर्वथा क्षय होता है; क्योंकि आर्य यथाभूत जानता है कि वह कृतकृत्य है। उसके लिए अब और करणीय नहीं है। ३७ धर्मबोधि के अनुकूल हैं और इसलिए यह बोधिपाक्षिक कहलाते हैं। क्या यह ३७ स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न हैं ? नहीं। श्लोक में उक्त है……।

१. =[क्षयानुत्पादयोर्ज्ञानं बोधिः] इन दो ज्ञानों पर, ६.५०, ७.१, ४बी, ७ ।

२. पृथग्जन या शैक्ष की प्रज्ञा बोधि नहीं कहलाती क्योंकि यह अशेष सं घातुक अविद्या से विमुक्त नहीं है ।

३. स्वार्थ कृत है—दुःख मे परिज्ञातम्; अपुनः कर्त्तव्यता । दुःखं मे परिज्ञातं न पुनः प्रहातव्यम् (व्या० ६००, ६) ।

दो ज्ञानों के लिए इन्द्रिय तीक्ष्ण चाहिए (शोधिये—तृतीय ज्ञान के लिए) ।

४. =तदानुलोम्यतः । सप्तत्रिंशत् तु तत्पक्षाः (व्या० ६००, १६) ।

५. विभाषा, ९६, ८, यह बोधिपाक्षिक क्यों कहलाते हैं ? क्षय और अनुत्पाद ज्ञान बोधि संज्ञा का लाभ करते हैं क्योंकि उनमें चार सत्यों की परिपूर्ण बोधि (बुध) होती है। यदि कोई धर्म इस परिपूर्ण बोधि के अनुकूल है तो वह बोधिपाक्षिक कहलाता है ।

योगाचार ग्रन्थों में बोधि का लक्षण, बोधिसत्त्वभूमि, १, ७, कैम्ब्रिज पोथी, आगे ३७ (म्यूजियान, १९११, पृ० १७० में इसका विवरण है) । समन्तपासादिका, १.१३९, में शब्द के विविध अर्थ बताये हैं—अर्हत्तमग्गञाण सब्बञ्ञुतञाण आदि ।

बुद्ध से श्रावक, प्रत्येक और अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्ध गृहीत है । (देव, चतुःशतिका, ४९८)—तीनों बोधि से समन्वागत हैं और आचार्य यहाँ उसका निर्देश करते हैं—कोश, १.१, अनुवाद पृ० १-२ ।

बोधि=प्रज्ञा अनास्रवा, नीचे पृ० २८९ ।

[२८३] ६७ डी. नामतः ३७, द्रव्यतः १० ।[1]

यह १० द्रव्य क्या हैं ?

६८ ए-सी. श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा, समाधि, उपेक्षा, प्रीति, प्रश्रब्धि, शील, संकल्प ।[2]

यह कैसे ?

६८ डी-६९ बी. स्मृत्युपस्थान प्रज्ञा है; वीर्य सम्यक्प्रधान है; ऋद्धिपाद समाधि है ।[3]

स्मृत्युपस्थान, सम्यक्प्रधान, ऋद्धिपाद स्वभाव से प्रज्ञा, वीर्य, समाधि हैं ।

१. अतः प्रथम पाँच द्रव्य हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि; प्रज्ञा जो अनेक नाम के ग्रहण से ५ इन्द्रिय और ५ बल हैं ।

इन पाँच द्रव्यों में—(ए) चार स्मृत्युपस्थान,[4] (बी) एक बोध्यंग, धर्मप्रविचय-सम्बोध्यंग, (सी) एक मार्गाङ्ग सम्यक्दृष्टि प्रज्ञा ही है ।

(ए) चार सम्यक्प्रधान; (बी) एक बोध्यंग, वीर्यसम्बोध्यंग; (सी) एक मार्गाङ्ग, सम्यक्व्यायाम वीर्य हैं ।

(ए) चार ऋद्धिपाद, (बी) एक बोध्यंग; समाधिसम्बोध्यंग
[२८४] (सी) एक मार्गाङ्ग; सम्यक्समाधि समाधि ही हैं ।

(ए) एक बोध्यंग, स्मृतिसम्बोध्यंग, (बी) एक मार्गाङ्ग, सम्यक्स्मृति स्मृति ही है ।

---

१. =नामतो [द्रव्यतो दश ।।] विभाषा, ९६, ७, तीनों मतों, १०, ११, १२ द्रव्य, पृ० २८४-२८५—महायान, ९ द्रव्य, क्योंकि सम्यक् संकल्प प्रज्ञा है ।

संकल्प वाक्, कर्मान्त, आजीव से प्रतिबद्ध हैं, ४ पृ० ३६ । वीघ, २.३१२ का लक्षण देखिये—सम्मासंकप्प=नेक्खम्म, अब्यापाद, अविहिंसासंकप्प—नीचे पृ० २८९, २९१ ।

२. परमार्थ का क्रम भिन्न है—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, प्रीति, उपेक्षा और प्रश्रब्धि शील संकल्प, इसके आधार पर कारिका का यह रूप हो सकता है—श्रद्धा वीर्यं स्मृतिः शान्तिः (?) प्रज्ञा प्रीतिरुपेक्षा (?) । प्रश्रब्धिः शील संकल्पौ ।

३. =प्रज्ञा हि स्मृत्युपस्थितिः ।। वीर्यं सम्यकप्रहाणाख्यम् ऋद्धिपादाः समाधयः (व्या० ६००, २६) ।

४. ऊपर पृष्ठ १६० में इसका व्याख्यान हो चुका है ।

२. क्या अवशिष्ट रहता है जो प्रथम पाँच द्रव्य नहीं है ?

बोध्यंगों में, प्रीतिसम्बोध्यंग, प्रश्रब्धिसम्बोध्यंग (२.२५ अनुवाद पृ० १५८), उपेक्षासम्बोध्यंग, मार्गाङ्गों में, सम्यक्संकल्प और तीन शीलांगसम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव-द्रव्यादि कहते हैं। इनके स्वद्रव्य शील अवधारित करते हैं।

अतः ५+५=१० होते हैं। बोधिपाक्षिक १० द्रव्य हैं।

वैभाषिकों के अनुसार ११ द्रव्य है—सम्यग्वाक् और सम्यक्कर्मान्त का एक द्रव्य है, सम्यगाजीव अन्य द्रव्य है (४.८५ सी-डी देखिये)। कायकर्म और वाक्कर्म असम्भिन्न होने से शील को दो द्रव्य मानते हैं। पूर्व ६ में इन दो को जोड़कर ११ द्रव्य होते हैं।[1]

हमने कहा है कि स्मृत्युपस्थान, सम्यक्प्रधान, ऋद्धिपाद स्वभाव से प्रज्ञा, वीर्य समाधि हैं।

६९ सी-डी. प्रथम ग्रहण से इस प्रकार कहा है, यह सब प्रायोगिक गुण है।[2]

पूर्व के निर्देश स्मृत्युपस्थान आदि के प्रधान अंश को (यथा-प्रधानम्) सास्रव, अनास्रव, श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय प्रायोगिक गुण (२.७१ बी) भी हैं[3]।

[२८५] वीर्य की सम्यक्प्रधान संज्ञा क्यों है ? क्योंकि वीर्य से कायवाक् और मनस् का प्रवर्तन होता है (प्रधीयन्ते)[4]।

समाधि को ऋद्धिपाद क्यों कहते हैं ?[5] क्योंकि समाधि ऋद्धि अर्थात् सर्वगुण-सम्पत्ति की सिद्धि की प्रतिष्ठा (पाद=प्रतिष्ठा) है।

---

१. शील को इस प्रकार दो में विभक्त करने में अभिप्रायवश दोष नहीं है किन्तु यदि मुख्यवृत्या कलाप के द्रव्यों की गणना की जाय तो १६ द्रव्य होते हैं क्योंकि शील में सात द्रव्य (अविज्ञप्ति, आदि) होते हैं। (व्या० ६०१, १८)।

२. =प्रधानग्रहणे [मते] सर्वे प्रायोगिका गुणाः। (व्या० ६०१, २२)।

३. यथा पर्याय स्मृत्युपस्थान प्रज्ञा है, तथापि वह वार्यादि। वहाँ प्रज्ञा का प्राधान्य है, उसके बल से अन्य गुणों की क्लृप्ति होती है। प्रायोगिक गुण उपपत्तिलभ्य नहीं।

४. तेन हि सम्यक्कायवाग्मनांसि प्रधीयन्ते। प्रधीयन्ते=धार्यन्ते नियम्यन्ते प्रवर्त्यन्ते वा कदाचिदनेनेति प्रधानम् (व्या० ६०२, ३)।

५. ऋद्धिपादाः समाधय इति कुत एतत्। तत्प्रतिस्थितत्वात्—व्याख्या-सर्वगुणसम्पत्ति-लक्षणा ऋद्धिस्तस्मिन समाधौ प्रतिष्ठिता, अत समाधि=ऋद्धेः पादः=ऋद्धेः प्रतिष्ठा।

ऋद्धिपादों पर, मज्झिम, १.१०३, संयुत्त, ५.२५४, अंगुत्तर, ४.३०९ (पश्चाद्स्थान) कोश, २.१० ए अनुवाद पृ० १२४); विभंग २१६; सूत्रालंकार, १८.५१, मध्यमकावतार, ४ १, (म्यूज़िआन का अनुवाद), महाव्युत्पत्ति, ४०, धर्मसंग्रह ४६। (व्या० ६०१·३१)

किन्तु कुछ आचार्यों का (वैभाषिकों का) मत है कि ऋद्धि समाधि है, और छन्द, चित्त, वीर्य, मीमांसा यह चार ऋद्धि के पाद हैं; अतः छन्द और चित्त के अधिक होने से उनको कहना चाहिए कि बोधिपाक्षिक १२ द्रव्य हैं। अतः इस उक्ति का कि ऋद्धि समाधि है उस सूत्र से विरोध है जिसमें ऋद्धि का लक्षण दिया है, "ऋद्धि क्या है? योगी अनेकविध ऋद्धि विषय का अनुभव करता है, एक से अनेक होता है।"[1]

[२८६] एवमादि[2]

---

वाक्य प्रसिद्ध है (दीघ, ३.२२१=महाव्युत्पत्ति, ४०) छन्दसमाधि प्रहाणसंस्कार—समन्वागत ऋद्धिपाद···[पालि में पधान और विमंसा है] सूत्र में है—छन्दं चापि भिक्षवो भिक्षुरधिपतिं कृत्वा लभते समाधिं सोऽस्य भवतिच्छन्दसमाधिः। चित्तम्···वीर्यम्···मीमांसां चापि भिक्षवो भिक्षुरधिपतिं कृत्वा लभते समाधिं सोऽस्य भवति मीमांसासमाधिः—चाइल्डर्स पृ० ३६४ बी, ३६० बी। वसुबन्धु के अनुसार ऋद्धिपादाः=ऋद्धिहेतवः; समाधि ऋद्धि में हेतु है। स्वयं समाधि छन्द वीर्यादि से प्रवृत्त होती है—ऋद्धिपाद पर कोश, ७.४२।

१. ७.४२ देखिये—अनेकविधम् ऋद्धिविषयं प्रत्यनुभवति। एको भूत्वा बहुधा भवति···ब्रह्मलोकं कायेन वशे वर्तयत इति इयम् उच्यत ऋद्धिः। (महाव्युत्पत्ति, १५, अंगुत्तर, ३.२८०, दीघ, १.७७) ऋद्धिपादाः कतमे। छन्दसमाधिः। वीर्यसमाधिः। चित्तसमाधिः। मीमांसासमाधिः। इम उच्यत ऋद्धिपादा इति। शुआनचाङ् इस सूत्र के प्रधान अंश को देते हैं, (वसुबन्धु केवल प्रथम शब्द देते हैं), इस प्रकार समाप्त करते हैं "बुद्ध यहाँ कहते हैं कि ऋद्धि समाधि का फल है, और पाद छन्दादि से अन्य समाधि है।"

२. संघभद्र (२३.६, ४३ए ७) वसुबन्धु का निराकरण करते हैं। यहाँ सौत्रान्तिक (=वसुबन्धु) कहते हैं—अन्य आचार्य हैं जिनका मत है कि ऋद्धि समाधि है और ऋद्धि के पादादि छन्दादि हैं। इन आचार्यों को स्वीकार करना चाहिए, छन्द और चित्त को संगृहीत बोधिपाक्षिक स्वभाववश १३ द्रव्य हैं। पुनः वे इस सूत्र के विरुद्ध हैं जिसमें उक्त है कि "मैं तुमको ऋद्धिपाद का निर्देश करता हूँ। ऋद्धिः—वह विविध ऋद्धि विषय का अनुभव करता है·····पाद छन्दादि की चार समाधि।" बुद्ध कहते हैं कि समाधि फल ऋद्धि है और छन्दादि से उत्पन्न समाधि पाद है (व्या० ६०२, २०)।

[वसुबन्धु ने जो दोष दिखाया है] वह दोष नहीं है क्योंकि इन आचार्यों को इष्ट है कि समाधि ऋद्धि है और ऋद्धिपाद भी है। पादछन्द चित्तादि पाद कहलाते हैं, तो यह समाधि के चतुस्त को ज्ञापित करने के लिए हैं, यह समाधि के हेतु हैं। समाधि कार्य को उसके कारण छन्दादि के नाम से प्रज्ञप्त करते हैं। समाधि दो प्रकार का है—एक वह है जो कुशलमूल के प्रयोग की अवस्था में प्रधान होता है (प्रधानीभवति) दूसरा वह है जो कुशलमूल को निष्पन्नावस्था में प्रधान होता है। इसलिए पहले को सूत्र में ऋद्धिपाद (उक्त है)

श्रद्धा, वीर्यादि को इन्द्रिय और बल क्यों कहते हैं? मृदु अधिमात्र के भेद से, क्योंकि इन्द्रिय अवमर्दनीय है—बल अवमर्दनीय है।[1] (विभाषा, १४१, ६)।

[२८७] इन्द्रियों के क्रम की युक्तता कैसे है? उस फल के लाभ के लिए जिसमें श्रद्धा होती है, या जिसके लिए वीर्य आरब्ध होता है (वीर्यमारभने)। जब कोई वीर्य करता है, तब स्मृत्युपस्थिति होती है। जब विशेष के निरसन के लिए स्मृत्युपस्थिति होती है, तब समाधि होती है। जब चित्त समाहित होता है, तब यथाभूत प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है।

विधि बोधिपाक्षिक किन अवस्थाओं में व्यवस्थापित होते हैं, और किनमें उनकी प्रधानता होती है?

वैभाषिक कहते हैं—

७०. इनके सात समूह वही हैं जो यथाक्रम आदिकार्मिक, निर्वेधभागीय, भावना और दर्शन की अवस्था में व्यवस्थापित हैं।[2]

---

कहते हैं और दूसरे को ऋद्धिसमाधि छन्दसमाधि कहते हैं। यदि भिक्षु उसका लाभ छन्द के आधिपत्यवश (अधिपतिं कृत्वा) करता है, यह प्रयोगावस्था की समाधि है। सूत्र में पश्चात् उक्त है, "वह छन्द का उत्पाद करता है······वह इसका लाभ करता है, वह अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिए चित्त समाहित करता है" (अंगुत्तर, १·३६)। वह कुशलमूलों को निष्पन्नावस्था की समाधि है। चित्तं प्रगृह्णाति वाक्य प्रज्ञा को ज्ञापित करता है। चित्तं प्रणिदधाति वाक्य समाधि को ज्ञापित करता है क्योंकि इसको प्राप्त करता है। चित्त का आधान करना समाधि का लक्षण है—सूत्र में पुनः उक्त है······।

१. भाष्य · अवमर्दनीयानवमर्दनीयत्वात् व्याख्या: तद्विपक्षभूतैरन्तरा समुदाचाराद् इन्द्रियाण्यवमृद्यन्ते। न त्वेवं बलानि। श्रद्धा के विपक्ष में अश्राद्धय; वीर्य के विपक्ष में कौसीद्य; स्मृति के विपक्ष में मुषितस्मृतिता; समाधि के विपक्ष में विक्षेप; प्रज्ञा के विपक्ष में असम्प्रजन्य है। विभाषा, १४१, ६—इन्द्रिय, क्योंकि यह कुशल धर्मों को उत्पादित करते हैं; बल, क्योंकि यह अकुशल धर्मों का भेद करते हैं; इन्द्रिय, क्योंकि कोप्यादि हैं। अत्थसालिनी, १२४—अकम्पियट्ठेन बलं वेदितब्बम्—अस्सद्धिये न कम्पतीति सद्धाबलम्, कोसज्जे न कम्पतीति विरियबलम्···( सूत्र और व्याख्यान यह अभिधर्म से एकमत नहीं हैं )। (व्या० ६०२, २८)।

२. व्याख्या—आदिकार्मिकनिर्वेधभागीयेष्विति पञ्चावस्था इमा उक्ताः भावने दर्शने चेति द्वे अवस्थे इति सप्तस्ववस्थासु सप्त वर्गा यथाक्रमं प्रभाव्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते प्रधानीक्रियन्ते वा।

यदि परमार्थ भाषान्तर का शब्दतः अनुसरण करें तो मूलरूप इस प्रकार होगा—आदिकार्मिकनिर्वेधभागीयेषु प्रभाविताः (?) भावनायां च दृशि च सप्तवर्गा यथाक्रमम् ॥

आदिकार्मिक की अवस्था में स्मृत्युपस्थान है क्योंकि इस अवस्था में कायादि की मीमांसा होती है।[1] उष्मगत की अवस्थाएँ सम्यक्प्रधान होती हैं, क्योंकि इस अवस्था में वीर्य का संवर्द्धन होता है, जो विशेपाधिगम में हेतु है।

मूर्धा में ऋद्धिपाद होते हैं क्योंकि इनके कारण अपरिहाणीय कुशलमूलों का प्रवेश होता है।[2]

क्षान्तियों में इन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं क्योंकि श्रद्धा, वीर्यादि, इस अवस्था में, इस कारण, आधिपत्य प्राप्त होते हैं।

[२८८] (आधिपत्यप्राप्त, २.२ ए-बी) क्योंकि क्षान्तियों में पुनः परिहाणि की सम्भावना नहीं है। (६.२३ बी)। [१४ बी]

अग्रधर्मों में बल व्यवस्थापित होते हैं, क्योंकि इस अवस्था में श्रद्धा, वीर्यादि क्लेशों से अनवमर्दन भी होते हैं, क्योंकि क्लेशों का समुदाचार नहीं होता या अन्य लौकिक धर्मों से अनवमर्दन भी होते हैं।

भावनामार्ग में बोध्यंग व्यवस्थापित होते हैं क्योंकि यह मार्ग बोधि के आसन्न है अर्थात् क्षय और अनुत्पादज्ञान के आसन्न है। दर्शनमार्ग दूर है, क्योंकि यह भावनामार्ग से व्यवहित है, दर्शनमार्ग में मार्गाङ्ग व्यवस्थापित होते है, क्योकि यह मार्ग गमन प्रभावित हैं—क्योंकि इसका आशुगमन है।[3] [किन्तु यह कहा जायगा कि दर्शनमार्ग भावनामार्ग के पूर्व है। इस क्रम को क्यों नही मानते ?] सूत्र में बोध्यंग (भावनामार्ग) पूर्व उक्त हैं[4] पश्चात् मार्गाङ्ग (दर्शनमार्ग) उक्त हैं, यह क्रम अंगों की संख्या के अनुसार पहले ७, पश्चात् आठ। धर्म प्रविचय बोधि और सम्बोध्यंग हैं, सम्यग्दृष्टि मार्ग और मार्गाङ्ग दोनों हैं। (विभाषा, १४१, ६)।[5]

वैभाषिकों का यह मत है—

अन्य आचार्य क्रम को भिन्न न कर बोधिपक्ष्यों की आनुपूर्वी को युक्त बताते हैं, वह यथायोग दर्शनमार्ग को पूर्व और भावनामार्ग को पश्चात् व्यवस्थापित करते हैं।

---

१. शुआन चाङ् के अनुसार, "आदिकार्मिक की अवस्था में, स्मृत्युपस्थान क्योंकि कायादि के ज्ञान में समर्थ प्रज्ञा वहाँ प्रधान है।

२. अपरिहाणीयकुशलमूलप्रवेशत्वात् मूर्धास्थो भी मूल का छेद नहीं करता (६.२३ ए)। इस अवस्था की समाधि समृद्धि का आश्रय होता है (समृद्धेराश्रयीभवन्ति) इसलिए ऋद्धिपाद मूर्धा में व्यवस्थापित होते हैं।

३. =[ द्वाभ्याम् अशैक्षस्य ]।

४. =[ चतुर्विधो मार्गः समासतः। सविशेषविमुक्त्यानन्तर्यप्रयोगसाह्वयः ॥ ]

५. प्रयोगमार्गो यस्मादानन्तर्यमार्गोत्पत्तिः—अतः लौकिकाग्रधर्मा (६.१९ बी-सी) प्रयोग मार्ग है। क्षान्तिस्वभाव मार्ग (६.१८ सी) भी प्रयोगमार्ग है किन्तु यह विप्रकृष्ट प्रयोग मार्ग है।

[२८९] (१) स्मृत्युपस्थान बुद्धि के निग्रह के लिए हैं जो स्वभावतः बहुविध विषयों के विशेष से विस्तृत हैं (बहुविधविषयव्यासेकविसारिन्)। चार स्मृत्युपस्थान चित्त को बाँधते हैं क्योंकि सूत्र में कहा है कि, "गर्धाश्रित स्मर[1] संकल्पों के प्रहाण के लिए" (मध्यम, ५१, २०)[2]

(२) स्मृत्युपस्थानों के बल से चतुर्विध कार्य के सम्पादन के लिए चित्त के नियमन और प्रधान से, वीर्य का संवर्धन होता है—उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण, अनुत्पन्न अकुशलधर्मों का अनुत्पाद......यह चार सम्यक् प्रधान है।

(३) तदनन्तर समाधि के विशोधन से ऋद्धिपाद प्रभावित होते हैं (प्रभाव्यन्ते)।

(४) समाधिनिश्रित श्रद्धा वीर्यादि जो लोकोत्तर धर्मों के अधिपतिभूत हैं क्योंकि वह उनका आवाहन करते हैं (तदावाहकत्वात्)—यह इन्द्रिय हैं।

(५) यही श्रद्धा, वीर्यादि जब यह विपक्ष समुदाचार को निर्जित करते हैं (निर्जित-विपक्षसमुदाचार), नव बल होते हैं।

(६) दर्शनमार्ग में बोध्यंग, क्योकि योगी प्रथम बार धर्मों में यथाभूत स्वभाव का अभिसमय करता है (बोधि का अर्थ अनास्रव प्रज्ञा है)।

७. दर्शनमार्ग और भावनामार्ग में बोध्यंग। वास्तव में यह कहा है कि, "आर्य अष्टांगिक मार्ग के इस प्रकार भावना से परिपूरित को प्राप्त होने पर चार स्मृत्युपस्थान भावना से परिपूरि को प्राप्त होते हैं......

[२९०] सात बोध्यंग भावना से परिपूरि को प्राप्त होते हैं।"[3] (अत. आर्याष्टांग मार्ग भावना मार्ग में ही होता है, क्योंकि दर्शनमार्ग में, यह मार्ग भावना परिपूरि को प्राप्त नही होता)।

---

व्याख्या (५९८, १२) सन्निकृष्ट प्रयोगमार्ग का उल्लेख वसुबन्धु उदाहरणार्थ करते हैं।

१. कामसंकल्प या अनुभूतविषय स्मृतिसंकल्प—गर्धाश्रित=तृष्णाश्रित; महाव्युत्पत्ति, २४५, ११४५ में ग्रेध है (व्या० ६०४, २)।

२. सतिपट्ठान—दीघ, १.२९०, मज्झिम, १.५६ : सत्तनं विसुद्धिया......; दीघ, ३.१४१, दिट्ठिनिस्सयानं पहाणाय, अगुंत्तर, ४.४५७ सिक्खादुब्बल्यानं पहाणाय।

३. तस्मिन् [आर्याष्टांगिके मार्गे] परिपूरिं गच्छति चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि परिपूरिं गच्छन्ति यावत् सप्त बोध्यंगानि भावनापरिपूरिं गच्छन्ति।

भावनापरिपूरि = भावनया परिपूरिः

मज्झिम, ३.८५ से तुलना कीजिए (व्या ६०४, १५)।

पुनः कहा है, "हे भिक्षुओ ! क्या सम्यक्वाक् चार आर्य सत्यों का अधिवचन है; हे भिक्षुओ ! यथा प्राप्त मार्ग से प्रक्रमण अष्टांग मार्ग का अधिवचन है।"[१]

अतएव क्योंकि अष्टांगमार्ग दर्शनमार्ग और भावनामार्ग दोनों में है, यह अनुक्रम जो पूर्व बोध्यंगों को और पश्चात् मार्गाङ्गों को व्यवस्थापित करता है, सिद्ध है।

बोधिपाक्षिक धर्मों में कितने सास्रव हैं कितने अनास्रव ?

७१ ए-बी. बोध्यंग और मार्गाङ्ग अनास्रव हैं।[२]

यही अनास्रव हैं, क्योंकि यह दर्शन और भावनामार्ग में व्यवस्थापित हैं, निःसन्देह लौकिकी सम्यग्दृश्यादि[३] हैं, किन्तु यह मार्गाङ्ग नहीं कहलाता।

७१ बी. इतर द्विविध हैं।[४]

अन्य बोधिपाक्षिक सास्रव या अनास्रव हैं।

विविध भूमियो में कितने हैं ? (विभाषा, ९६, ११) ?

[२९१] ७१ सी. प्रथम ध्यान में यह सब हैं।[५]

सब ३७।

७१ डी. अनागम्य में, प्रीति को वर्जित कर।[६]

अनागम्य में प्रीति (सम्बोध्यंग) का अभाव क्यों है ? क्योंकि सामन्त केवल बल वाहनीय[७] है, और क्योंकि वह अधर भाव में परिहाणि की शंका करते हैं।[८]

७२ ए. द्वितीय में संकल्प को वर्जित कर[९]

द्वितीय ध्यान में संकल्प (मार्गाङ्ग) का अभाव है, ३६ अन्य बोधिपाक्षिक अवशिष्ट रहते हैं। विचार के अभाव के कारण संकल्प का अभाव है।

७२ बी. दो में दोनों को वर्जित कर।[१०]

---

१. ''''''चतुर्णाम् आर्यसत्यानाम् एतद् अधिवचनाम्। यथागतेन (=यथाप्राप्तेन) मार्गेण प्रक्रमणं (=यावद् बोधिः) मार्गस्यैतद् अधिवचनम् (व्या० ६०४, ४।५)।

२. =अनास्रवाणि बोध्यंगमार्गाङ्गानि (व्या० ६०४, २६)।

३. कोश, १.४१ ए बी—वसुमित्र से हमको मालूम है कि लौकिकी सम्यग् दृष्टि है या नहीं, इस प्रश्न पर निकायों में एक मत नहीं है।

४. =द्विधेतरे। पटिसम्भिदामग्ग, २'१६० (व्या० ६०५, २८)।

५. =[ते सर्वे प्रथमध्याने]।

६. =[अनागम्ये प्रीतिवर्जिताः ।।]—८'२२।

७. व्याख्या कहता है, सुखाधिगम्यं चित्तं प्रीणाति नेतरत (व्या० ६०४, ३१)।

८. साशंकतायां चित्तं न प्रीयते। (व्या० ६०४, ३३)।

९. =[द्वितीये] संकल्पवर्ज्याः।
व्याख्या—संकल्पो वितर्कः।

१०. =[द्वयोस्तद्द्वयवर्जिताः ।]।

तृतीय और चतुर्थ ध्यान में, प्रीति और संकल्प दोनों का अभाव होता है, ३५ अन्य बोधिपाक्षिक शेष रहते हैं।

७२ सी. ध्यानान्तर में भी।[1]

इन्हीं दो को वर्जित कर यहाँ भी ३५ बोधिपाक्षिक हैं।

७२ सी-डी. तीन आरूप्यों में पूर्वोक्त और शीलांगों को वर्जित कर।[2]

तीन आरूप्यों में सम्यक्वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव का अभाव है—३२ बोधिपाक्षिक शेष रहते हैं।

[२६२] ७३ ए-बी. काम और भवाग्र में, बोध्यंग और मार्गाङ्ग वर्जित हैं।[3] वास्तव में, अनास्रवमार्ग का इन दो स्थानों में अभाव है। अतः २२ बोधिपाक्षिक शेष रहते हैं।[4]

जो पुद्गल बोधिपाक्षिकों की भावना करता है, वह किस क्षण में अवेत्यप्रसादों का, अर्थात् प्रज्ञा सहगत चार प्रकार की श्रद्धा (और शीलविशुद्धि) का लाभ करता है।[5]

---

१. =[ ध्यानान्तरेऽपि ]।

२. परमार्थ—' शील और पूर्व के दो को वर्जित कर तीन आरूप्यों में।"

३. =कामधातौ भवाग्रे च बोधिमार्गाङ्गवर्जिताः।

अभिसमयालंकारालोक में यह पंक्ति उद्धृत है और उसमें यह लेख है। "यह नियम उस श्रावक के लिए है जिसमें उपाय कौशल्य का अभाव है किन्तु बोधिसत्त्व कामधातु में भावना मार्ग का अभ्यास करते हैं।" (व्या० ६०५, २)।

४. यशोमित्र इस प्रश्न की मीमांसा करते हैं कि भवाग्र में कायस्मृत्युपस्थान कैसे करते हैं? वह कहते हैं कि सब व्याख्याकारों ने इसकी उपेक्षा की है। वह व्यवस्था करते हैं—भवाग्र के सत का चित्त अधरभूमि के अनास्रवसंवर (४-१३ बी) का जो रूप है, आलम्बन बनाता है। (व्या० ६०५, ३)।

५. नीचे पृ० २६४ में अवेत्यप्रसाद का अर्थ दिया है।

व्याख्या : चार अवेत्यप्रसाद हैं; बुद्ध में, धर्म में, संघ में अवेत्यप्रसाद और आर्यकान्त शील (बुद्धेऽवेत्यप्रसादो धर्मे संघे च आर्यकान्तानि च शीलानि), यह शैक्ष के चार अंग हैं (नीचे पृष्ठ २५५ देखिये) दीघ, ३·२२७, अंगुत्तर, ४.१०६ आदि···बुद्धे अवेच्चप्पसादेन समन्नागतो होति···धम्मे···संघे···; अरियकन्तेहि सीलेहि समन्नागतो होति···(आस्रव का दृष्टि से पाठभेद, संयुत्त, ५.३०४, जहाँ चतुर्थ के स्थान में यह है। "शीलवान् और कल्याण-धर्म (देय्यधम्म) दो धर्म का संविभाग लेते हैं।" शुआन चाङ्, "सूत्र में उक्त है कि चार अवेत्यप्रसाद हैं—बुद्ध में, धर्म में, संघ में, आर्यशील में।"

चाइल्डर्स; मज्झिम, १ ३७, संयुत्त, १ २३२, ५.३८८, पेतवत्थु, ४८; अवदानशतक, २·६२, अष्टसाहस्रिका, ६०; धर्मस्कन्ध, ३ (तककुसु, जे पी टी एस, १६०५, पृ० ११२); महाव्युत्पत्ति, २४५, ४१६; मध्यमकवृत्ति, ४८७—बोगिहारा बुद्धसासने अवेच्चप्पसन्न वाक्य

७३ सी-७४. जब सत्य त्रय का अभिसमय होता है, तब शील का सत्य और धर्म में अवेत्यप्रसाद का लाभ होता है—जब मार्ग का अभिसमय होता है, तब बुद्ध और उनके श्रावक संघ में भी अवेत्यप्रसाद का प्रतिलाभ होता है।[1]

[२६३] सत्यत्रय का अभिसमय होने पर (६'२७) धर्म में अवेत्यप्रसाद, और आर्य-कान्त[2] अनास्रव शील का लाभ।

मार्ग सत्य का अभिसमय होने पर बुद्ध और उनके श्रावक संघ[3] में अवेत्यप्रसाद। 'आर्य' शब्द यह ज्ञापित करने के लिए है कि शील और धर्म में धर्म अवेत्यप्रसाद, और शील का भी लाभ होता है।

बुद्ध में प्रसाद, बुद्धकारक अशैक्ष धर्मों में प्रसाद है, इस प्रकार संघ से अर्थ संघ-कारक शैक्ष और अशैक्ष धर्मों से है (४.३२) किन्तु 'धर्म में अवेत्यप्रसाद' इस वाक्य में धर्म से क्या अभिप्रेत है?

७४ सी-७५ ए. धर्म सत्यत्रय प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्त्व का मार्ग है।[4]

---

उद्धृत करते हैं और हरिभद्र की विवृति (अष्टसाहस्रिका, ५६)—अवेत्यप्रसाद=अवगम्य गुणसम्भावनापूर्वकः प्रसादः।

१. त्रिसत्यदर्शने शीलधर्मावेत्यप्रसादयोः ॥
लाभो मार्गाभिसमये बुद्धतत्संघयोरपि।

शुआन चाङ् कहते हैं, "सूत्र में उक्त है कि चार अवेत्यप्रसाद हैं—बुद्ध में, धर्म में, संघ में, आर्यशील में"। हम कह सकते हैं कि शील में अवेत्यप्रसाद होता है क्योंकि प्रसाद =विशुद्धि है (नीचे पृ० २६५ टि० १)। किन्तु परमार्थ और तिब्बती भाषान्तर प्रदर्शित करते हैं कि कारिका का यह अर्थ लेना आवश्यक नहीं है कि "शील और धर्म में अवेत्यप्रसाद का लाभ"।

२. यह तीन सत्य धर्म हैं; यह न बोधि हैं न संघ; अतः इन सत्यों के दर्शन से दो प्रसादों का लाभ नहीं होता।

३. मार्ग का सत्य बुद्ध और संघ हैं। बुद्ध में प्रसाद यह ज्ञान है कि यह तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध विद्याचरण सम्पन्न है, बुद्ध संघ में संगृहीत नहीं है (७.२८ पर टिप्पणी देखिये)। बोधिसत्त्व और प्रत्येक संघ में संगृहीत नहीं है, क्योंकि बहिष्कार्य हैं। बहिष्कार्य लोक का त्याग करते हैं। संघ के लिए चार पुद्गलों की आवश्यकता है। (सोङ् चु और युअन हुए के अनुसार)।

४. धर्मः सत्यत्रयं [बोधिसत्त्वप्रत्येकबुद्धयोः। मार्गश्च]।

धर्म, वाक्यभेद से, धर्मरत्न का अर्थ फलधर्म है=यह निर्वाण है (४-३२, ७.३८)। यहाँ धर्म से प्रथम तीन सत्य अभिप्रेत हैं। शैक्षावस्था में बोधिसत्त्व का अनास्रवमार्ग अभिप्रेत है; शैक्ष और अशैक्ष अवस्था में प्रत्येक का मार्ग अभिप्रेत है। बुद्ध और श्रावक (संघ) के

[२६४] अतः चार सत्यों का अभिसमय होने पर धर्म में अवेत्यप्रसाद का लाभ होता हैं।[1]

अतः प्रसाद के अधिष्ठान भेद के कारण, वाक्य भेद से चार त्रिशरणगमन, अतः चार सत्यों का दर्शन प्रसाद है।

७५ ए-बी. द्रव्यतः, यह चार दो द्रव्य हैं—श्रद्धा और शील।[2]

बुद्ध, धर्म और संघ में अवेत्यप्रसाद स्वभाववश श्रद्धा है। आर्यकान्त, शील, स्वभाववश शील हैं। अतः दो द्रव्य हैं। यह दो द्रव्य सास्रव और अनास्रव हैं?—अवेत्य-प्रसाद एकान्ततः

७५ बी. निर्मल हैं।[3]

अवेत्यप्रसाद शब्द का क्या अर्थ है? सत्यो के यथार्थ अभिसमय के अनन्तर श्रद्धा है। सत्य दर्शन से व्युत्थित हो आर्य जिस क्रम से सत्यों का सम्मुखीभाव करता है, वही अवेत्यप्रसाद का आनुपूर्व है। व्युत्थित हो वह उनका सम्मुखीभाव कैसे करता है?—"अहो! भगवत् सम्यक् सम्बुद्ध है! उनका धर्म-विनय स्वाख्यात है! उनका श्रावकसंघ सुप्रतिपन्न है!" इस प्रकार उनको सम्मुख करते हैं क्योंकि बुद्ध धर्म संघ यथाक्रम वैद्य होने पर भैषज्य, उपस्थापक, स्थानीय हैं।

[२६५] क्योंकि शील[4]प्रसाद, चित्तप्रसाद[5] कृत है इसलिए इसे अन्त में चतुर्थ कहा है—जब चित्त इस प्रकार प्रसन्न होता है तभी वह आर्यकान्त शील से समन्वागत होता है। अथवा शीलप्रसाद अन्त में उक्त है, क्योंकि बुद्ध, धर्म और संघ के वैद्य, भैषज और उप-

---

मार्ग धर्म में संगृहीत नहीं है क्योंकि इन मार्गों का अभिसमय होने पर बुद्ध और संघ में ही प्रसाद का लाभ होता है। शुआन-चाङ का अनुवाद—प्रसादालम्बन धर्म द्विविध हैं—सामान्य अर्थ, विशेष अर्थ। सामान्य अर्थ में धर्म, चार सत्य हैं; विशेष अर्थ में धर्म, त्रिसत्य तथा प्रत्येक और बोधिसत्त्व के मार्ग। अतः चार सत्यों की प्राप्ति के साथ धर्म में प्रसाद का लाभ होता है। आर्यकान्त शील सत्यदर्शन के साथ हैं।

१. वास्तव में, मार्ग सत्य का अभिसमय होने से अर्थ प्रत्येक बोधिसत्त्व मार्गभूत धर्म प्रवेश का अभिसमय करता है।

२. =[ द्रव्यतस्तु द्वे श्रद्धा शीलं च ]।

३. =[ निर्मलाः ]।

४. शीलप्रसाद—शीलम् एव प्रसादः। शीलस्य वा प्रसादोऽनास्रवत्वम्। यहाँ प्रसाद का अर्थ विशुद्धि है, श्रद्धा नहीं (व्या० ६०६, २०)।

५. चित्तप्रसादकृतः शीलप्रसादः—चित्त प्रसाद त्रिसर्ग है :—

सम्यक्सम्बुद्धो बत भगवान्। स्वाख्यातोऽस्य धर्मविनयः। सुप्रतिपन्नोऽस्य श्रावकसंघः (व्या० ६०६, १८)।

स्थापक, स्थानीय होने से शीलप्रसाद आरोग्यभूत है। अथवा क्योंकि बुद्ध शैक्षिक है, धर्म मार्ग है, संघ सार्थिक इष्ट है इसलिए आर्यकान्त शील यान तुल्य है।

सूत्र के अनुसार शैक्ष आठ अंगों से समन्वागत है; यह अंग मार्ग के आठ शैक्ष अंग हैं (मार्गाङ्ग) 'शैक्षी''—सम्यग् दृष्टि'''शैक्ष सम्यक्समाधि (ऊपर पृ० २८१); अशैक्ष दस अंगों से समन्वागत होता है, यही आठ अशैक्ष अंग ''अशैक्ष''—अशैक्षी सम्यग्दृष्टि''', तथा अशैक्षी सम्यग्विमुक्ति और अशैक्ष सम्यग् ज्ञान, अर्हत् की सम्यग्विमुक्ति और इस विमुक्ति के लाभ का ज्ञान (सम्यग्विमुक्तिज्ञान, ६.७६ डी देखिये)।[1]

सूत्र में सम्यग्विमुक्ति वचन और सम्यग्विमुक्ति ज्ञान वचन शैक्ष के लिए क्यों नहीं हैं?

७५ सी-डी. बद्ध होने से विमुक्ति को शैक्ष का अंग नहीं कहा है।

शैक्ष क्लेश बन्धन से बद्ध होने के कारण बद्ध हैं। उसे विमुक्त[2] कैसे मान सकते हैं? प्रादेशिक रूप से विमुक्त पुद्गल विमुक्त नहीं कहलाता।

[२९६] विमुक्ति का अभाव होने से उसको यह ज्ञान नहीं हो सकता कि मैं विमुक्त हूँ (विमुक्तोऽस्मीति ज्ञानदर्शनम्, महाव्युत्पत्ति, ८१,९)।

इसके विपर्यय अशैक्ष संकल्प बन्धनों से आसन्निक रूप से विमुक्त है—अतः वह क्लेश विमुक्त और क्लेश विमुक्त के प्रत्यात्म ज्ञान से (विमुक्तिप्रत्यात्मज्ञान)[3] प्रभावित (=प्रकर्षित) है—अतएव केवल अशैक्ष के लिए इस वचन का होना सम्यग्विमुक्ति और विमुक्तिज्ञान इसके अंग हैं, न्याय है।[4]

विमुक्ति का क्या अर्थ है?

७५ डी. विमुक्ति द्विविध है।[5]

यह संस्कृत और असंस्कृत है (विभाषा, २८, १७)।

७६ ए-बी. क्लेश जय असंस्कृत विमुक्त है, अधिमोक्ष संस्कृत विमुक्त है।[6]

---

१. संगीतिपर्याय, दस धर्मप्रकरण—यह अंगुत्तर, ५-२२२ (संयुत्त, ३.८३) के असेखिय धर्मों की सूची है जहाँ सम्यग्ज्ञान सम्यग्विमुक्ति पूर्व उक्त है—महाव्युत्पत्ति, १९९, ६४ का सम्यग्ज्ञान विच्छिन्न नहीं है।

२. =[बद्धत्वान् नोक्ता विमुक्तिरंगं शैक्षस्य]।

३. क्लेशेभ्यो विमुक्तोऽस्मीति प्रभावितः प्रकर्षिता इत्यर्थः (व्या० ६०७, ३)।

४. तस्यैवाशैक्षस्य तद् वचनम् (=विमुक्तिवचनं विमुक्तिज्ञानवचनं च) न्याय्यम् (न शैक्षस्य)।

५. =[सा द्विधा ॥] पटिसम्भिदामग्ग, २.१४३ से तुलना कीजिए।

६ असंस्कृता क्लेशहानम् अधिमोक्षस् [तु] संस्कृता।

क्लेशों का प्रहाण (अर्थात् प्रतिसंख्यानिरोध, २ पृ० २७८) असंस्कृत विमुक्त है।

अशैक्ष का अधिमोक्ष संस्कृत विमुक्त हैं।[1]

७६ बी-सी. यह अन्त्य अंग है।[2]

यह संस्कृत विमुक्ति है जो अशैक्ष का अंग कहलाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि आदि अंग संस्कृत हैं।

[२९७] ७६ सी. यही विमुक्तियाँ द्विविध हैं।[3]

यही संस्कृत विमुक्ति, सूत्र में ( संयुक्त, ३, ६) द्विविध कहा गया है—चेतोविमुक्ति और प्रज्ञाविमुक्ति [ रागविराग से (रागविरागात्), चेतोविमुक्ति; और अविद्या विराग से, ( अविद्याविरागात् ) प्रज्ञाविमुक्ति]; यही विमुक्तिस्कन्ध भी है।[4] [१८ ए]

---

१. व्याख्या—अधिमोक्षः संस्कृता विमुक्तिरिति धात्वर्थैकत्वात्।

वसुबन्धु के मत से अधिमोक्ष विमुक्ति नहीं है किन्तु छन्द वीर्यादि है जिसका नीचे पृ० २९७ टि० ४ में उल्लेख है।

अधिमोक्ष पर, कोश, २.२४ (अनुवाद पृ० १५३ जहाँ अधिमुक्ति प्रयाणवश है), ८.३० (व्या० ६०७, ५)।

२. =[सांगम्]।

३. =[सैव विमुक्ती द्वे]।

दो विमुक्ति, विभाषा, ९४, ८, संयुक्त, ८, ८; पुग्गलपञ्ञत्ति, २७, ३५, ६२; महावस्तु, २.१३९, ६। प्रज्ञा विमुक्त पर, ऊपर ६.६४ ए। चेतोविमुक्त का लक्षण, ७.११ डी (शुआन चाङ् २६.७ ए)।

ब्रह्मविहारों को चेतोविमुक्ति कहा है, अंगुत्तर, १.३८, विभंग, ८७ इत्यादि कथावत्थु, ३.४, निकायान्तरियों का मत है कि योगी ध्यान द्वारा विष्कम्भक विमुक्ति से मुक्त होता है। इस प्रकार विमुक्त हो मार्ग काल, चित्त समुच्छेद विमुक्ति से (समुच्छेदविमुक्ति) विमुक्त होता है।

४. व्याख्या में ५ स्कन्ध परिगणित हैं जो दीघ, ३.२७९, २७९, इतिवुत्तक, १०४, के धम्मस्कन्ध हैं—शील, समाधि, पञ्ञा, विमुत्ति विमुत्तिञाणदस्सन है। यह धर्मसंग्रह, २३ के लोकोत्तरस्कन्ध हैं, महाव्युत्पत्ति, ४ के असमसमाः स्कन्ध (बुद्धभूमि सूत्र के अनुसार इसमें धर्मधातुविशुद्धि और जोड़िये) हैं, इन्हें अनास्रवस्कन्ध भी कहते हैं; त्रिग्लॉत (Triglotte) का जिनस्कन्ध (व्या० ६०७, ११)।

किन्तु एक दूसरे मत के अनुसार[१] यदि विमुक्तिस्कन्ध अधिमोक्ष मात्र है, तो सूत्र का क्या व्याख्यान है ? सूत्र में उक्त है ।[२]

[२९८] हे व्याघ्रबोधायन ! विमुक्ति परिशुद्धि का प्रधान क्या है ?

एक भिक्षु का चित्त राग से विरक्त विमुक्त है, इस भिक्षु का चित्त द्वेष से, मोह से विरक्त, विमुक्त है । इस प्रकार आधारपूर्ण विमुक्तिस्कन्ध ही परिपूरि के लिए अथवा परिपूर्ण विमुक्तिस्कन्ध के अनुग्रह के लिए जो छन्द, जो वीर्य चाहिए वह प्रधान कहलाता है ।

इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि अधिमोक्ष विमुक्ति नहीं है—तथा ज्ञान से रागादि के अपनीत होने पर चित्त का जो वैमल्य (अनास्रवत्व) होता है, यह वही है ( तत्त्वज्ञान )[3] ।

सम्यग्विमुक्ति का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

सम्यग्दृष्टि से अन्य सम्यग्ज्ञान क्या है ?

७६ डी. तथोक्त बोधि ज्ञान है ।[४]

तथोक्त बोधि अर्थात् क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान (६. ६७ ए-बी.) सम्यग्ज्ञान है । यह अशैक्ष का दसवाँ अंग है ।

कौन-सा चित्त—अतीत, अनागत या प्रत्युत्पन्न—विमुक्त होता है (विमुच्यते) ?

---

१. वसुबन्धु का मत (व्याख्या) । (व्या० ६०७, २७) ।

२. सूत्र (संयुक्त, २१, १०) इस प्रकार आरम्भ होता है, "हे व्याघ्रबोधायन ! परिशुद्धि के चार प्रधान हैं—शील परिशुद्धि प्रधान, समाधि परिशुद्धि प्रधान···दृष्टि··· विमुक्ति ।"

चत्वारीमानि व्याघ्रबोधायना: परिशुद्धिप्रधानानि । कतमानि चत्वारि । शीलपरिशुद्धिप्रधानं समाधिपरिशुद्धिप्रधानं दृष्टिपरिशुद्धिप्रधानं विमुक्तिपरिशुद्धिप्रधानं च···कतमच्च व्याघ्रबोधायना विमुक्तिपरिशुद्धिप्रधानम् । इह भिक्षो रागाच्चित्तं विरक्तं भवति विमुक्तं द्वेषात् मोहाद् विरक्तं भवति विमुक्तमिति अपरिपूर्णस्य वा विमुक्तिस्कन्धस्य परिपूरये परिपूर्णस्य वानुग्रहाय यश्छन्दो वीर्यम्···

तीन प्रश्न, तीन उत्तर—(१) विमुक्ति—यह रागादि से विमुक्त है; (२) विमुक्ति-परिशुद्धि, यह विमुक्ति का परिपूरि और अनुग्रह है; (३) विमुक्तिपरिशुद्धिप्रधान—यह छन्दादि है । अंगुत्तर, २.१९४, में जहाँ आनन्द व्यग्घपज्जों की पारिसुद्धिपधानियंगों का व्याख्यान करते हैं, पाठ भेद है, यहाँ सूत्र, कोश, ८-१ में है ।

३. और चित्त की परिशुद्धि चित्त से भिन्न नहीं है—

घृतमण्डस्वच्छतावत् ।

४. =ज्ञानं बोधिर्यथोदिता ॥

७७ ए-बी. अशैक्ष चित्त आवरण से विमुक्त होता है ।[1]

[२६६] शास्त्र [ ज्ञानप्रस्थान, १५, २० ) में कहा है,—"अनागत अशैक्ष चित्त विबन्ध से मुक्त होता है ।"[2]

---

१. =[विमुच्यते जायमानं चित्तम् अशैक्षम् आवृतेः ।] ।
(परमार्थ के शब्दों का क्रम) ।
"जायमान" चित्त अनागत है ।
आवरण, आवृति पर, कोश, २ अनुवाद पृष्ठ २०१, ६-६४ ए-बी, ६५ बी-डी ।

२. ए. न्यायानुसार (२३.६, ४८ ए १०, विभाषा २७, १२ के आधार से, किओकुगा द्वारा उद्धृत, कोश २५, १८ ए ६); शास्त्राचार्य (अभिधर्म के आचार्य) कहते हैं : "यह विरक्त चित्त है जो विमुक्त होता है ।" विभज्यवादी कहते हैं : "यह सराग चित्त है जो विमुक्त होता है । जैसे समल पात्र धोने से मल त्याग करता है, जैसे स्फटिक मणि आवरण के विविध रंगों से रंग ग्रहण करती है, ऐसे ही विशुद्ध चित्त, राग से दूषित होता है अतएव सराग कहा जाता है और बहुत विलम्ब से शुद्ध होता है । आर्य देशना का कथन है कि चित्त स्वभावतः शुद्ध होता है : कभी वह क्लेश या आगन्तुक मल से दूषित हो जाता है ।" यह मत शुद्ध नहीं है, क्योंकि धर्म क्षण-क्षण बदलते हैं । हम पात्र को मल शुद्ध नहीं करते, किन्तु मल पात्र के साथ क्षण प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं ।

कथावत्थु, ३.३ के अन्धक वही हैं जो विभज्यवादी हैं ।

यह सराग चित्त है जो राग से विमुक्त होता है । "जैसे मलिन वस्त्र धोया जाता है, वैसे ही सराग चित्त राग से विमुक्त होता है" (सरागं चित्तं सरागतो विमुच्चति) ।

बी. तुलना कीजिए अंगुत्तर, १·१० (१.२५५, २५७, ३.१६) : पभस्सरम् इदं भिक्खवे चित्तं तं च खो आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठम्···पभस्सरम् इदं भिक्खवे चित्तं तं खो आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि विपमुत्तम् । वे इसे इस प्रकार समझते हैं : चित्त स्वतः शुद्ध है; पर वह आगन्तुक मलों से, आगन्तुक क्लेशों से मलिन हो जाता है, पर वह इन मलों से विशुद्ध हो जाता है । महासांघिक (एक व्यावहारिक); वसुमित्र के अनुसार, कहते हैं कि "चित्त शुद्ध है"; तिब्बती भाषान्तर के अनुसार (जिससे चीनी अनुवादक व्यावृत्त होते हैं, नञ्जियो, १२८४), यह उनका नवां असंस्कृत है (इस विषय में मेरे Corrigez के पृ० ६५, १८६ की टिप्पणियों को शोधिये) ।—कोश, ५ अनुवाद पृ० ४—बोधिचर्यावतार, ६.१०६ ।

बुद्धघोष (अत्थसालिनी, १४०) का कहना है कि चित्त परिशुद्ध है (परिसुद्धट्ठेन पंडरम्) क्योंकि यह भवंग है, अर्थात् श्रीमती रीज डेविड्स का 'अवचेतन जीवन-संतान' (सबकांशस लाइफ-कण्टीनुअम) । सर्वचित्त अकुशल भी परिशुद्ध है क्योंकि यह भवंग से निष्क्रान्त (निक्खन्त) है । भवंग पर, विसुद्धि, पस्सिम, कम्पैण्डियम, ६,२६६, नेत्तिपकरण, ६१,

यह विबन्ध क्या है ?—क्लेशों की प्राप्ति (भवाग्र के क्लेशों के नव प्रकार) जो वस्तुतः

[३००] अशैक्ष चित्त की उत्पत्ति के विबन्ध हैं। वज्रोपमसमाधि के क्षण से (६. ४४ सी.डी.) [१८वी], इस प्राप्ति का त्याग होता है और अशैक्ष चित्त उत्पन्न और विमुक्त हो जाता है। जब इस प्राप्ति का त्याग हो गया तब अशैक्ष चित्त उत्पन्न हुआ और विमुक्त हो गया।

जो वज्रोपम काल में उत्पद्यमान नहीं है या जो लौकिक चित्त अशैक्ष सन्तान में उत्पन्न होता है, उसके विषय में आप क्या कहेंगे ?[1] यह दो चित भी विमुक्त होते हैं; किन्तु उस अनागत अशैक्ष चित्त के लिए शास्त्र कहता है कि जो नियत रूप से उत्पादाभिमुख ( नियतमुत्पत्तौ=उत्पादाभिमुखम्) है।[2]

अशैक्ष का लौकिक चित्त किससे विमुक्त होता है ? उसी क्लेश प्राप्ति से, जो उसकी उत्पत्ति में आवरण है।

किन्तु क्या इस लौकिक चित्त का उत्पाद शैक्ष में नहीं होता और आप यह नहीं कहते कि यह विमुक्त होता है ? लौकिक शैक्ष-चित्त अशैक्ष चित्त के सदृश नहीं है; क्योंकि यह क्लेश आप्त के सहित नहीं है।

यह कौन मार्ग है—अतीत, अनागत या प्रभुतन्त्र—जिससे अशैक्ष चित्त की उत्पत्ति का विबन्ध प्रहीण होता है ?

७७.सी-डी. यह निरुध्यमान मार्ग है जो आकृति का परित्याग करता है।[3]

निरुध्यमान अर्थात् वर्तमान।

---

मिलिन्द, ३००, में इनका उल्लेख है और इनकी आलोचना श्रीमती रीज़ डेविड्स, Quest Review, १९१७, अक्टूबर, पृ० १६, बुद्धिस्ट साइकालोजी, १७१, १७८ (१९१४), २३३ (१९२४), धम्मसंगणि का अनुवाद, ३, १३२, १३४।—निर्वान (१९२५), ३९, ६६।

अंगुत्तर के परिशुद्ध चित्त और लंका के तथागत गर्भ में दूर का सम्बन्ध है। तथागत गर्भ परिशुद्ध है, यह रत्न सदृश है जो मल का आच्छादन करता है, यह संसरण करता है किन्तु मनस संसरण नहीं करता।

१. यर्त्ताह नोत्पद्यमानम् (=यद् अनागतं वज्रोपमसमाधेरनन्तरं न भवति) अशैक्षमेव लौकिकं वा (=अशैक्षसन्तान एव यल्लौकिकम्)।

२. यत्तु नियतमुत्पत्तौ तदेवोक्तम्=यद् उत्पादाभिमुखम् अनागतं तद् एवोक्तं शास्त्रे विमुच्यत इति। तद् विमुच्यमानतया सूपलक्ष्यत्वाद् इति अभिप्रायः (व्या० ६०७, ३१)।

३.=निरुध्यमानमार्गस्तु प्रजहाति तदावृतिम्॥

निरुध्यमान=निरोधाभिमुख।

शास्त्र में और इस ग्रन्थ में असंस्कृत विमुक्ति (६.७६ ए.) उक्त है। दूसरी ओर सूत्र[1] और शास्त्र में

[३०१] तीन धातु-प्रहाणधातु, विरागधातु, निरोधधातु उक्त हैं। असंस्कृत विमुक्ति और इन तीन धातुओं में क्या सम्बन्ध है ?

७८ ए. असंस्कृत विमुक्ति को धातु की संज्ञा देते है।[2]

यहाँ विमुक्ति धातु त्रय हैं।

७८ बी. विराग रागक्षय है।[3]

राग का प्रहाण विराग धातु है।

७८ सी. दूसरों का क्षय प्रहाणधातु है।[4]

राग से इतर क्लेशों का प्रहाण प्रहाणधातु है।

७८ डी. वस्तु का क्षय निरोधधातु कहलाता है।[5]

क्लेश प्रहाण को वर्जित कर सास्रव रूपादि, वस्तु का प्रहाण, निरोधधातु है।

जिन धर्मों से वैराग्य का लाभ होता है (विरज्यते) क्या उन्हीं से निर्वेद का लाभ होता है (निर्विद्यते) ? चार कोटि हैं—कैसे ?

---

१. संयुक्त, १७, ८, दीर्घ, ८, ११—निर्वाण (१९२५) पृ० १६२-१६३ में एक टिप्पणी।

२. =[असंस्कृता धातुरिति]।

३. =विरागो रागसंक्षयः (व्या० ६०८, १३)।

जब भेद करने की विवक्षा होती है तब इस प्रकार कहते हैं; किन्तु विराग का अर्थ प्रहाण है। भेदविवक्षायामेवमुच्यते। अभेदविवक्षायां तु यो विरागस्तत् प्रहाणमप्युच्यते।

भिन्न मत हैं (विभाषा, २९, ६) यथा घोषक के अनुसार प्रहाणधातु=क्लेश प्रहाण, विरागधातु=वस्तु विसंयोग, निरोधधातु=भार का आलय। दूसरों के अनुसार यह यथाक्रम अमनाप वेदना का प्रहाण, मनाप वेदना का प्रहाण, उपेक्षा वेदना का प्रहाण है, अथवा यह यथाक्रम दुःखत्रय (६·३) धातुत्रय, अतीत—वर्तमान-अनागत क्लेश का प्रहाण है। पार्श्व के अनुसार निरोधधातु का अर्थ सन्तान निरोध है।

विभाषा के इस प्रकरण में यह सूत्र उद्धृत है जिसमें आनन्द प्रश्न करते हैं कि वह कौन-से धर्म हैं जिनका अभ्यास भिक्षु को अपनी समापत्तियों में स्थविर होने के लिए करना चाहिए। दो धर्म-शमथ और विपश्यना क्योंकि शमथ वासित चित्त विपश्यना से विमुक्ति का लाभ कर सकता है।—पश्चात् तीन धातुओं के व्याख्यान हैं (व्या० ६०८, १३)।

४. =[प्रहाण धातुरन्येषाम्]।

५. =[निरोध इति] वस्तुनः॥

५·६० और, २ पृ० २८१ देखिये।

[३०२] ७६ ए-बी. क्षान्ति और ज्ञान से दुःख और हेतु से ।[1]

निर्वेद दुःख और समुदय सत्य की क्षान्ति और ज्ञान से ही निर्वेद (६.२५ डी) लाभ होता है, अन्य क्षान्ति और ज्ञान से नहीं ।

७६ बी-सी. सब धर्मों से वैराग्य जिनसे प्रहाण होता है ।[2]

दुःख समुदय निरधि और मार्ग की क्षान्तियों से (दर्शनमार्ग) और ज्ञान से भावना-मार्ग (६. अनुवाद १६१), जिसमें क्लेश का प्रहाण होता है, वैराग्य का भी लाभ होता है ।

७६ डी. अतः चार कोटि हैं ।[3]

(१) दुःख और समुदय की क्षान्ति और ज्ञान से वह केवल निर्वेद का लाभ करता है । यदि योगी क्लेशो का प्रहाण नहीं करता—इन क्षान्तियों और ज्ञानों का आलम्बन केवल निर्वेद वस्तु है ।

(२) निरोध और मार्ग की क्षान्तियों और ज्ञानों से योगी क्लेशों का प्रहाण करता है, अतः वह केवल वैराग्य का लाभ करता है; इन क्षान्तियों और इन ज्ञानों का आलम्बन केवल प्रमोद्यवस्तु है ।

(३) दुःख और समुदय की क्षान्तियों और ज्ञानों से योगी क्लेश का प्रहाण करता है । वह वैराग्य और निर्वेद का लाभ करता है ।

(४) निरोध और मार्ग की क्षान्तियों और ज्ञानों से वह न वैराग्य और न निर्वेद का लाभ करता है, यदि योगी क्लेशों का प्रहाण नहीं करता ।

प्रथम और चतुर्थ कोटि के विषय में हमारा कहना है कि

[३०३] जो वीतराग योगी दर्शनमार्ग में प्रवेश करता है वह धर्मज्ञान क्षान्ति और धर्मज्ञान से क्लेशों का प्रहाण नहीं करता ।[4] पुनः वह प्रयोग, विमुक्ति और विशेष मार्ग (६.६५ बी)[5] संगृहीत ज्ञानों से क्लेशों का प्रहाण नहीं करता ।

---

१. = निर्विद्यते दुःखहेतुक्षान्तिज्ञानैः ।

२. = विरज्यते । सर्वैर्जहाति यैः ।

३. = [एवं चातुष्कोटिकसंभवः] ।।

४. जिसका वह लाभ करता है, वह प्राण नहीं है, जिसे लौकिक मार्ग से उसने पूर्व ही सम्मुख किया है किन्तु अनास्रवा विसंयोग प्राप्ति है (६·४६) इसके विपर्यय वीतराग योगी अन्वयज्ञानक्षान्ति और अन्वयज्ञान से अवश्य क्लेशों का प्रहाण करता है, क्योंकि लौकिक मार्ग से भवाग्र वैराग्य नहीं होता (६.४५ सी) (व्या० ६०६, ८) ।

५. इन्द्रिय संचारी अवस्थाओं में आनन्तर्य मार्गों से भी क्लेश का प्रहाण नहीं होता (६·६१) ।